# मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य : आधुनिक प्रतिमान

[ हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी. एच-डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ]

१९८९

प्रस्तुतकर्त्री :

कुमारी वनिता वाघ्रे, एम. ए. एम. फिल्

निर्देशक एवं अध्यक्ष

डा. वै. वेंकटरमणा राव

एम.ए. (हिन्दी), एम.ए. (तेलुगु) पी.एच-डी.

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

## SUPERVISER CERTIFICATE

This is to certify that Miss.VANITHA WAGHRAY, M.A.M.Phil is a Bonafied student of the Department of Hindi University of Hyderabad and the thesis entitled "Madhyakaleen Hindi Bhakti Sahitya: Aadhunik Pratimaan" is a Bonafied record of the Reserch work done under my supervision for the award of Ph.D Degree in fulfilment of course.

(Dr.Y.VENKAT RAMANA RAO) 11/5/89

Head of the Dept. Hindi.

Date: 11.5.89

पार्थिव रूप में जिनके वरद हस्त की

छाया असमय हट जाने पर भी

जिनके स्नेहमय आशीर्वाद से

अध्ययन की एक सरणि

पूर्ण हो सकी

उन्हीं त्यागमूर्ति स्वर्गीय

पिताश्री को पुण्य

स्मृति पर

## मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य : आधुनिक प्रतिमान

| अध्याय विवरण | | पृष्ठ संख्या |
| --- | --- | --- |
| 0. | उपोद्घात | 1 - 6 |
| 1. | आधुनिकता आधार और लक्षण | 7 - 41 |
| 2. | भक्ति लोक धर्म | 42 - 66 |
| 3. | भक्ति आंदोलन : आधुनिक अर्थ | 67 - 152 |
| 4. | साध्य : आधुनिक परिप्रेक्ष्य | 153 - 220 |
| 5. | अवतार : साध्य का लोक संदर्भ | 221 - 288 |
| 6. | भक्त कवि : आधुनिक प्रतिमान | 289 - 377 |
| 7. | भक्ति साहित्य : आधुनिक निकष | 378 - 425 |
| 8. | उपसंहार | 426 - 430 |
| 9. | ग्रंथानुक्रमणिका | |

## मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य : आधुनिक प्रतिमान

### विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या


0• उपोद्घात

1• आधुनिकता आधार और लक्षण

0• प्रास्ताविक

1• व्यक्ति चेतना : समष्टि चेतना

1•2 मानव केन्द्र

1•3 विश्वास बनाम तर्क

1•3•1 प्रश्नाकुलता

1•3•2 बौद्धिकता

1•4 आधुनिकता : विमुक्ति

1•5 वर्तमान के प्रति सजगता

1•6 लोक हित

1•7 धर्म निरपेक्षता

2• आधुनिकता : अर्थ और अवधारणा

2•1 त्र्यर्थ

2•1•1 काल सापेक्ष

2•1•2 काल निरपेक्ष

2•1•3 वैचारिक

3• आधुनिकता और इतिहास चेतना

4• मूलभूत दर्शन

4•1 अस्तित्ववाद

4•2 मानववाद

5• परंपरा और आधुनिक

5•1 आधुनिकता विभिन्न प्रत्यय

5•2 आधुनिकता बनाम समसामयिक

5•3 आधुनिकता और नवीनता

5•4 आधुनिकता और प्रासंगिकता

6• आधुनिकता एक वाद

7• आधुनिकता और साहित्य

8• आधुनिकता और वर्तमान

## 2. भक्ति : लोकधर्म

### साहित्यिक परिप्रेक्ष्य (साहित्य की जनवादी भूमिका)

0. प्रास्ताविक
1. लोकधर्म और पुराण
2. भक्ति धर्म : समाजवादी दृष्टि
3. भक्ति और सामान्य जन जीवन
4. साहित्य मूलक रहस्यवाद : नव धर्म : नव सृजन
5. भक्ति धर्म : विशेषता

    5.1 सर्व सुलभ

    5.2 सत्संग ज्ञान प्राप्ति का मार्ग

    5.3 नाम कीर्तन : लोक साधना का रूप

6. भक्ति और अन्य धर्म

    6.1 भक्ति और बौद्ध धर्म

    6.2 भक्ति और जैन धर्म

    6.3 अन्य धर्म

7. धर्म और साहित्य

# ३• भक्ति आन्दोलन : आधुनिक अर्थ

0• प्रास्ताविक

३•1 आरंभिक स्थिति

1•1 आगम परंपरा

1•11 वैखानस : प्रस्थान

1•12 पांचरात्र : आंदोलन का अग्रगामी चरण

३•1•2 भागवत सम्प्रदाय

1•21 सात्वत भागवत धर्म, वेद के प्रति प्रतिक्रिया

1•22 वासुदेव धर्म

३•1•3 पंचम वेद : उपेक्षित वर्ग

1•4 सामाजिक प्रश्न

1•41 नवागन्तुक

1•42 शूद्र और स्त्री

1•43 शूद्र : निम्न वर्ग

३•2 भक्ति आंदोलन : एक नवोत्थान

2•1 भक्ति द्राविड़ उपजी

2•2 भक्ति तत्व

2•3 आंदोलन का नेतृत्व

2•3•1 आचार्य नेता

2•311 रामानुजाचार्य

2•312 मध्वाचार्य

2•3•13 निम्बार्काचार्य

2•3•14 वल्लभाचार्य

3•3 दार्शनिक प्रतिक्रिया

3•4 भक्ति और समाज सुधार

4•1 वर्ण व्यवस्था विरोध

4•12 जाति पाँति

3•5 समन्वय और क्रान्ति की शक्तियाँ

3•6 सामंत और भक्ति आंदोलन

6•1 दमन

6•2 निम्न और दलित वर्ग

3•7 मुसलमान और भक्ति आंदोलन

3•8 परंपरागत दार्शनिक साहित्य और भक्ति मानस

8·1 वेद और संत

8·2 वेद और भक्त

8·3 वेद : पुराण

8·4 उपनिषद : पहला प्रस्थान

8·5 पुराण

3·9 यथास्थिति : व्यवस्था और आंदोलन

3·10 आंदोलन की व्यापकता

10·1 तत्कालीन संस्कृत साहित्य

10·11 साहित्य शास्त्र

10·12 मुक्तक

10·2 लोक भाषा काव्य

10·21 प्राकृत पैंगलम

10·22 दाक्षिणात्य आचार्य और लोक साहित्य

10·3 अन्य ललित कलाओं में भक्ति

3·11 भक्ति आंदोलन : आधुनिक प्रतिमान

# 4• सांख्य : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

0• प्रास्ताविक

4•1 आस्तिकता

4•1•1 प्रमुख विचारक

4•1•11 हीगल ( अलगाव )

4•1•12 ब्रुनो बॉयर

4•1•13 मार्क्स

4•1•14 कांट

4•1•2 द्वन्द्व

4•1•3 आस्तिकता का आधुनिक रूप

4•2 सांख्य विकास की स्थितियाँ

4•2•1 वैदिक स्थिति

(क) इन्द्र प्रधान

4•2•11 वैदिक देववाद : इन्द्र

4•2•12 वरुण

(ख) विष्णु प्रधान

4•2•1 वैदिक विष्णु

2·141 वीर इन्द्र से वीर विष्णु

2·142 सूर्य से विष्णु

2·143 यज्ञ : विष्णु

2·144 इन्द्र : विष्णु (लक्ष्मीपति)

2·145 विष्णु मंगल का देवता

2·146 विष्णु : नारायण

2·147 उर्वरा शक्ति के देव : विष्णु

2·148 वेद में विष्णु पूजा

2·149 भक्त वत्सल : अवतार संकेत

(ग) देव और मानव : संबंध भावना

(घ) मानव रूप देवता

4·2·2 औपनिषदिक स्थिति : संत का साध्य

2·21 ब्रह्म : अद्वैत : मायात्मक परिणति

2·22 अद्वैत तत्व : मायाद्वैतवादी परिणति

2·23 ब्रह्म : निर्गुण और सगुण

2·24 निर्गुण प्रेमावलंबन

2·25 आधुनिक विचारक और संत का साध्य

## 5. अवतार : साध्य का लोक संदर्भ

0. प्रास्ताविक

1. अवतार – प्रयोजन : लोकोन्मुख विकास

2. दशावतार : परंपरा

3. अवतारी : विष्णु

3.1 विष्णु = नारायण

3.2 विष्णु = अन्य रूप

विष्णु से अवतार तक

4.1 अवतार

4.2 निर्गुण संत और अवतार

4.2.1 अवतारवाद की आलोचना

4.2.2 संत साध्य और अवतार वाद

4.2.3 अवतार धारण की क्रिया

4.2.4 कृष्णावतार और संत

4.2.5 युगावतार

4.3 प्रेम गाथा में अवतार

5• रामावतार

5•1 कृषि संस्कृति के प्रतीक

5•2 विष्णु और राम

5•3 आधुनिकता और रामावतार

6• कृष्णावतार

6•1 महाभारत संदर्भ की आधुनिकता

6•2 कृष्ण संदर्भ में आधुनिकता

6•3 गोपालक संस्कृति के प्रतीक

6•3•1 गोपालक कृष्ण : वैदिक सूत्र

6•3•2 आगम परंपरा

6•3•3 गोरक्षक

6•4 सूर के कृष्ण : क्रान्ति के संदर्भ में

6•4•1 वैचारिक क्रान्ति

6•4•2 धार्मिक क्रान्ति

6•4•3 सामाजिक क्रान्ति

6•4•4 आर्थिक क्रान्ति

7• अवतार कार्य : नव भूमियाँ

8• संत : संबंध भावना : अवतार का विस्तार

9• गुरु और अवतार भावना

10• साध्य का स्वभाव और अवतार भावना

## 6. भक्तकवि : आधुनिक प्रतिमान

0. प्रास्ताविक

1. कवि : विभिन्न संधारणाएँ

    1.1 कवि : गौरव

    1.2 कवि : दार्शनिक

    1.3 कवि : जीवन मूल्य

    1.4 कवि की स्वतन्त्रता

    1.5 निर्वैयक्तिकता

2. परिपार्श्व

3. व्यक्तित्व

4. सृजन व्यापार

    4.1 रचना की दिव्य प्रेरणा

    4.2 कवि मानस

        4.2.1 आचार्य मानस और कविमानस

        4.2.2 लोक मानस

        4.2.3 अनुशासित कविमानस

        4.2.4 रसिक मानस

5• युग चेतना

5•1 जाति-पाँति

5•2 जाति - पाँति बनाम मनुष्य

5•3 जाति - पाँति बनाम सद्गुण

5•4 मानव केन्द्रित धर्म

5•5 राजा-प्रजा

5•6 आर्थिक स्थिति : गरीबी

6• क्रांति चेतना

6•1 कवि और सत्ता

7• समन्वय बनाम क्रांति चेतना : लोक नायकत्व

8• कवि और समाज

## 7. भक्ति साहित्य : आधुनिक निकष

0. प्रास्ताविक

1. वस्तु बनाम शैली

    1.1 मूल्यांकन का आधार वस्तु

    1.2 वस्तु रचना

2. काव्यांग और काव्यात्मा

3. सौंदर्य साहित्य : लोक मंगल की भूमिका

4. भाषा, शैली और लोक

5. वस्तु ग्रहण : पाठक का संदर्भ

6. भक्ति साहित्य जन साहित्य

7. साहित्य के आधुनिक प्रतिमान और भक्ति साहित्य

    7.1 मध्यकालीन प्रतिमान

    7.2 आधुनिक प्रतिमान : शुक्ल मानस

    7.3 शुक्लोत्तर प्रतिमान

8. पुनर्मूल्यांकन की संभावनाएँ

# उपोद्घात

## उपोद्घात

मध्यकाल में एक ज्योतिपुंज प्रकट होता है -- भक्ति काव्य । यह प्रकाश पुंज केवल मध्यकाल को ही आलोकित नहीं करता अपितु इसकी किरनें वर्तमान युग को भी छू लेती हैं । मध्यकाल की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरोध में इस साहित्य में न्यूनाधिक रूप में सिर उठाया और प्रगति के सूत्रों को अपनी सीमा और शैली में जगाया । निर्गुणिया संतों ने और प्रमुख रूप से सगुण भक्त कवियों ने आनुषंगिक रूप से कुछ ऐसा कहा है जो मध्य युग की सीमाओं को पार करके आधुनिक मानसिकता से जुड़ने में सक्षम है ।

भक्ति साहित्य राष्ट्रीय प्रवृत्ति का साहित्य है जो मध्यकाल में सारे उपमहाद्वीप पर छा गया था । इसका अपने-अपने ढंग से विभिन्न देश के सर्जकों ने पल्लवन किया था । भारत की सामासिक संस्कृति और दर्शन की गतिशील परंपरा इसकी पीठिका में अनुस्यूत है । ऐसे साहित्य के साथ ही यह समस्या पैदा होती जाती है कि आधुनिक जीवन के लिए इस साहित्य में क्या प्रासंगिकता है और आधुनिक मानस की जिज्ञासा को यह कहाँ तक तृप्त कर सकता है । इसी समस्या ने मुझे यह प्रेरणा दी कि आधुनिकता के प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करके एक निकष तैयार किया जाए ताकि इस साहित्य का कालजयी और मानव केन्द्रित मूल्यांकन हो सके ।

आधुनिकता मनुष्य की सर्वतोमुखी सजगता है "सजगता अपने परिवेश के प्रति होती है, अपने समाज के प्रति होती है, समाज के गंतव्य के प्रति होती है, अपनी क्षमता और अक्षमता के प्रति होती है ।" सच्ची आधुनिकता वर्तमान में खड़ी होकर भविष्य में देखने का उपक्रम करती है । आधुनिक शब्द को दो संदर्भों में देखा जाता रहा है : एक निश्चित कालखण्ड से सम्बद्ध करके और एक निश्चित सामाजिक चेतना और मानसिकता से संबद्ध करके यदि इसके अर्थ को काल खण्ड की सीमाओं में बांध दिया जाता है तो मध्यकाल के साथ इसका कोई भी मेल नहीं खाता । मध्यकाल और आधुनिक काल दोनों परस्पर प्रतिरोधी हैं । किन्तु यदि सार्वभौम मानव की ऐतिहासिक गति और जिजीविषा के साथ रख कर इसे देखा जाए तो लगता है कि आधुनिकता के जो अभिलक्षण स्वीकार किए जाते हैं और जो उसके निर्धारित प्रतिमान हैं वे किसी युग के समाज में परिलक्षित किए जा सकते हैं । इस दृष्टि

से आधुनिकता मनुष्य की वह बेचैनी है जो ठहराव, गत्यवरोध, सामाजिक विषमता, मानवमूल्यों के तिरस्कार और गतिहीनता की परिस्थिति में पैदा होती है और मानव की चेतना इनकी पुर्नप्रतिष्ठा के लिए समाज की पुनर्रचना में प्रवृत्त होती है । इसमें संदेह नहीं कि यह सब भक्तिकालीन कवि मानस और उसके सर्जन में घटित हुआ पर इस साहित्य पर काल के धब्बे नहीं लगे ।

यही प्रेरणा प्रस्तुत शोध प्रबंध का प्रस्थान बिन्दु है । यही वह संगम है जहाँ गतिरोध के विरूद्ध प्रगति की शक्तियाँ उठ खड़ी होती हैं और उनकी विजय एक साहित्यिक सांस्कृतिक तीर्थराज की सृष्टि करती है । वैसे भक्ति साहित्य की धाराएँ और उपधाराएँ एकाधिक हैं किन्तु उन सभी का मूल स्वर समान है । सभी वैष्णव प्रतीक है और वैष्णव की परिभाषा यह है - " वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणेरे " और कबीर का स्वर भी इससे आ मिला - " जे पर पीर न जानहि ते कापिर बे पीर । वास्तव में भक्ति साहित्य का मूल्य प्रत्यय यह है कि जो पीड़ितों और दलितों की पीड़ा को समझता है और इससे उसकी सारी चेतना द्रवित ही नहीं क्रांतिशील हो जाती है वही संत है देवता है और यदि भगवान है तो उसकी प्रकृति भी यही है - वह दीन बंधु है, दीनानाथ है । बस, यही प्रत्यय विभिन्न परिणतियाँ लेता हुआ भक्ति साहित्य की भूमिका बनाता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय " अनुप्रयोग " की प्रकृति का है अर्थात् आधुनिकता से संबंधित संधारणाओं और सिद्धांतों का अनुप्रयोग करके भक्ति साहित्य के संबंध में निष्कर्ष निकाले गए है । आधुनिकता संबंधी लक्षण साहित्य भी इधर विकसित हुआ है इसकी परंपरा चाहे पुरानी न हो किन्तु इसके लक्षण मानव के सामाजिक जीवन के साथ ही विकसित हुए हैं । इस अनुप्रयोग की प्रक्रिया में किसी भी दुराग्रह या पूर्वाग्रह से बचने का पूरा प्रयास किया गया है । वैसे स्फुट रूप में इस प्रकार के कार्य होते रहे हैं । प्रस्तुत प्रयास उनका एक नियोजित रूप है जिसमें दृष्टि की नव्यता है और साहित्य के एक विशेष युग के वैज्ञानिक पुनर्मूल्यांकन का प्रयास है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की अध्याय योजना की रूप रेखा इस प्रकार है --

प्रथम अध्याय में " आधुनिकता के प्रत्यय को स्पष्ट कर प्रबंध की सैद्धांतिक पीठिका प्रस्तुत की गई है । इसमें आधुनिकता के अर्थ और अवधारणा को स्पष्ट किया गया है । निरन्तरता मृत परंपराओं, अंधविश्वासों के प्रति बौद्धिक असहमति, बौद्धिकता और तर्क बुद्धि के संबंध की स्वीकृति, परिवर्तन शीलता, क्रान्ति चेतना, उपयोगिता, मुक्ति की तलाश, सजगता कथ्य की संक्षिप्त, लोक भाषा का प्रयोग, यथार्थ के प्रति पूर्णत: संसक्ति, अपने पर और अपने अधिगम्य पर अखण्ड विश्वास व्यक्ति की स्वतन्त्रता लोकहित आदि जैसे आधुनिकता के विशिष्ट प्रतिमानों को अभिलक्षित किया गया है । साहित्य वही श्रेष्ठ माना जाता है, जिसके द्वारा व्यष्ठि चेतना समष्टि की ऊँचाइयों तक आरोहण कर सके अर्थात् चेतना अपना रागात्मक विकास करके संतुष्ट हो सके । दूसरी विशेषता यह है कि मानव सत्य की साहित्य में पूर्ण प्रतिष्ठा हो । चण्डी दास ने कहा था कि मानव सत्य ही सर्वोपरि है और महाभारतकार का भी यही मत रहा है । किन्तु यह प्रक्रिया कठिन होती है कभी साहित्य इन सब के नाम पर अभिजात वर्ग की भूल भूलैयों में उलझ जाता है और कभी सब कुछ रहस्य अतीन्द्रिय हो उठता है । अरूप की खोज में सामाजिक सरोकार छूट जाता है / खो बैठता है । भक्ति साहित्य मानव सत्य को और रहस्यानुभूति को भी सामाजिक प्रामाणिकता प्रदान करता है । धर्म रूढ़ि मुक्त होकर गतिशील और लोकोन्मुख हो जाता है । इन सबको स्पष्ट करने के लिए आधुनिकता के अन्य लक्षणों और उपलक्षणों के स्पष्टीकरण को प्रस्तुत अध्याय समर्पित है ।

द्वितीय अध्याय में उस धर्म की चर्चा की गई है जो भक्ति साहित्य का प्रागतत्व है । धर्म जब उच्च वर्गीय निहित स्वार्थों का साधन बन जाता है तब उसकी गति वृत्ताकार होकर दिशाहीन हो जाती है । समाजवादी चिंतक यह मानते हैं कि धर्म की इस सीमा को तोड़ने के लिए प्रथम उसे रहस्यात्मक चरित्र दिया जाता है और फिर भी लोक मानस और लोक जीवन के जीवंत तत्वों को ग्रहण करके धर्म को इस प्रकार अनुप्राणित किया जाता है कि धार्मिक गत्यवरोध समाप्त हो जाए । ऊपर से देखने में भक्ति साहित्य एक धार्मिक आंदोलन का भाग मालूम पड़ता है किन्तु वास्तविकता यह है कि यह एक ऐसा धर्म केन्द्रित आंदोलन है जो लोक और समाज के प्रति भी सचेत है । इस अध्याय का यही प्रतिपाद्य है ।

तृतीय अध्याय में उस भारत व्यापी आंदोलन की संरचना को स्पष्ट किया गया है जिसने मध्यकालीन पुनर्जागरण की भूमिका बनाई । संभवत: भारत का कोई धर्म ऐसा नहीं बचा जो अपने-अपने ढंग से भक्तिमय न हो गया हो । जन जातियाँ, बाहर से आई जातियाँ और मुसलमान तक एक सीमा तक भक्ति आंदोलन द्वारा प्रतिष्ठित जन धर्म में सम्मिलित हुए । जहाँ लोक मानस की अनुकृतियाँ इस आंदोलन के ताने बाने में हैं वहाँ एक आचार्य मानस भी है जो भारत की प्रतिनिधि दार्शनिक धाराओं के माध्यम से इस नवोदित धर्म की व्याख्या करता है । प्रस्थानत्रयी इस लोक धर्म को सैद्धांतिक प्रामाणिकता प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त करती है । प्रस्तुत अध्याय में इसी लोक धर्म के विभिन्न आयामों का आकलन किया गया है ।

भक्ति आंदोलन की आस्तिकता और उसकी सामाजिक परिणति को चतुर्थ अध्याय में उजागर किया गया है । आस्तिक दर्शनों में तत्व की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है । भारत में भी इसकी लम्बी परंपरा मिलती है और आधुनिक विचारकों ने भी आस्तिकता के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं । इसमें भक्ति साहित्य के साध्य के स्वरूप को दिखाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अनिर्वचनीय तत्व को भक्ति काव्य ने सामाजिक संदर्भ दिया है और इसी संदर्भ में अनाम नामांकित होता है और अरूप रूपायित । संभवत: साध्य का ऐसा स्वरूप प्रगति की किसी धारणा को नहीं काटता ।

पंचम अध्याय में साध्य के अवतार पर विचार किया गया है । अवतार का तात्पर्य है - निरपेक्ष मूल तत्व का समाज की सापेक्षता में आना । निरपेक्ष तत्व वह है जिसकी सामाजिक संभावनाएँ और समाजोन्मुख लीला निस्पंद रहती है । अवतार की धारणा और प्रक्रिया द्वारा मूल तत्व को मानवीय धरातल पर उतार लाना भक्ति काव्य की एक विशेष उपलब्धि है । समाज के संदर्भ में आकार मूलतत्व रंजन और रक्षण की जीवन व्यापी क्रियाओं में परिणति लेता है, यही इस अध्याय का विवेच्य है ।

षष्ट अध्याय में भक्त कवि का व्यक्तित्व केन्द्र में है । भक्त कवि, कवि संबंधी मान्यताओं की परंपरा में एक महत्वपूर्ण कड़ी बन जाता है । उसकी मानसिक संरचना में

आचार्य मानस नारी मानस लोक मानस और रसिक मानस का दुर्लभ सामंजस्य है । यह एक ऐसा अनुशासित मानस है जो काव्य दर्शन और समाज के बीच अभेद उत्पन्न करता है और इन सबका अलगाना प्राय: असंभव हो जाता है । अति विशेष बात यह है कि कवि उच्च वर्गीय आमंत्रण के रूप में छिपे हुए षड्यंत्र को समझता है और राज्याश्रय के प्रलोभन की लहरें उसके व्यक्तित्व से टकरा कर लौट जाती हैं । यही नहीं राज समाज की भर्त्सना करके उसे केवल समाज कहने का साहस भी उसमें है । समन्वय और क्रान्ति की शक्तियाँ इस कवि के व्यक्तित्व में सक्रिय हैं और इनसे अनुप्राणित सर्जन भक्त कवि के अमर व्यक्तित्व का स्मारक है । उसे लगता है कि यह आवाज बाहर से नहीं आ रही, अपितु उसके भीतर ही प्रतिध्वनित हो रही है । लोक और कवि का यह संबंध कभी-कभी ही घटित होता है । इस रूप में भक्त कवि प्रणम्य और उसका साहित्य गेय हो जाता है ।

भक्ति साहित्य कालजयी साहित्य है । भक्ति साहित्य के परवर्ती युगों में भक्तिकालीन काव्य मूल्य किसी न किसी रूप में बने रहे । सप्तम् अध्याय में साहित्य के कालजयित्व की ओर दृष्टि पात किया गया है और यह प्रत्यय स्थापित करने का प्रयास रहा है कि पुरानी सभी कृतियाँ अमान्य और अर्थहीन नहीं हो जाती । बदली हुई अवधारणाओं के समय में भी अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने वाली रचनाओं को भी नई परिभाषाओं और प्रतिमानों में देखा और समझा जा सकता है । जनता के प्रतिनिधि कवियों ने एक प्रकार से ऐसे साहित्यिक प्रजातन्त्र की स्थापना की जिसका उद्देश्य जनहित रहा है । इस अध्याय में यह सब देखकर उपसंहार में निर्णयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिए गए हैं ।

संक्षेप में यही प्रस्तुत प्रबंध की अध्याय योजना है । पद्धति की दृष्टि से यह शोध प्रबंध ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक है । ऐतिहासिक दृष्टि विकास पथ को आलोकित करती है और व्याख्या एक परंपरा को एक विरासत को और एक व्यापक संदेश को आधुनिक प्रतिमानों से जोड़ती चलती है ।

इस शोध प्रबंध की एक सीमा यह है कि इसमें नारी तत्व पर विचार नहीं किया गया है । लगता है इस विचार के बिना आधुनिकता पंगु रह जाती है किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि आधुनिकता के निकष पर खरा उतरने वाला भक्ति साहित्य नारी के संबंध में

अधिक आधुनिक नहीं हो पाता । कुछ छुट-पुट संकेत मिलते भी हैं तो वे किसी प्रमुख प्रवृत्ति के प्रमाण नहीं बनते । इसलिए इस प्रकरण को प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में स्थान नहीं मिला । इसका अर्थ कदापित यह नहीं कि नारी संबंधी आधुनिक दृष्टि भक्ति साहित्य में अप्राप्य है । बस, बात इतनी ही है कि नारी संबंधी रूढ़ियों को कवि ललकार नहीं पाया है ।

इस प्रबंध को आरंभ करने से लेकर अंतिम रूप देने तक कितने ही विद्वानों और उनके ग्रंथों से सहयोग लिया गया है । बहुत सों ने प्रोत्साहन भी दिया है । उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ । मै भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो॰ब्रिजेन्द्र नारायण सिंह जी की आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध यात्रा में अपना प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप. में सहयोग प्रदान किया । विशेष रूप से मैं अपने निर्देशक हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ॰वेंकट - रमणा राव जी की ऋणी हूँ जो प्रत्येक्ष रूप में छाया की भाँति मार्ग दर्शी बने रहे आपके सहयोग से ही इस प्रबंध को यह रूप दिया गया । मुझे भय है कि न जाने उनकी कल्पना के अनुरूप प्रबन्ध बन पाया है या नहीं यदि कुछ कमियाँ है तो मेरी हैं ।

11/5/89

आधुनिकता आधार और लक्षण

## 1. आधुनिकता आधार और लक्षण

1. आधुनिकता : अर्थ और अवधारणा
2. आधुनिकता और इतिहास चेतना
3. मूलभूत दर्शन
4. परंपरा और आधुनिक
5. आधुनिकता एक वाद
6. आधुनिकता और साहित्य
7. आधुनिकता और वर्तमान

0· प्रास्ताविक :-

आधुनिकता एक जटिल धारणा है । अनेक प्रकार से इसकी व्याख्या की गई है -- काल सापेक्ष और काल निरपेक्ष रूप में । यह भी प्रश्न रहा है कि आधुनिकता कोई मूल्य है या प्रवृत्ति । आधुनिकता, वर्तमान और समकालीन के संबंध में अर्थ साम्य भ्रान्ति पर विचार करते हुए इन तीनों को अलगाया भी जाता है । कभी आधुनिकता को मानववाद या जनवाद का पर्याय भी कहा जाता है । आधुनिक, आधुनिकता और आधुनिकीकरण जैसे शब्द भी विचार पथ में आते हैं । इन सूत्रों पर सामान्य रूप से और आधुनिकता को एक जीवन दृष्टि मानने के संबंध में विशिष्ट रूप से विचार हुआ है और इस प्रत्यय को भी जगाने का प्रयत्न किया गया है कि आधु - निकता किसी युग विशेष की एकांत थाथी नहीं है । वह किसी भी युग में और उस युग के साहित्य में लक्षित की जा सकती है । प्राचीन तथा मध्य युग में सब कुछ अना-

धुनिक नहीं था और वर्तमान युग में सब कुछ आधुनिक नहीं है । समाज के विकास के स्तर किसी युग में पूर्णत: समान नहीं मिलते । भक्ति साहित्य पर आधुनिकता के प्रतिमानों और उनसे निर्मित निकष का किस प्रकार व्यवहार करना है और कितना उचित और संभव है यही देखने का प्रयत्न किया गया है । भक्ति साहित्य पर आधुनिकता के प्रतिमानों को व्यवहृत करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मुख्य प्रतिमानों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिपात कर लिया जाय ।

### १· आधुनिकता आधार और लक्षण :-

आधुनिकता के आधार कई हो सकते है जिनके आधार पर आधुनिकता का बोध परिभाषित किया जाता है ।

युग मानस के निर्माण की पृष्ठ भूमि में विद्यमान जीवन परिस्थितियों के प्रति जागरूकता को ही आधुनिकता कहा जाता है । प्रत्येक युग की आधुनिकता भिन्न - भिन्न होती है । क्योंकि जीवन स्थितियों में परिवर्तन होता रहता है । प्रत्येक युग की आधुनिकता अपने पूर्ववर्ती युगों की समस्त परंपराओं को अन्तर्युक्त करके नवीनतम वैज्ञानिक दार्शनिक और सामाजिक उपलब्धियों के आधार पर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना करती है । आज की आधुनिकता उन जीवन मूल्यों की ओर संकेत करती है जो वैज्ञानिक दार्शनिक क्षेत्र में होनेवाले आविष्कारों और तज्जन्य उपलब्धियों के फल स्वरूप आधुनिक मानव के मन में घटित होनेवाली क्रान्तियों और परिवर्तनों की प्रक्रिया में निर्मित हुए हैं ।

जब किसी कृति पर किसी दर्शन के प्रभाव पडने की बात करते हैं तो प्रभाव से तात्पर्य मौलिकता, प्रेरणा और उपयोगिता से ही होता है, अनुकरण से नहीं । प्रभाव में नूतन निर्माण की बलवती प्रेरणा रहती है । वास्तव में विभिन्न प्रभावों को पचाकर उनमें सामंजस्य स्थापित करके प्रस्तुत किया गया प्रभाव ही उत्तम होता है ।

## १• समष्टि चेतना और व्यष्टि चेतना :-

कहा जाता है कि आधुनिक प्रवृत्ति व्यष्टि चेतना और समष्टि चेतना को एक दूसरे में लीन देखती है । कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि व्यष्टि चेतना इतनी उदग्र हो जाती है कि वह समष्टि चेतना में अविभाज्य रूप से विलीन होना स्वीकार नहीं करती । इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि पर बल निक्षेप का क्रम बदलता है । समष्टि या समाज के आयाम पर जब अधिक बल निक्षेप होता है तो इसे आधुनिकता कह दिया जाता है ।

## २• मानव केन्द्र :-

आधुनिक युग की एक और पहचान समग्र विचार धारा का मानव केन्द्रित होना है । विभिन्न परिवेशों में रख कर मनुष्य को देखा समझा और परिभाषित किया गया है । दार्शनिकों ने सूर्य को ब्रह्माण्ड का और मनुष्य को विश्व का केन्द्र माना है । बेसारी ने देवताओं के इतिहास को छोड़कर मनुष्य के इतिहास की रचना की । लियोलार्दो तथा माइकिल इन्जिलों ने परिपूर्ण मनुष्य की कल्पना को जन्म दिया है । ज्ञान को मानववाद के रूप में प्रतिष्ठित किया । मनुष्य की खोज के साथ-साथ जगत की खोज भी हुई है । मनुष्य धर्म से ऊँचा ठहराया गया है । सृष्टि का केन्द्र अब तक ईश्वर था, किन्तु अब मनुष्य बन गया है । इस प्रकार एक धर्म निरपेक्ष तर्क प्रणाली ने आधुनिक युग में मानव की नई व्याख्या प्रस्तुत की है ।

आधुनिकता किसी न किसी रूप में मनुष्य के सामर्थ्य और उसकी गरिमा में विश्वास करता है । जब कभी इस तत्व का समर्थन मिलता है तब हम आधुनिकता के अवतरण की बात करते हैं । जिस मनुष्य की शक्ति और गरिमा आधुनिकता को स्वीकार्य है वह व्यक्ति भाग्यवादी नहीं है । उसे संयोगों की दुनिया में विश्वास

नहीं होता । यह वह मनुष्य है जो द्वन्द्वात्मक, ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रकाश में एक तर्क पूर्ण कार्य कारण संबंध की खोज करता है, और अपने कर्म में विश्वास रखता है ।

आधुनिक युग से पहले समाज की धार्मिक और परामानवीय शक्तियों को सामाजिक जीवन का आधार कहा जाता था । इन्ही के आधार पर समाज की विविध धारणाएँ बनती थीं, किन्तु एक परिवर्तन हुआ जबकि धर्म निरपेक्ष और मानवीय आधारों को प्रस्तावित किया गया । अर्नाल्ड टाइनबी ने इन आधारों पर ही सभ्यता के निर्माण की कोशिश की और आधुनिक काल को मानवीय आधारों पर ही उन्होंने परिभाषित किया । मध्यकाल में सब कुछ धर्म पर आधारित माना जाता है ।

मनुष्य का एक व्यक्ति गत चरित्र भी है और वर्गीय-चरित्र भी, साथ ही जन साधारण के रूप में उसकी स्थिति है । आधुनिकता ज्यों ही आती है त्यों-त्यों मनुष्य का जनसाधारण स्तर का कार्य कलाप महत्व पूर्ण होता है । सामंतवादी युग में मनुष्य वर्गीय सीमाओं में सक्रिय था । वर्ग कभी-कभी क्रान्ति भी करते थे । यूरोप का इटालवी रिनेसाँ ( 15 वीं शती ) कुछ गिने चुने कुलानों तक सीमित घटना थी । इसलिए आधुनिकता की धारणा में इसका कोई योगदान नहीं माना जा सकता । आधुनिक क्रान्तियाँ जन-जन में व्याप्त होकर ही आधुनिकता की नींव रखती है । वर्गीय क्रान्तियाँ एक वर्ग विशेष से सीमित रहने के कारण आधुनिकता नहीं कही जा सकती । आधुनिकता मानवीय प्रारब्ध के प्रति एक क्रान्ति कारी दृष्टिकोण रखती है और गति की दिशा का अनुसंधान मानवीय मस्तिष्क को ध्यान में रखकर किया जाता है ।

3. विश्वास बनाम तर्क :-

जो कुछ आधुनिकता के नाम से अभिहित किया जाता है उस सब में बौद्धिकता और तर्क की प्रधानता रहती है । यह कहा जाता है कि जब जब पवित्र चेतना की आस्था को तार्मिक चेतना के विवेक ने अपदस्थ किया है तब-तब आधुनिकता कौंधी है । पहले तार्किक शक्ति सीमित थी और आज जीवन को इसने चारों ओर से घेर लिया है । इस युग में तर्कशीलता का विकास होता है ।

जब यह कहा जाता है यह विज्ञान का युग है तो मतलब यह होता है कि इस युग में तर्क की प्रधानता है । ज्ञान का क्रमबद्ध एवं तार्किक विशेषीकरण ही विज्ञान है । तर्क का संबंध कार्य कारण संबंध के प्रति एक उत्कंट बौद्धिक जिज्ञासा से है ।

मध्ययुगीन चेतना के केन्द्र में आस्था ही थी । यही उसकी जिजीविषा और जीवन संघर्ष के लिए प्रेरणा स्रोत होती है । वर्तमान में विज्ञान की भूमिका सर्व प्रधान हो गई है । आधुनिक जीवन दर्शन में विज्ञान का योगदान भी है और वैज्ञानिक चेतना या वैज्ञानिक दृष्टि का भी । विज्ञान सोचने की और सर्जन की एक नई प्रणाली देता है । इसी के सहारे आज का सर्जक अपने परिवेश का यथार्थ साक्षात्कार करता है और यही साक्षात्कार सृजन की प्रक्रिया को प्रभावित करता है । इस साक्षात्कार की समग्रता साहित्यकार का अभीष्ट होती है और यह वैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम होता है । तर्क विज्ञान की प्रवृत्ति ने पूर्व और पश्चिम के बीच एक अकाट्य रेखा खींच दी है । वर्तमान सभ्यता और अतीत के बीच भी यह एक विभाजक रेखा बन जाती है ।[1]

---

1. मानव मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती, पृ. 21.

आधुनिक युग में तर्कशील का सर्वव्यापी व्यवहार हो रहा है । जो तर्कशील है वही पूर्ण और सत्य भी माना जाता है । इसी लिए विश्वास का सिंहासन हिल गया है । मनुष्य की कामना है कि वह अपने वातावरण और अपने ऊपर अपना नियन्त्रण कायम करे ।

3·1 प्रश्नाकुलता :-

जिस तर्क या विज्ञान की शक्ति की ओर अभी संकेत किया गया है उसका प्रतीक शब्द यह है । प्रश्नाकुलता का अर्थ है जिज्ञासा । जिज्ञासा मनुष्य का नैज गुण है जो अन्य प्राणियों को प्राप्त नहीं । इसी के आधार पर भौतिक, मानसिक, सामाजिक विज्ञान तथा अध्यात्म जैसे अनुशासन विकसित होते रहे हैं । मनुष्य का विशिष्ट विकास जिज्ञासा का ही परिणाम है ।

जो कुछ पुरातन विरासत में परंपराओं के रूप में मनुष्य ने प्राप्त किया है वे सब आज प्रश्न चिह्नित हैं - " क्यों ? और प्रश्न पुर्नव्याख्या पुनर्विश्लेषण पुनराख्यान और पुर्नमूल्यांकन जैसी बौद्धिक प्रक्रियाओं को उत्तेजित करता है और ये प्रक्रियाएँ सांस्कृतिक धरातल पर " आधुनिक " की खोज करती है । यदि किसी भावावेश या किसी पूर्वाग्रह के कारण किसी आधुनिक तत्व को अनाधुनिक और अनाधुनिक को आधुनिक कह दिया गया है तो प्रश्न इसका परिशोध करके सत्य और न्याय की पुर्नस्थापना करता है । तर्क और प्रश्न की आग में तप कर ज्ञान विवेक बनता है और विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्वों में संभवतः सबसे प्रमुख और सबसे विश्वसनीय है । "[1] प्रश्नाकुलता ही ज्ञान को समग्रता प्रदान करती है और यही ठहराव को तोड़ने के लिए गति की शक्तियों को जागृत करती है । इसका स्पष्टीकरण अज्ञेय ने इस प्रकार किया है --

---

1· धर्मवीर भारती " मानव मूल्य और साहित्य " पृ· 21·

आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी बंधाई व्यवस्था मर्यादा या धारणा को तोड़ती है । इसे परम या निरपेक्ष नहीं माना जा सकता । यह मुख्य रूप से एक ऐसी मानसिकता है जो किसी एक मूल्य धारणा या सिद्धांत को स्वीकारने से पूर्व उसे जांचने पुतालने पर बल देती है । "[1]

मध्यकाल तक कुछ ऐसे क्षेत्र माने जाते रहे जहाँ संदेह और प्रश्न वर्जित थे । इन क्षेत्रों में धर्म और ईश्वर प्रमुख है । इनके प्रति संदेह और प्रश्न करना नास्तिकता मानी जाती थी जो प्रमाण है । उसके प्रति " क्यों " कैसे, जैसे प्रश्न सामाजिक दृष्टि से यह अशिष्टता मानी जाती है । मनोविज्ञान के अनुसार संदेह और जिज्ञासा व्यक्ति के बौद्धिक विकास में विचारों की अपेक्षा अधिक सहायक होते है ।[2] प्रश्न के माध्यम से व्यक्ति अपने को भी जानता है और अपने पर्यावरण को भी । क्योंकि जिज्ञासा हमारे संस्कारों का निर्माण करती है और संस्कारवान होना विचारवान होने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है ।[3] जो स्थिर है या स्थिर का समर्थक है वह आधुनिक नहीं है ।

---

1. नरेन्द्र मोहन आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ पृ. 14.
2. राधा कृष्णन : आधुनिक युग में धर्म
3. अज्ञेय : लिखि कागद कोरे पृ. 67.

प्रचलित धारणा के अनुसार दर्शन का आधार तर्क है जो वितर्क से संघर्ष करता है जो जिज्ञासा और संशय दर्शन के कारण विशुद्ध ज्ञान की ओर हमारी गति को तेज करते है । इनका संघर्ष आस्था और विश्वास से है जो और अधिक जानने के मार्ग की बाधाएँ है । भारतीय मनीषा ने ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा को आवश्यक माना है । वास्तव में श्रद्धा और तर्क का समन्वित रूप ही समग्र ज्ञान तक ले जाता है । यही ज्ञानी भक्त होने का रहस्य है । भक्ति ऐसा दर्शन है जो तर्क और विश्वास के आधार पर जीवन के प्रश्नों के समाधान की ओर संकेत करता है । इस क्षेत्र में शुष्कज्ञानी अथवा विश्वास हीन ज्ञानी - गोपियों के आगे उद्‌भव की पराजय इसी तत्व को ज्ञापित करती है । भक्त कवियों में इन दोनों का परिमाणगत अन्तर मिल सकता है जैसे निर्गुण दर्शन के मानने वाले कबीर में तर्क का तत्व श्रद्धा की अपेक्षा अधिक है । तुलसी में दोनों का संतुलन है । सूर का पलड़ा भाव की ओर अधिक झुका है ।

## 3·2 बौद्धिकता :-

आधुनिक युग का एक और सर्वमान्य लक्षण है - बुद्धिवाद । विशेष रूप से वर्तमान युग में बुद्धिवाद की एकांत प्रतिष्ठा हुई है । जिन अन्तर्विरोधों के बीच वर्तमान जीवन का क्रम चल रहा है और मानवीय संबंधों की जो विकृतियाँ दिखलाई पड़ती है उनकी प्रतिक्रिया के रूप में ही बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा हुई है । बुद्धिवाद द्वन्द्व पूर्ण परिवेश के लिए एक सहारा है । यह वह तत्व है जो तर्क की कसौटी पर जीवन के हर बदलाव को कसता है । यह वह विवेक है जो जीवन और जगत के यथार्थ प्रश्नों पर तर्क प्रणाली पर विचार करता है । यथार्थ का साक्षात्कार आज विवेक और तर्क के आधार पर ही किया जाता है । यह यथार्थ को तटस्थ रूप में ग्रहण करने का एक साधन है ।

वर्तमान मनुष्य परिवेश के साथ इसी माध्यम से सम्पर्क स्थापित करता है । बुद्धि वाद ऐसी किसी भौतिकोत्तर शक्ति में विश्वास नहीं करता, जो मनुष्य और परिवेश के बीच सीधे साक्षात्कार में बाधक होती है । परिवेश का तटस्थ साक्षात्कार सृजन का मार्ग भी प्रशस्त करता है । बुद्धिवादपरिवेशगत यथार्थ का एक ऐसा बोध प्रस्तुत करता है,

जिसका सर्जनात्मक चरित्र अपने आप विकसित होता चलता है यह रचनात्मक यथार्थ और इसका ग्रहण और इसका सम्प्रेषण आधुनिकता के प्रमुख घटक है । दूसरे शब्दों में इसी को सर्जनात्मक अनुभूतियों का आधार कहा जा सकता है ।

हमारा विवेक एक स्वतन्त्र निर्णय की सुविधा चाहता है और उसी के साथ जुड़कर व्यावहारिक रूप लेता है । स्वतन्त्र निर्णय का अर्थ है मन और बुद्धि की ऐसी वृत्ति जो तथ्यों विचारों तथा अवधारणाओं को केवल इसीलिए नहीं मान लेती कि उसके पीछे कोई लम्बी परंपरा है या अधिकृत पद्दति है । स्वतन्त्र निर्णय व्यक्ति के जीवित और जिए जाते यथार्थ के सम्पर्क में अपने अनुभूति के सत्य प्रामाणिक अनुभव के माध्यम से स्वीकार या अस्वीकार करती है । बुद्धिवाद का यही सही रूप है ।

1.4 आधुनिकता : विमुक्ति :-

आधुनिकता के लक्षणों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण शब्द विमुक्ति या स्वाधीनता है । आदमी ने इतिहास के उन खण्डो को भी जिया है जिनमें मनुष्य के अस्तित्व और चेतना को पूर्णत: बद्द या पराधीन कर दिया जाता है । उसके भाग्य का निर्माता वह न रह कर कुछ पर प्राकृतिक शक्तियाँ उसकी गति विधि का विधायक हो जाती है । समाज में भी ऐसी शक्तियाँ और व्यवस्थाएँ जन्म लेती है जो उसको बुरी तरह कस देती है । मनुष्य विमुक्ति के लिए छट पटाता है । इस स्वाधीनता के अभियान में जो आदमी का साथ देता है वह आधुनिक है यह क्रान्ति इतिहास में होती रहती है । यही आधुनिकता प्रत्येक परिवेश में प्रासंगिक होती है । अज्ञेय के अनुसार " सब प्रासंगिकताओं के मूल में एक प्रासंगिकता है - क्योंकि सब मूल्यों के मूल में एक अधिमूल्य है : स्वाधीनता जो कि स्वाधीनता को बढ़ाता है । पुष्ट करता है उसे स्थायित्व प्रदान करता है वह सब मूल्यवान है प्रासंगिक है ।

विमुक्ति :-

नायक संबंधी मिथकों में एक अभिप्राय " बंदी " अथवा " निधि " को स्वतन्त्र अथवा प्राप्त करना भी एक है । " बन्दी " कोई भी प्रेमिका या कुमारी हो सकती है : जो किसी दैत्य, राक्षस या अशुभ तत्व के द्वारा बन्दी कर ली गई है, और हीरो, अपने पौरुष और वीरता से उसे मुक्त करता है । जहाँ तक " निधि " का प्रश्न है वह अनेक अर्थों का वाचक है । स्वर्ण हीरा, मोती तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ इसके अन्तर्गत आते हैं ,जो मूलत: अमर मूल्यों के प्रतकी है । "[1] इसी प्रकार " जीवन जल " अमृत, अमरसौदा, दार्शनिक का पाषाण, रहस्य मयी अंगूठियाँ तथा परयुक्त, घड़ियाँ आदि निधि के ही प्रतीक है ।[2] इसमें नायक मुक्तिदाता के रूप में अवतरित होता है ।

1·5 वर्तमान के प्रति सजगता :-

कवि लेखक वर्तमान में जीता है और उसका रागात्मक और सौन्दर्यात्मिक विस्तार अतीत और भविष्य में भी होता है । वह जहाँ वर्तमान की जमीन का अनुभव करता है वहीं अतीत के जीवंत और संग्रहणीय तत्वों से अपनी सौन्दर्य साधना को काल-जयी बनने की प्रक्रिया में लाता है । क्योंकि वह द्रष्टा है इसलिए उसकी दिग्विजय का क्रम भविष्य तक चलता है । किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्तमान का साक्षात्कार वह पूरी संवेदना के साथ करता है । वर्तमान से कटकर यदि लेखक अतीत या भविष्य जीवी बन जाता है तो वह पलायन वादी सिद्ध होता है । वर्तमान के प्रति सजग रहकर ही वह अपने कर्म के प्रति न्याय कर सकता है । जब व्यक्ति केवल मध्यकाल को दोहराने में ही अपने कर्तव्य की इयत्तता मान लेता है तो वह निश्चित रूप से मध्यकालीन है - " अविवेक से भरा हुआ । उसकी अस्मिता इतनी विवश और निंस्पद

---

1· साइकोलॉजी एण्ड एलकेमी, पृ· 60 - 61·

2· वीरेन्द्र सिंह, मिथक दर्शन का विकास, पृ· 88·

हो जाती है कि वह " भाग्य की बैसाखी लेकर ही चल पाता है । सब कुछ उस पर छोड देता है जो परोक्ष है, अलक्ष्य है और मध्यकाल की यह एक पहचान बन बन जाती है । यदि वर्तमान के प्रति लेखक सचेत नही होता तो सही सब घटित होता है । तुलसी अपने वर्तमान के प्रति सजग थे और कबीर भी । इसीलिए उनका अतीत बोध और उनकी भविष्य की परिकल्पना यान्त्रिक नहीं लगती -- उतनी यान्त्रिक जितनी केशव की कविता है । रीतिकाल का कवि इस लिए आधुनिकता के साथ अजनबी लगता है क्योंकि वह वर्तमान जीवन यथार्थ के साथ सम्प्रक्ति नहीं बना सका ।

यह कहा जा सकता है कि कवि अपने युग के साथ एक सजग सम्पर्क रखकर ही अपने को ऐतिहासिक सार्थकता प्रदान कर सकता है । जब आधुनिकता हमारे वर्तमान में परिभाषित और निरूपित होने लगती है तब उन मध्यकालीन कवियों का स्वर आधुनिक के साथ जुड़ने के अधिकार की पुकार करता है और यह भी कहता है कि किसी दुराग्रह या मूढ़ाग्राह से आज का आधुनिक मानस बद्ध और सीमित न हो जाय । एक समाज सौन्दर्य शास्त्रीय न्याय की माँग इसी परिस्थिति में उत्कट होती है और यही वह स्थिति है जिसमें आधुनिकता की सधारणा मध्यकाल और प्राचीन युग से ही नहीं आदिकालीन अंचलो से भी संबद्ध रहती है ।

### 1·6 लोकहित :-

आधुनिक के साथ मूल्य के रूप में लोकहित भी संलग्न है । इस मूल्य का संबंध पूरी समाज व्यवस्था से है, तुलसी ने इसी को लोक मंगल के नाम से अपने काव्य में प्रतिपादित किया और शुक्लजी की आलोचना पद्धति का यह एक प्रमुख प्रतिमान भी बन गया है । लोकहित शिव का विस्तार है और आधुनिक सौन्दर्य बोध शिव को और सत्य को भी लोक हित के परिप्रेक्ष्य में देखता है । लोक कल्याण की भावना का संबंध स्वार्थ त्याग जैसे उदात्त भाव से भी है । इस मूल्य की परंपरा भारत में

बहुत प्राचीन है । ऋग्वेद के अनुसार अग्नि संसार के हितैषी पुरूष के समान है ।[1] अनेक मिथकों में समष्टि हित के लिए व्यष्टि के त्याग की प्रशंसा ज्ञापित की गई । महर्षि दधीचि इस आशय का बहुत शक्तिशाली मिथक है । [2] अगस्त्य लोकहित के लिए समुद्र का पान करते हैं । [3] तुलसी ने स्पष्ट स्थापना की परहित सरस धरम नहीं भाई और तुलसी की चेतना में नरसिंह मेहता की यह पंक्ति गूंजती रही - "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे " बौद्ध जैन जैसे परवर्ती धर्मों ने लोक सेवा को परम मूल्य के रूप में व्यक्त किया है ।

## 1· 7 धर्म निरपेक्षता :-

जैसा कि अभी संकेत किया गया है, धर्म और ईश्वर मानवीय नियति के नियामक तत्व माने जाते थे । कालान्तर में धर्म अपनी रूढ़ि बद्धता, अन्धता और अमानवीय विकृतियों के कारण विद्रूप हो जाता है । इस स्थिति में आधुनिक तीन प्रकार की प्रतिक्रिया कर सकता है : धर्म का पूर्ण परित्याग, धर्म की उपेक्षा या धर्म का पुर्नव्याख्यान और उसकी मानवीय आधारों पर स्थापना । धर्म निरपेक्षता सभ्यता के मानवीय आधारों की खोज है । धर्म निरपेक्षता के आधार पर सभ्यता के निर्माण का प्रयत्न हो रहा है फिर भी सम्पूर्ण आधुनिक काल ने इतिहास के आधार भूत नियमों को भंग भी कर दिया है ।

---

1· ऋग्वेद 1· 69· 2

2· महाभारत, वनपर्व

3· " " 105· 2·

## 2• आधुनिकता : अर्थ और अवधारणा त्रयर्थ :

आधुनिकता की धारणा को परिभाषित करने के कई प्रयत्न हुए । कभी काल गति के रूप में देखकर उसकी कालगति के रूप में चर्चा की जाती है । जैसे समरामयिक तथा वर्तमान युग तथा कभी आधुनिकता को विश्व इतिहास के एक चरन के रूप में देखा जाता है । आधुनिकता की कुछ विशेषताओं, के आधार पर भी आधुनिकता को ग्रहण किया गया है । सोरोकिन ने इसे संक्रान्ति का मानवेन्द्रनाथ राय ने क्रान्ति का और मार्क्स वादियों ने समाजवाद का युग कहा ।

आधुनिकता कोई निरपेक्ष धारणा या निरंकुश सिद्धांत नहीं है । आधुनिक एक गति शील स्थिति है जो ठहराव में विश्वास नहीं करती । बदलने की प्रक्रिया में संघर्ष विद्रोह और क्रान्ति के संकल्प भी सम्मिलित होते हैं । आधुनिकता आत्म केन्द्रित भी हो सकती है और समाज धर्मी भी ।

### 2•1•1 काल सापेक्ष :

आधुनिक या आधुनिक शब्द प्राय: तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है = समय सापेक्ष वैचारिक और समसामयिक ।[1] काल सापेक्ष अर्थ मध्यकाल के पश्चात् घटित होने वाले काल खण्ड को घोतित करता है । यूरोप में यह काल खण्ड 15 वीं शताब्दी के पुनर्जागरण से आरंभ हुआ और भारत में 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से । यही समय भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का है । साहित्येतिहास में 1857 के बाद आधुनिक काल घटित हुआ । आधुनिक कहा जाने वाला कालखण्ड कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ अपने में सहेजे रहता है जो मध्यकालीन मानसिकता के प्रति असहिष्णु होती हैं ।

---

1• डा•नगेन्द्र " आलोचना " स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक भाग - 2 पृ• 9•

काल सापेक्ष अर्थ का एक और पक्ष है इस दृष्टि से आधुनिकता का संबंध वर्तमान से माना जाता है । इस अर्थ को स्वीकार करने पर यह बात अपने आप स्वीकृत हो जाती है कि आधुनिकता का रूप प्रत्येक युग के अनुसार बदलता रहता है । यहाँ आधुनिकता अपने को अतीत से भिन्न और नए से संबद्ध मानती है । इस अर्थ में आधुनिकता मात्र हमारे वर्तमान से संबंधित नही है । पुराने युगों के भी ऐसे खण्ड रहे होंगे जिनको उस समय वर्तमान कहा गया होगा । ऐसे ही चरणों में होकर आधुनिकता गुजरी है । इस दृष्टि से भगवान बुद्ध का समय आज प्राचीन है किन्तु अपने युग में आधुनिक रहा होगा । " स्वीकृत अर्थ में इतिहास का जो आधुनिक युग है वह भी आधुनिकता के अनेक चरणों में होकर गुजर चुका है । 18 वीं शती की आधुनिकता तो पुरानी हो ही गई । 19 वीं शती॰ का उल्लेख प्राय: आधुनिक के विपर्याय के रूप में किया जाता है, और 20 वीं शती॰ के आरंभ के आंदोलन भी आज प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते है । "[1] ये सब आधुनिकता के चरण कहे गए हैं और आज इनकी आधुनिकता प्रश्न चिह्नित हो गई है ।

नव्य दृष्टि आधुनिकता को काल खण्ड के रूप में स्वीकार करके चलने वाले ( सिद्धांत ) सिद्धात को अस्वीकृत करती है । इसमें यह विश्वास अन्तर्निहित है कि आधुनिकता विचार और जीवन की एक पद्धति है जो किसी भी युग में दिखलाई पड़ सकती है । तात्पर्य यह कि आधुनिकता कोई काल खण्ड नहीं वह एक मानसिकता है इतिहास के हर युग में देखी जा सकती है ।

विचारों का इतिहास होता है सामाजिक परिवर्तन काल के अक्ष पर घूमते हैं । आधुनिकता का एक काल सापेक्ष स्वरूप भी है । यूरोप में आधुनिक युग की शुरूआत पुनर्जागरण ( रिनेसाँ ) से मानी जाती है और वर्तमान युग की सिति औद्योगिक और फ्रांसीसि क्रान्ति से । आधुनिक के काल निर्धारण में एक जटिलता है ।

---

1॰ डा॰ नगेन्द्र " आलोचना " स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक भाग - 2 पृ॰ - 9॰

यह मान भी ले कि यह युग आधुनिक है तो यह कहना असंभव है कि इस युग में स्थित सभी समाज आधुनिक है । और यह भी सत्य है कि आधुनिक कहे जानेवाले कुछ समाज लड़खड़ा रहे हैं । जैसे कि उनका आधुनिक कहा जाने वाला आधार हिल गया है ।

2.12. काल निरपेक्ष : ( कालातीत तत्व )

कहा जाता है कि आधुनिकता एक कालातीत धारणा है । आधुनिक होना किसी एक युग की बपौती नही है । लगभग सभी कालों में आधुनिक मनुष्य होते रहे । कौटिल्य आदि अनेकानेक विचारक पुराने युग के होते हुए भी आधुनिक है और पुराने कहे जाने वाले युग संसार में भी घटित होते रहे हैं जैसे - समुद्र गुप्त का युग और शेरशाह सूरी के बाद का जन जागरण ।

इस प्रकार आधुनिकता एक विचार पद्धति है जो मानवीय इतिहास क्रम में सहज रूप में विकसित होती है इसका अस्तित्व किसी भी युग में देखा जा सकता है इसी दृष्टि से आधुनिकता को एक निरपेक्ष प्रतिमान कहा जाता है । किन्तु इस विचार पद्धति को विकसित करने वाली कुछ परिस्थितियाँ होती है । उन परिस्थितियों को हम आधुनिक युग नाम नहीं दे सकते वर्तमान समसामयिक कह सकते हैं ।

आधुनिकता के कुछ मनोसामाजिक लक्षण है जो जब कभी प्रकट होते हैं तो आधुनिकता के वाहक बनते हैं । ये लक्षण एक ऐतिहासिक काल खण्ड के सामाजिक द्वन्द्व के परिणाम हैं । यह द्वन्द्व होता है गति शील और स्थिर के बीच अथवा प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच । इसी द्वन्द्व से आधुनिकता अपने को प्रमाणित करती चलती है । आधुनिक होने का मतलब आज का इस दशक का या इस शताब्दी का होना नहीं है ।[1]

---

1. दूध नाथ सिंह : अपनी शताब्दी के नाम पृ. -

युग की वैज्ञानिक, राजनीतिक और सामाजिक चिंताधारा में परंपरा के अनुस्यूत तारों को पकड़ कर अपने व्यक्तित्व को कालहीन काल में पुन: उपलब्ध और अभिव्यक्त करने वाला ही वास्तविक आधुनिक होता है । आधुनिक अतीत से उतना ही जुड़ा होता है जितना वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति उत्तरदायी होता है । मध्य युगीन प्रवृत्तियों से जो युग आधुनिकता को जितना ही मुक्त कर पाता है और जितना उसका अस्तित्व निरापद होता है उतना ही वह युग आधुनिक है । लगता है कि आधुनिकता का जन्म या पुनर्जन्म हुआ, आधुनिकता की मुक्ति का क्षण इतिहास में आधुनिकता के जन्म की शुभ घड़ी मानी जाती है ।

1.3 वैचारिक :-

आधुनिकता का दूसरा अर्थ काल सापेक्ष होकर एक विचार पद्धति को प्रकट करता है । आधुनिकता एक विशिष्ट दृष्टिकोण और जीवन दर्शन है जो अपने से पूर्व के मध्य युग से नितांत भिन्न होता है । वास्तव में ऐतिहासिक अर्थ भी इसमें व्यंजित रहता है । समाजशास्त्रीय दृष्टि से आधुनिकता में एक जागृत इतिहास चेतना रहती है मध्य युग और प्राचीन युग में इतिहास बोध इतना प्रेरक और निर्णायक नहीं माना जाता । इतिहास बोध का तात्पर्य है अपने पर्यावरण के प्रति पूर्णत: जागरूक रहता । मध्ययुग में और पुराने युग में जीवन परिवेश से प्रभावित तो था किन्तु उसके प्रति इतनी प्रबुद्धता नहीं थी ।

वास्तव में आधुनिकता एक मिश्रित धारणा है । इस धारणा का मूलाधार है देशकाल गत पर्यावरण के साथ एक जीवंत सचेतन संबंध । इसी के अन्तर्गत सामाजिक चेतना भी सम्मिलित है जो वैयक्तिक चेतना से भिन्न होती है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज का संबंध इस प्रकार का मिलता है कि व्यक्ति धीरे-धीरे समाज के प्रति प्रतिबद्ध हो जाता है । आधुनिकता का दूसरा वैचारिक अभिलक्षण यह है कि भावुकता सीमित होकर धीरे-धीरे बौद्धिकता के लिए रास्ता छोडती चलती है । कल्पना

और आदर्श के स्थान पर यथार्थ की प्रतिष्ठा होती है । वैज्ञानिक दृष्टि कोण आधुनिकता का प्रमुख लक्षण है । इसके साथ ही आधुनिक युग में नए के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है यहाँ तक कि कभी-कभी ये दोनों शब्द परस्पर पर्याय लगने लगते हैं ।

आधुनिकता में एक क्रान्ति दृष्टि भी अनुस्यूत रहती है -- क्रान्ति यथा स्थिति के विरोध में निहित स्वार्थों की सुरक्षा के लिए पैदा किए गए ठहराव को समाप्त करने के संकल्प के विविध आकारों में प्रकट होती है ।

परंपरा के प्रति आधुनिकता का विरोध तो नहीं है किन्तु उस परंपरा को आधुनिकता सहन नहीं कर सकती जो स्थिर और निरर्थक हो गई है । आधुनिक दृष्टि उस परंपरा को स्वीकृत करके चलती है जो एक प्रवाह के रूप में मिलती है और जिसके अर्न्तबाह्य परिवर्तन की संभावना चुक नहीं गई है । " जीर्ण-शीर्ण पुरातन का त्याग संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा वैचित्र्य और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग हैं । अतः रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह और नव जीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहाँ अनिवार्य है । "[1]

आधुनिकता की यह संधारणा किसी भी काल में मूर्तिमान हो सकती है । काल का क्रम इस धारणा को नियन्त्रित नहीं करता । मध्ययुगीन रोमी दार्शनिकों की अपेक्षा बुद्ध का जीवन अधिक आधुनिक है । इसी प्रकार सूर की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक लगते हैं रत्नाकर जी आधुनिक युग में पैदा हुए पर उनकी दृष्टि आधुनिक नहीं थी ।

---

1. डा. नगेन्द्र " आलोचना " स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक भाग - 2 पृ. 9.

## ३. आधुनिकता और इतिहास चेतना :-

सामाजिक परिवर्तनों और उनसे संबंधित विचारों का इतिहास होता है । आधुनिक इसी इतिहास का एक चरण है । यूरोप में रिनेसा से आधुनिक युग तथा औद्योगिक और फ्रांसीसी क्रान्ति से वर्तमान युग का आरंभ माना जाता है । भारतीय इतिहास में सन् 1857 से आधुनिक युग का आरंभ माना जाता है और आजादी के बाद से समसामयिक युग । वास्तव में ये दोनो ही घटनाएँ नवीन परिवर्तनों की द्योतक है । किसी परिवर्तन अथवा मानवीय चिंतन का परीक्षण किसी कालातीत सत्य के आधार पर नहीं किया जा सकता । इस परीक्षण का आधार एक ऐतिहासिक अनिवार्यता होती है । इतिहास के खण्ड का निर्माण कुछ युग चेता विद्वानों की खोजे होती है । आधुनिक विचारे प्रणाली के प्रकाश स्तम्भ मार्क्स, फ्रायड, डारविन और आइन्स्टाईन जैसे विचारक हैं । सारे विश्व का सृजन और चिंतन इनसे प्रभावित हुआ है और इन्होंने पुरानी विचार प्रणाली को विदा दी है ।

किन्तु दुनियाँ में सभी देश आधुनिकता की दृष्टि से समान नहीं होते कहीं आधुनिकता जल्दी आ जाती है तो कहीं देर से । कहीं वह व्यापक बन जाती है तो कहीं सीमित । आधुनिक युग में बहुत से समाज आधुनिक नहीं हो पाते । साथ ही आधुनिकता के संबंध में सभी विचारक एक मत नहीं होते । तात्पर्य यह है कि इतिहास में आधुनिकता के कई स्तर और उसकी कई धारणाएँ प्रचलित रहती हैं ।

यह तो माना जा सकता है कि आधुनिकता पुराने या मध्यकाल को लेकर नहीं चल सकती किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिकता से इतिहास का संबंध नहीं है । आधुनिकता तो एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो हमें देश काल का बोध देती है । इतिहास न पुराना होता है न मध्यकालीन वह एक विचार की पद्धति है । ऐतिहासिक चेतना इसीलिए आधुनिकता का अनिवार्य अंग मानी जाती है ।[1] इतिहास

---

1. जी.एस.फ्रेजर दि. मार्डन राइटर एण्ड हिजवर्ल्ड : प्रथम, पृ. 23.
   डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी : भेंट म.शा, जोशी आलोचना जुलाई 1967, पृ 32.

मानवीय अतीत और भविष्यत के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी रहता है । आधुनिकता को काल खण्डों से असम्बद्ध करके देखा जाता है कि किन्तु इतिहास काल खण्डों का दस्तावेज भी प्रस्तुत करता है और कालायाम के नैरंतर्य से भी सम्बद्ध है । कालगत सातत्य की अवधारणा इतिहास में मूलबद्ध है ।

आधुनिकता की व्याख्या में सम्पूर्णता की दृष्टि (Vision of the Whole) को महत्व दिया जाता है । इतिहास एक सम्पूर्ण दृष्टि है इसके द्वारा अतीत और वर्तमान को साथ और समानान्तर चलना होता है ।

4. मूलभूत दर्शन :

यह प्रश्न प्राय: उठता है कि आधुनिकता किसी विशेष दर्शन को लेकर चलती है या नहीं । सम सामयिक युग में कई दर्शन प्रकट हुए और उन्होंने अपने-अपने ढंग से मनुष्य और समाज के संबंधों को व्याख्यायित किया है । उदाहरण के लिए अस्तित्ववादी दर्शन को लिया जा सकता है । किन्तु यह एक ऐसा व्यापक दर्शन नहीं कि आधुनिकता के समस्त उपकरणों को आत्मसात् कर सके । नन्द दुलारे वाजपेयी ने आधुनिकता और मानव वादी दर्शन को जोड़ना उचित समझा है : " बिना आधुनिकता के, बिना जीवन संवेदन के, श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं हो सकती । परन्तु आधुनिकता को अस्तित्ववाद में खोजने के बजाय इसे मानववाद में खोजना श्रेयस्कर है -- मानववाद जिसमें सामाजिक विकास की समग्रता है वास्तविक आधुनिक बोध को लिए हुए है ।[1]

4.1 आधुनिकता और अस्तित्ववाद :

जिसे आधुनिक कहा जाता है वह किसी एक दर्शन प्रणाली की देन नहीं है । कई दार्शनिक व्यवस्थाओं ने इन संधारणाओं को पुष्ट किया । अस्तित्ववाद इसी प्रकार का एक आधुनिक दर्शन है जो आधुनिक मानस को एक दूरी तक प्रभावित करता है । इसके साथ ईश्वर का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है । अस्तित्ववाद की एक धारा ईश्वरवाद ही है ।[2]

---

1. धर्म युग : नवम्बर 1964 पृ. 13.
2. Jean Paul Sartre; Existentialism and Humanism - 1. P. 44-45.

इस धारा में सार्त्र, कैमू तथा हैडगर आते हैं । किन्तु ये पुराने अर्थ में ईश्वरवादी नहीं है । ये ईश्वर को मानते तो है किन्तु ईश्वर को व्यक्तित्व के लिए या अन्य किसी प्रकार से उत्तरदायी या नियन्ता नहीं मानते ।

एक प्रकार से अस्तित्ववाद मानव की महिमा का दर्शन है । कर्म के आधार पर मनुष्य को परिभाषित किया जाता है ।

मार्सल के अनुसार समस्त चिंतन का केन्द्र मनुष्य का अस्तित्व है । सृष्टि में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने अस्तित्व का अनुभव करते हुए चिंतन में प्रवृत्त होता है । उसके चिंतन का विषय मनुष्य और उससे संबद्ध संसार है ।[1] मनुष्य को मात्र चेतन और बुद्धि प्रधान प्राणी कह देना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि मार्सल के अनुसार उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त है । कर्म उसके अस्तित्व का एक अंग है । कर्म का आधार विचार है । मनुष्य विचार करता है विचारों में चयन करता है और अपने संकल्प के अनुसार कार्य करता है ।[2]

इस संदर्भ में मनुष्य को अपना निर्माण कर्त्ता और निर्णायक भी कह दिया गया है और ईश्वर से छुटकारा भी पाया गया किन्तु परिस्थितियों को वह स्थान दिया गया जिनके आगे मनुष्य विवश है परिस्थितियों का दास है । जिनसे संघर्ष करते हुए अंत में मनुष्य पराजित भी हो सकता है । जीवन का शून्य निराशा और कुण्ठा से भर जाता है । भक्ति दर्शन की प्रक्रिया आंशिक रूप से ही इस दर्शन में मिलती है । अन्तत: वह स्वयं आधुनिक दर्शन के रूप में परिणत हो गया । वह स्वयं मनुष्य की महिमा को ईश्वर के संदर्भ में प्रामाणिक बनाता है । मनुष्य के सत्य की अनेक रूपों में प्रतिष्ठा करता है ।

---

1. Gabriel Marcel, Meta Physical Journal Page-206.
2. Ibid ; P.173.

सन्त और भक्त कवियों का लक्ष्य मानव की प्रतिष्ठा करना है । इसके लिए उन्होंने उस माया जन्य जाड्य का खण्डन किया जिसने मनुष्य को आबद्ध कर रखा है । उसकी अन्तर्गत शक्तियों को जागृत करके समाजोन्मुख बनाना ही इनके साहित्य का मन्त्र है । ईश्वर की इस प्रकार की व्याख्या की गई है कि वह मनुष्य को बांधता नही है ।

सार्त्र के विचारानुसार अस्तित्व-वाद एक ऐसी आधुनिक विचार धारा है जो सामूहिकीकरण और मशीनीकरण की शक्तियों के विरूद्ध मनुष्य की महिमा तथा स्वतन्त्रता को पुन: संस्थापित कर मानव जीवन को संभव बनाने का दावा करती है ।

2·4·2 मानववाद :-

मानववाद एक ऐसा दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो जीवन को दैवी विधान से स्वतन्त्र मानते हुए मानव आचरण की एक नैतिक धारणा को स्वीकार करता है और जिसने नैतिकता और सामाजिक आदर्शवाद की उन महत्वपूर्ण मान्यताओं को समाहित कर लिया है, जो उदार चिंतन के परिणाम स्वरूप विकसित हुई है । मानववाद संभावना के प्रति आग्रह करता है । वह आर्थिक, लाभों, काम चेष्टाओं, सुखान्वेषी, अभिप्राय या अन्य तुच्छ तृष्णाओं को मानवीय उद्योग का प्रेरक हेतु मानने का निषेध करता है । सबके हित के लिए प्रयत्न शील होकर ही मनुष्य अपना हित कर सकता है । मानववाद एक ऐसा आदर्श है जो मनुष्य को क्षुद्रस्वार्थों से ऊपर उठाकर सम्पूर्ण मानवता की भव्य संभावनाओं को देखने की सामर्थ्य देता है ।

---

1· मानव वाद और साहित्य : नवल किशोर : पृ· 67·

मानव वाद सम्पूर्ण मानवता के कल्याण का दर्शन प्रस्तुत करता है । मानव वाद का अभिप्राय ही है मानव संबंधीवाद मानव हितों की वकालत करने वाली विचार धारा । मानववाद किसी देश या जाति के प्रति भेद भाव या दुर्भावना को नहीं सहन करता । वह विश्व नागरिकता, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और मनुष्य की अनिवार्य बन्धुता का समर्थक है ।

मानववाद कोई एक सम्प्रदाय नहीं है, वह चिंतन और कर्म को प्रेरित करने वाली विचार धारा है । मानववाद से तात्पर्य एक आशावादी चिंतन धारा से लिया गया, जिसमें बताया गया कि मानव-मूल्य स्वनिर्मित है और इस संबंध में वह किसी दैवी शक्ति पर निर्भर नहीं करता ।[1] मानववादी आस्तिकों को अंध विश्वासी रूढ़िवादी कह कर उनका विरोध करते थे और अलौकिक तत्व में भी उनका विश्वास नहीं था ।[2] धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन में दो प्रकार के लोग थे - एक वे थे जो दैवी शक्ति, पवित्रात्माओं, दया पवित्रता को प्रेरणा मानकर धार्मिक संस्थाओं में सुधार करना चाहते थे तथा समाज के सम्मुख पवित्रता का आदर्श रखकर सार्वभौमिक भ्रातृत्व का पोषण करना चाहते थे । इसके विपरीत दूसरे मत के लोग नई विद्वता और नवीन दर्शन से प्रभावित थे तथा नैतिक सुधार के लिए मानव बुद्धि में ही विश्वास करते थे ।[3] ये मानव प्रतिभा द्वारा बौद्धिक अराजकता की स्थापना करना चाहते थे । इन्होंने दया के स्थान पर प्रकृति, धर्म शास्त्र के स्थान पर नैतिकता और भाग्य के स्थान पर कर्म को महत्व दिया । यह बुद्धिवादी वर्ग भौतिक संसार को ही प्रमुखतः स्वीकार करता है ।[4] ये मानव समाज का परिष्कार बौद्धिक अनुशासन द्वारा संभव मानते थे । इस प्रकार नव जागरण का यह आंदोलन कला और साहित्य को बौद्धिक रूप प्रदान करने

---

1. J.B.Coates - The Crisis of the Human Person P.235
2. Ibid ; P. 241.
3. Myron - P.Gilmore - The World of Humanism, P.205
4. Ibid ; P.206

के लिए फैला और यह प्रयत्न किया गया कि मानवमूल्यों को अधिक से अधिक उदात्त रूप में प्रस्तुत किया जाए । यही भावना साहित्यिक क्षेत्र में मानववाद के नाम से प्रसिद्ध हुई ।'

मानववाद मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों को पूर्ण मुक्ति देता है और संसार के विभिन्न देशों के निवासियों के बीच एक सामान्य विश्वास के रूप में विकसित हो रहा है । वह एक संकीर्ण मतवाद नहीं है, बल्कि एक दृष्टि है, जो सभी दर्शनों और चिंतन पद्धतियों द्वारा प्रतिपादित मानव महत्व के मूल्यों को आत्मसात् करती है । आधुनिक मानववाद मनुष्य को जीवन का ध्येय देता है । एन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटेनिका में मानववाद को एक विचार पद्धति बताते हुए लिखा गया है "... मानववाद विचार अथवा क्रिया की वह सामान्य पद्धति है जो अलौकिक अथवा गुणात्मक दर्शन की अपेक्षा पूर्णतया मानव कल्याण में अभिरूचि लेती है ।[2] यह जीवन के प्रति ऐसा दार्शनिक अभिज्ञान है, जो मनुष्य के इस लोक में अधिकतम कल्याण की ओर जीवन के समुन्नत रूपान्तर की दिशा देता है । यह उत्कृष्ट मूल भूत दर्शन के रूप में आधुनिक में समाहित है आधुनिकता मानववाद के पर्याय के रूप में अभिहित की जा सकती है ।

## 2. 5 परंपरा और आधुनिक :-

प्रस्तुत अध्ययन का संबंध विशेष रूप से परंपरा से है । परंपरा के तीन आयाम होते हैं -- ऐतिहासिक, सामाजिक और सास्कृतिक । परंपरा का कोई निजी विरोध आधुनिकता से नहीं । परंपरा से आधुनिकता का विकास भी हो सकता है । परंपरा, आधुनिकता की धरोहर भी बन सकती है और निर्जीव भी हो

---

1. Encyclopaedia of Social Sciences - Vol.VII, P.537.
2. "Humanism in general any system of thought or action which assigns of predominant interest to the affairs, of men as compared with the super natural or the abstract."
2. (Encyclopaedia Britanica - Vol. XI P.876.

सकती है जिसमें ठहराव आ गया है और आधुनिकता से पूर्णत: कटी हुई है । परंपरा में आधुनिकीकरण की संभावनाएँ भी अन्तर्निहित हो सकती है । भारतीय संस्कृति का विकास क्रम इसी तरह चल रहा है अर्थात् परंपरा वही आधुनिक है जिसकी परिवर्तनशीलता बनी हुई है । बुद्ध, कबीर, तुलसी, विवेकानन्द अरविन्द, गाँधी आदि अपने-अपने ढंग से क्रान्तिकारी या विद्रोही रहे है । इसी क्रान्ति धर्मिता ने परंपरा को एक नया रूपान्तरण और पुन: संस्कार दिया है ।

आधुनिकता परंपरित पुरातन के समान्तर भी होती है । दोनों की मूल्य दृष्टि और बोध-वृत्ति में समानता ढूंढना भी कठिन बात नहीं है । वास्तविकता यह है कि आधुनिकता का प्रत्यय और चिन्तन प्राचीन और आधुनिक के द्वन्द्व से उपजे है ।

परंपरा के महत्व के संबंध में प्राय: सभी विद्वान एकमत है । यह विरासत में नही मिलती है । यह श्रमसाध्य है । परंपरा के विश्लेषण में इतिहास भी एक घटक के रूप में सामने आता है । इतिहास अतीत वर्तमान और भविष्य के क्रम में घटित होता है । परंपरा के त्याग और चयन में एक जागृत विवेक सक्रिय रहता है । गतिशील परंपरा कवि का सौन्दर्य परक स्पर्श पाकर प्रासंगिक और प्रमाणित होती है । डा॰नगेन्द्र के अनुसार, आधुनिक दृष्टि परंपरा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है । यह प्रवाह परिवर्तन की लहरों में उच्छलित रहता है । जीर्ण पुरातन के त्याग संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन आधुनिकता के सहज अंग है और परंपरा का मूल्यांकन भी इन्ही प्रक्रियाओं से होता है । विद्रोह यदि होता है तो परंपरा के प्रति नहीं रूढ़ि के प्रति होता है ।

यदि अतीत परंपराओं की सापेक्षता में आधुनिकता को देखा जाए तो कुछ अनुचित नहीं है । यदि आधुनिकता विगत सांस्कृतिक मूल्यों को अपने अन्दर समेट कर सक्रियता और चेतना को सुरक्षित रखे तो उस आधुनिक का संबंध किसी भी विगत युग से हो सकता है ।

इसी सिलसिले में यह कह देना आवश्यक है कि गति जीवन और जगत का प्रतीक शब्द है । इसीलिए जगत और संसार की व्युत्पत्ति गत्यार्थक धातुओं से हुई है ।[1] बल्कि यह कहना चाहिए कि ठहराव जीवन का विलोम शब्द है और यह प्रतिक्रिया के अर्थ में व्यक्त होता है जो प्रगति के विरोध में होती है और प्रतिक्रिया एक सामाजिक तत्व है जो यथास्थिति की रक्षा के लिए रूढ परंपराओं को ग्रहण करता है ।

आधुनिक विविध प्रत्यय :-

साहित्यकार और उसके युगीन परिपार्श्व के बीच बहुविध संबंध होता है । इन संबंधों को कभी-कभी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक शीर्षकों में खतिया दिया जाता है । युग परिपार्श्व समय के नैरंतर्य का एक काल खण्ड होता है । इतिहास में ये खण्ड घटित होते रहते हैं - प्राचीन, मध्यकाल, आधुनिक वर्तमान, समसामयिक आदि । इन खण्डों के बीच क्रिया प्रतिक्रिया का ऐतिहासिक संबंध भी बना रहता है - प्राचीन काल की प्रतिक्रिया में मध्यकाल और मध्यकाल की प्रतिक्रिया में आधुनिक किन्तु इन काल खण्डों और तत्संबंधी प्रवृत्तियों के अर्थ और उनकी संधारणाएँ सदा ही सुनिश्चित नहीं रहते थे बदलते भी रहते हैं, कभी-कभी प्रयास से इनका पुनराख्यान की प्रेरणा समकालीन मानसिकता से मिलती है । यह देखा जाता है कि अग्रगामी युग में पूर्वगामी युगों की प्रासंगिकता और संभावना कितनी कुछ हैं ।

---

1. संसरति इति संसार तथा जगत = { गच्छति इति }

## 2.5.1 आधुनिकता बनाम समसामयिक :-

आधुनिक और समसामयिक को एक मानने का भ्रम भी प्रचलित हो गया है । समसामयिक वर्तमान युग के बोध का वाचक है । दृष्टि केवल वर्तमान पर केन्द्रित रहती है । इस मत के अनुसार वर्तमान स्थिति का यथार्थ बोध ही आधुनिकता है । वैसे समसामयिकता का आरंभ दूसरे विश्व युद्ध के साथ ही माना जाता है । युद्ध की विभीषिका से मानव मन आहत हो जाता है । दूसरी ओर विज्ञान विकास भी करता है, तीसरी ओर देशों की भौतिक सीमाएँ प्राय: टूट जाती है । दो विरोधी विचार धाराएँ राष्ट्र के नाम पर युद्ध के मैदान में आ खड़ी होती हैं । संत्रास की कटुता में मानव जीवन घुटने लगता है । मानव की विजय यात्रा अंतरिक्ष तक पहुँचती है । मानवीय मूल्य निरर्थक होकर खो जाते हैं । इस स्थिति में अतीत मूक हो जाता है । अनागत अनिश्चित रहता है । वर्तमान क्षणों का अनुभव एक मात्र सत्य के रूप में बच रहता है । अस्तित्ववादी दर्शन मृत्यु के प्रश्न को लेकर उपस्थित होता है । परंपराएँ ठिठक जाती हैं । संबंध विकृत हो जाते है या टूट ही जाते हैं । मनुष्य अपनी सार्थकता के संबंध में चिंतित होकर निरर्थकता बोध से ग्रस्त हो जाता है । अलगाव आत्म निर्वासन अकेलापन सब जैसे जीवन के रस को चूसने लगते हैं । कहा जाता है कि यही सब आधुनिक है । यही नव चिंतन की धारा है जिसको आधुनिक के रूप में व्याख्यायित किया जाता है । किन्तु वास्तव में विघटन, अगति और निराशा ही आधुनिकता नहीं है ।

एक प्रकार से यह काल सापेक्ष या समसामयिक हो सकता है । इसके संबंध में एक अभिमत इस प्रकार है : " समसामयिक से हमारा आशय है देश काल के दायित्व के साथ-साथ उस क्षण की गहरी तीव्रानुभूति की ग्राह्मता, जो परिस्थितियों से उपजती है, बिना किसी पूर्वाग्रह के सामयिक औचित्य में व्यक्त होती है ।[1] " वास्तव में समसामयिक होना आधुनिक होने का प्रमाण नहीं है बल्कि यह कहना चाहिए कि आधु-

---

1. लक्ष्मी कान्त वर्मा, नई कविता के प्रतिमान, पृ. - 265.

निकता जब सृजन की प्रक्रिया में आती है तब वह समसामयिक की काल सीमाओं का अतिक्रमण करके काल जीवी न होकर कालजयी होने की साधना मे लीन होता है । कालजयी होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सर्जक अपने परिवेश से कट जाए या उसके साथ अपनी प्रतिबद्धता खो बैठे । उसे सीमित से असीम की तलाश करनी होती है जिस परिवेश को वह जी रहा है उसके प्रति वह समर्पित होता है । परिवेश के प्रति सर्मपण अपनी ससीमता को असीमता बनाने की आकांक्षा ही लेखक के सृजन को सार्थक बनाता है । उसकी संवेदनात्मक संपृक्ति देश काल की सीमाओं में घुटना नहीं चाहती । यह कहा जा सकता है कि कालजयी होना शाश्वत होना ही है । वास्तव में इन दोनों में कोई मूल भूत अन्तर्विरोध नही है । महादेवी वर्मा के शब्दो में " सम - सामयिक और शाश्वत परस्पर विरोधी स्थितियाँ नही है उनमें है और " होना चाहिए " का अन्तर मात्र है । अनेक समसामयिक अतीत बन कर ही शाश्वत का सृजन करते हैं । एक इतिवृत है और दूसरा अनेक इतिवृत्तों के अनुभव संघात से निर्मित भावनात्मक लक्ष्य है । कोई भी व्यापक लक्ष्य स्वयं तक पहुँचानेवाले साधनों का विरोध नहीं करता । साधनों का अस्तित्व समसामयिक परिस्थितियों में रहता है । "[1] इस विचार में समसामयिक की व्याख्या शाश्वत तथा साधन एवं साध्य के अनुक्रम में की गई है ।

जब आधुनिकता के साथ रख कर समसामयिक को देखा जाता है तो आधार आधेय के संबंध की स्थापना होती है । समसामयिकता आधुनिकता को सृजन की संभा-वनाओं से पूर्ण आधार प्रदान करती है किन्तु चैन की वृत्ति सक्रिय रहती है । समसा-मयिक के उन सूत्रों से इसका कोई समझौता नहीं है जो मनुष्य के विकास की गति को अवरूद्ध करते है । गति के सहायक तत्व ही सृजन की प्रक्रिया में आ सकते हैं । यही व्यक्ति के समसामयिक होने की विवशता और यान्त्रिकता समाप्त हो जाती है और एक नया अर्थ अस्तित्व ग्रहण करने लगता है । डा॰नेमिचन्द्र जैन का मन्तव्य इस संबंध में दृष्टव्य है : " वास्तव में युगीन भाव चेतना को पहचान ने का प्रयत्न प्रत्येक जागरूक

---

1॰ साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध पृ॰ 28॰

व्यक्ति का धर्म है । किसी के ऊपर एहसान नहीं । इतिहास का महत्वपूर्ण क्षण किसी के पहचानने के लिए रुकता नहीं । व्यक्ति की अपनी नियति इस पहचान से जुड़ी होती है ।[1]

इस प्रकार आधुनिक और समसामयिक होना एक बात नही है । जहाँ समसामयिकता एक काल खण्ड की सीमाओं में निबद्ध होकर व्यक्ति के अनुभवों और उसकी चेतना को सीमित करती है वहाँ आधुनिकता कालगत नियति से बद्ध होने के लिए विवश नहीं है । लेखक की अनुभूति और सृजन शीलता कालगत अनुभवों को कालातीत बनाते है किन्तु इन सबको प्रामाणिकता सामयिक परिप्रेक्ष्य में ही मिलती है ।

उदाहरण के लिए कोई भी विगतयुग समसामयिक रहा ही होगा और कोई भी विगत युग और समसामयिकता का रचनात्मक संबंध भी रहता है । भक्ति युग अपने ऐतिहासिक काल खण्ड की हलचलों और पीड़ाओं को लिए हुए प्रकट हुआ किन्तु उसकी वैचारिक और सृजनात्मक व्याप्तियाँ अतीतोन्मुख भी रही और भविष्योन्मुख भी किन्तु ये व्याप्तियाँ अपने युग की जमीन में ही उगी, बढ़ी और फैली । इसी प्रक्रिया में उस काल की आधुनिकता पैदा हुई और आज भी अध्येय हो सकती है ।

अंत में यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता कोई एक जीवन मूल्य नहीं है । यह जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक, सतर्क और सचेतन दृष्टि है यह समसामयिक जीवन प्रवाह को उसकी गति के रूप में ही ग्रहण करती है और प्रश्नाकुलता के द्वारा उसको मूल्य में परिणत करती है । आधुनिकता में परिवेश की सजगता भी है । समसामयिक की चेतना के साथ इसमें आत्म चेतना की भी सजगता रहती है ।[2]

---

1. बदलते परिप्रेक्ष्य पृ. 46.
2. इन्द्रनाथ मदान : निबन्ध और निबन्ध - पृ. 152.

2.52. आधुनिकता और नवीनता :-

जब आधुनिकता पर विचार किया जाता है । तब एक और शब्द हमारे सामने आ जाता है नवीनता । किन्तु नवीनता का जितना घनिष्ठ संबंध समसामयिकता से है उतना आधुनिकता से नहीं । जो नवीन है वह समसामयिक होगी ही किन्तु जो नया है वह अवश्य रूप से आधुनिक नहीं । नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है - " अनुभूति और दृष्टि की मौलिकता और व्यक्ति सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति के रूप और शिल्पगत तत्वों की नवीनता श्रेष्ठ साहित्य का सर्वथा अनिवार्य लक्षण है चाहे वह नवीनता परंपरागत तत्वों के नए समूह में ही क्यों न निहित हो । इस अर्थ में नवीनता किसी भी युग के तथा लेखक कृतित्व का बुनियादी मूल्य है जिसके बिना रचना रचना नहीं होती । निरी पुनरावृत्ति अनुकृति या केवल शब्द जाल मात्र रह जाती है । "[1] वास्तव में नवीनता केवल रूप और शिल्प तक सीमित नहीं है साहित्य वस्तु की नई भंगिमा और उसका नया चरित्र भी इससे ज्ञापित होता है । यह नवीनता रूढ़ या परंपरा बद्ध से सृजन को अलगाती है । आधुनिकता का नया वाहन तैयार होता है और इस रूप में यह एक नई अभिरुचि को भी जन्म देता है । एक शब्द में प्राचीनता से अलगाने वाला तत्व ही नवीनता है । मनुष्य के चिरन्तन प्रश्नों से कटी हुई अर्थ हीन परंपरा को आधुनिकता से अलगाती है । इस कथन से आधुनिकता और नवीनता का संबंध स्पष्ट हो जाता है ।

यहीं यह प्रश्न उठता है कि प्राचीनता और आधुनिकता को यह किस प्रकार अलगाती है । यद्यपि यह विरोधाभास लगता है फिर भी यह कहा जा सकता है कि नवीनता प्राचीन की ओर बढ़ कर तत्कालीन नवीनता से संबंध जोड़ती है कभी-कभी नवीन उपादान प्राचीन के साथ जुड़कर एक विशिष्ट प्रकार की नवीनता को जन्म देता है ।

---

1. अज्ञेय : अद्यतन, पृ. 168.

नेमिजी इस बात को यों स्पष्ट करते हैं : " मौलिकता का रहस्य किसी सर्वथा नवीन या अभूतपूर्व की उद्भावना में नहीं अपितु जीवंत अनुभूति के भीतर है जो किसी प्राचीन भाव को भी युगीन और वैयक्तिक सत्य के साथ एकाकार कर सकती है ।"[1] इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन का नवीकरण भी आधुनिकता की एक प्रक्रिया है ।

नवीनता और समसामयिकता का सामंजस्य आधुनिकता को विकासशील बनाता है । आधुनिकता की एक अतिरिक्त विशेषता नवीनता और नवीकरण है । लेकिन यह सब साधन के अन्तर्गत है ।

## 2.53 आधुनिकता और प्रासंगिकता :-

किसी सर्जक के आधुनिक या प्रगतिशील विचारों के समसामयिकता मूलक आधार इतिहास के अग्रगामी खण्डों से जब बहुत दूर पड़ जाते हैं तब बौद्धिक पीड़ा जन्म लेती है जो वर्तमान समसामयिक के साथ तत्कालीन आधुनिकता से संबंध जोड़ने के लिए लालायित हो उठती है जब पुराने साहित्यकारों के स्मृति संबंधी समारोह होने लगते हैं और तुलसी चतुश्शती तथा सूर पचंशती जैसे उत्सव किए जाते हैं तब इसी बौद्धिक पीड़ा की प्रेरणा को प्रेरक मानना चाहिए । सूर और तुलसी की विचार धारा अपने समसामयिक परिवेश से जुड़ी हुई थी । प्रासंगिकता यह देखना चाहती है कि आज की समसामयिकता से जुड़ने की क्षमता उन विचार श्रेणियों में है या नहीं । अथवा हम यह देखना चाहते हैं कि वे कवि आज भी कितने समसामयिक हैं । यह एक ऐतिहासिक परीक्षण का क्रम है जिसमें होकर प्रत्येक कवि या लेखक को किसी न किसी समय गुजरना ही पड़ता है । प्रस्तुत अध्ययन में कहीं न कहीं यह प्रक्रिया भी सन्निहित है । एक प्रकार से प्रासंगिकता वह निकष है जो आधुनिकता का निर्णायक होता है । अज्ञेय के अनुसार : " प्रासंगिक

---

1. नेमिचन्द्र जैन बदलते प्रतिमान पृ. 79.

अथवा रेलेवेंट वह है जो विषय के संदर्भ में अमुक कालावधि के सर्दभ में अमुक में भी अर्थवत्ता रखता हो । "[1] यह अर्थवत्ता एक सुनिश्चित सामयिक परिवेश तक सीमित होती है । अतः यह स्वयं किसी बोध या दृष्टि का परिचायक शब्द नहीं है जबकि आधुनिकता एक बोध है जो जीवन और परिवेश के द्वन्द्व से अस्तित्व ग्रहण करता है ।
" प्रासंगिकता का यह निकष आधुनिकता से मिल कर एक रूप अवश्य हो जाता है । जो वैसा नहीं करता वह प्रासंगिक नही है । "[2] यह वह बिन्दु है जहाँ आधुनिकता और प्रासंगिकता एक रूप हो जाते है । आधुनिकता कवि के द्वारा सर्जनात्मक माध्यम से मानव की विमुक्ति की निरंतर तलाश है । विमुक्ति सृजन की भी शर्त है और उसका निकष भी । तात्पर्य यह है कि प्रासंगिकता एक प्रसंग में आधुनिकता की पर्याय बन जाती है । इसी की खोज और स्थापना के लिए हम विगत सर्जकों के स्मृति समारोह मनाते है और आधुनिक बौद्धिक साधनों से उसमें निहित आधुनिकता का फिर से आविष्कार करते हैं ।

2•6 आधुनिकता एक वाद :-

जब तक आधुनिकता को मानव मन का काल निरपेक्ष और सहज विकसित गत्यात्मक रूप मान्य रहा तब तक इसकी व्यावहारिक क्षमताएँ बहुत अधिक रहीं किन्तु होता यह है कि यह भी एक वाद का रूप ले लेता है । वाद बनते ही अनेक पूर्वाग्रह या दुराग्रह इसकी गत्यात्मकता को सीमित कर देते हैं । इसके परिणाम स्वरूप आधुनिकता को वर्तमान काल खण्ड से संबंद्ध कर दिया जाता है और इसका प्रयोग क्षेत्र वर्तमान को मान लिया जाता है । आधुनिकतावाद अतीत के प्रति असहिष्णु हो जाता है । अतीत और वर्तमान के बीच जो एक वैचारिक संबंध हो सकता है या किसी सजीव और सार्थक परंपरा का सूत्र दोनों युगों को जोड़ने वाला हो सकता है उसको अस्वीकृत कर दिया जाता है अतीत एक प्रकार से निरर्थकता का प्रतीक बन जाता है । यह पूर्वाग्रह बहुत

---

1• अद्यतन पृ• 161•

2• अज्ञेय : अद्यतन : 165 – 65•

घातक होता है । यह भुला दिया जाता है कि अतीत और वर्तमान का पूर्ण विच्छेद इतिहास में न कभी हुआ है और न कभी हो सकता है । यह सत्य है कि इतिहास में बदलने की गति अप्रतिहत होती है । किन्तु यह याद रखना चाहिए कि इसके बावजूद भी कुछ मूल तत्व बने रहते हैं । तत्वों की यह सार्वदेशिकता किसी आध्यात्मिक कारण से नहीं होती बल्कि यह इसलिए होती है कि मानवीय जीवन की नीवें सुदृढ़ है उनके ऊपर की अधिरचना बदलती है । अतीत के कुछ तत्व आधुनिकता की दृष्टि से अप्रासंगिक अवश्य हो जाते है । उनका अंध समर्थन अनाधुनिक होता है ।

कभी-कभी भ्रम वश आधुनिकता का प्रत्यय बाहरी आधारों के द्वारा परिभाषित होने लगता है तब वह एक ढोंग व दिखावा रह जाता है जो मानव मन का एक रोग है ।[1] आधुनिकता एक विशिष्ट मनो संस्कार है ।

## 2·7 आधुनिकता और साहित्य :-

आधुनिकता के संबंध में जब हम विचार करते हैं तो साहित्य भी दृष्टि पथ में आ जाता है । साहित्य के क्षेत्र में यह एक आंदोलन है । इसका लक्षण है परंपरागत शास्त्रीय रूपों और अभिव्यक्ति प्रणाली से विच्छेद । इसके अन्य लक्षणों में प्रयोग, निर्भीकता और मौलिकता पर बल बतलाए जा सकते हैं और इसमें प्रयास रहता है - आधुनिक विषयों पर विचार करने और उनको प्रेषित करने का ।[2]

एन्साइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइंसेज में आधुनिकता की पहचान इस प्रकार कराई गई : " आधुनिकता वह प्रवृत्ति है जो परंपरागत मूल्यों को नूतन की तुलना में गौण सिद्ध करती है और प्रतिष्ठित प्रचलित मन्यताओं तथा अभिनव और नवीन प्रक्रिया

---

1· अमृत राय : " सहचिंतन " पृ· 30·

2· Webster - Third New International Dictionary Volume - P. 1452.

की अपेक्षाओं में समन्वय स्थापित करती है । इस प्रवृत्ति के दो परिणाम हो सकते हैं : रूढ़िवादी और क्रान्तिकारी । "[1] वास्तव में आधुनिकता में उसी परंपरा का विरोध है जो एक रूढ़ि बन गई है और जीवन में उसकी सार्थकता और जीवंतता समाप्त हो गई है । आधुनिकता अनुपयोगी परंपरा की उपेक्षा करती है और उपयोगी परंपरा को ग्रहण करती है । साहित्य में जीवन्त परपराएँ सदा ही मान्य रही हैं ।

2.8 आधुनिकता और वर्तमान :-

आधुनिकता और वर्तमान के बीच एक ऐतिहासिक क्रम का संबंध है अर्थात ये दोनो ही ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाएँ हैं । ऐतिहासिक अनुभव की ये दो परिणतियाँ भी कही जा सकती हैं ।

वर्तमान युग को कई विद्वानों ने कई नामों से अभिहित किया है । सोरोकिन ने इसे संक्रान्ति का, मानवेन्द्र राय ने क्रान्ति का तथा मार्क्स वादियों ने समाज वाद का समय कहा है । किन्तु ये सामाजिक प्रक्रियाएँ है जो केवल वर्तमान ही नहीं अन्य काल खण्डों की पहचान भी बनाती है । आधुनिक और वर्तमान के बीच एक संबंध है वर्तमान युग आधुनिक युग की परंपरा है ये दोनों ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाएँ हैं । दूसरे शब्दों में वर्तमान सभ्यता का काल है जो संस्कृति के काल से भिन्न है । संक्रान्ति तब उपस्थित होती है जब मानवता अपनी विशाल बौद्धिक परंपरा से कट जाती है आदर्श धूमिल पड़ जाते हैं ।

---

1. होरेस एम, केलेन : इन साइक्लोपीडिया आर्फ दि सोशल सांइसेज वोल्यूम - 10. पृ. - 564, 656.

आधुनिकता और वर्तमान को एक और आधार पर अलग किया जा सकता है । रिनेसा ने संक्रान्ति की ग्रंथि को सुलझाने के लिए तर्क शीलता का प्रयोग किया । पूँजीवाद ने स्वच्छन्दता का आधार पकड़ा और वर्तमान संक्रान्ति क्रान्ति का उपयोग कर रही है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आधुनिकता, वर्तमान का पर्याय नहीं है और अतीत का विरोध भी नहीं । आधुनिकता का एकपक्ष वह है जो बीते हुए अतीत के साथ संभागी बनता है और दूसरा वह है जो उसकी अपनी देन है । यह उसके निजी गुणों से उत्पन्न होती है । इस दूसरी प्रक्रिया में भी परंपरा और अतीत जमीन को तैयार करती है आगे के लिए खाद बनती है । काल संबंधी इसी उलझन के कारण आधुनिकता को कालजयी या काली कालातीत मानना श्रेयस्कर हो जाता है । निरंतर नए होते चलने की गतिशीलता या चेतना आधुनिक कही जाएगी । इसी दृष्टि से आधुनिकता का केन्द्र परिवर्तन शीलता है ।

# भक्ति लोक धर्म

## 2. भक्ति और धर्म

(साहित्यिक परिप्रेक्ष्य: साहित्य की जनवादी भूमिका)

1. लोक धर्म और पुराण
2. भक्ति धर्म : समाजवादी दृष्टि
3. भक्ति और सामान्य जनजीवन
4. साहित्य मूलक रहस्यवाद : नव धर्म: नव सृजन
5. भक्ति धर्म : विशेषता

   भक्ति और अन्य धर्म

7. धर्म और साहित्य

0• प्रास्ताविक :

आधुनिक के लक्षणों में एक धर्म निरपेक्षता भी है । किन्तु धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्महीन होना नही है । इसका अर्थ केवल इतना है कि यदि धर्म मानव की प्रगति और उत्थान में बाधक होता है तब या तो उसका युगानुकूल नव-संस्कार करना, यदि यह संभव नहीं है तो उसको छोड़ना होगा । भक्ति साहित्य जिस भक्ति तत्व को लेकर चला वह रूढ़ अर्थ में धर्म नहीं है । यह धर्म से अनुप्राणित एक जीवंत गत्यात्मक तत्व है । इसने रूढ़िवादी धर्म को लोक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने में अपना योगदान दिया । इसी भक्ति तत्व ने मध्ययुगीन साहित्य की एक धारा को लोकोन्मुख किया और भक्ति

साहित्यकों ने इसी तत्व को लोकधर्म के रूप में जन-जन तक फैलाया । लोक धर्म का विरोध आधुनिकता और मानववाद से नहीं है । वर्तमान युग में पुनर्जागरण और सुधारवादी आंदोलनों की भूमिका में भक्ति तत्व किसी न किसी रूप में समाया रहा । प्रस्तुत अध्यय में भक्ति साहित्य और लोक धर्म में भक्ति के उस तत्व को स्पष्ट किया गया है जिसके कारण भक्ति साहित्य आधुनिक प्रतिमानों और मूल्यों से जुड़ जाता है ।

## 1. लोक धर्म और पुराण : अन्तरावलंबन :

जटिल रूढ़ और उच्च वर्गीय धर्म व्यवस्था के लोक धर्म में परिणत होने के क्रम में भक्ति धर्म एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कड़ी है । लोक धर्म ने पौराणिक साहित्य के सहारे रूप ग्रहण किया । पौराणिक धर्म परंपरा बौद्ध, जैन व लोक धर्म को भी यह रूप देने लगी थी । बौधिसत्व, बुद्ध और तीर्थंकर भक्ति के विषय हो गए । यह हिन्दू पुराण वाद के प्रभाव से ही हुआ ।[1] एक प्रकार से यह भक्ति का मानवीकरण था । बौद्ध जैन परंपरा में धर्म से ईश्वर की अस्तित्व भावना का लोप हो गया और धर्म मानव केन्द्रित हो गया । आरंभ में साधक के आचार की प्रधानता थी, पीछे इसका भी लोप हो गया ।

इस पुराण परंपरा का प्रतीक है -- व्यास । पद्म पुराण में व्यास की वंदना में कहा गया है - जिन्होंने व्यास रूप से समस्त धर्मों को उद्धृत किया, जगत कल्याण के लिए उनको पुराणों में व्यक्त किया, सहित उस नारायण की हम वंदना करते हैं ।[2] इसी धार्मिक साहित्य की परंपरा से लोक धर्मिता का पलड़ा भारी हुआ । महाभारत ने वैष्णव धर्म को लोक धर्म ही माना है ।

---

1. 2500 यियर्स आफ बुद्धिज्म - पृ. - 349 - 50.
2. पद्म पुराण, क्रिया योग सार, 1. 3.

अनात्मवादी बौद्ध धर्म, जटिल आचार की शुष्कता में और वैष्णव मतवाद पांचरात्र संहिताओं के शब्द विवेचन में लिपटा । जटिल विधि विधान में लोक धर्मिता शिथिल हुई । इस ठहराव की स्थिति से हिन्दू धर्म पुराण का तथा बौद्ध धर्म महायान का सहारा लेकर लोकोन्मुख हुए ।

देवी भागवत में कर्म-ज्ञान और भक्ति में से भक्ति को सुलभ-सरल बतलाया गया है ।[1] भागवत के अनुसार भक्ति के द्वारा चरम पुरूषार्थ की प्राप्ति होती है ।[2]

2. भक्ति धर्म : समाजवादी दृष्टि :

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भक्ति साहित्य का प्रेरक तत्व धर्म है और धर्म ही इस साहित्य की रचना धर्मिता का मुख्य आधार है । धर्म शब्द की गंध मिलते ही प्रगतिवादी आलोचक इस साहित्य धारा से चिढ़ जाता है और भक्त कवि (विशेष रूप से तुलसी) के लिए कुछ समाज वादी गालियाँ गढ़ता है, " सामन्त वाद का पोषक कवि, " धार्मिक कवि ", " अंध - विश्वासी ", जाति वादी, पोंगापंथी कवि, ब्राह्मण वाद और वर्ण व्यवस्था का अंध समर्थक कवि इसी की पृष्ठ भूमि में मार्क्सवाद की धर्म संबंधी धारणा है ।

मार्क्स का कथन यह है -- धर्म, पीड़ित प्राणी की कराह है, वह इस हृदयहीन जगत का हृदय है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है, यह जनता के लिए अफीम है । इस कथन के अंतिम अंश को अधिक प्रचारित

---

1. देवी भागवत - 7. 37. 2. 3

2. भागवत 11. 20 : 32

किया गया है और इसी के आधार पर मध्यकालीन भक्ति साहित्य की उपेक्षा भी की गयी है । यह सत्य है कि " मध्य युग ने धर्म दर्शन के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों, दर्शन, राजनीति, विधि शास्त्र को जोड़ दिया और इन्हें धर्म दर्शन की उपशाखाएँ बना दिया । इस तरह उसने हर सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिए विवश किया - एंगेल्स का यह कथन चौदहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के काल के भारत पर भी समान रूप से लागू होता है ।[1] शोषक वर्ग जनता की धार्मिक भावना का नाजायज फायदा उठाते हैं और धर्म को एक ऐसा पेशा बना देते हैं, जिसमें पड़कर जनता जीवन के बुनियादी और सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेतन नहीं हो पाती । किन्तु जन-मन को इतनी मज़बूती से पकड़े रहने वाली और उसकी अटल गहराइयों में समाई हुई धार्मिक भावना को समाजशास्त्री उपेक्षित नहीं कर सकता । उसे वह सही सामाजिक संदर्भ में रखकर इस प्रकार व्याख्यायित करता है कि जनता को, समाज धार्मिक को, सही समझ मिल सके । मार्क्स के संकेत को के दामोदरन ने इस प्रकार दुहराया है, " अपने विकास की एक विशेष अवस्था में धर्म सामाजिक गुण प्राप्त कर लेता है और इतिहास की आर्थिक और सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला बन जाता है । जिस प्रकार वेद के प्राकृतिक-देव प्रतीक, धीरे-धीरे सामाजिक से जीवंत होते गए -- उसी प्रकार पौराणिक या अवतारी प्रतीक मध्यकालीन भक्ति साहित्य में सामाजिक गुणों को ग्रहण करने लगे । धर्म की मार्क्सवादी परिभाषा को इसी परिप्रेक्ष्य में रखकर देखें, " धर्म एक साथ ही मस्तिष्क की शोकाकुल अवस्था की अभिव्यक्ति है और ही मस्तिष्क उसके विरूद्ध विक्षोभ भी । पहली दशा में असमर्थता और उत्पीड़न के प्रति मन को बांधने, दु:ख और दीनता तथा समाज की आत्माहीन परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने की भावना परिलक्षित है, जबकि दूसरी दशा उत्पीड़न तथा सामाजिक असामानता का अंत करने की अभिलाषा की द्योतक है । इस आंतर्विरोध के केवल एक पहलू पर बल देना मार्क्स के वक्तव्य को तोड़ने-मरोड़ने के समान है ।"[2]

---

1. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा - पृ. 326.
2. - वही - - पृ. 76.

साथ ही धर्म का भारतीय इतिहास, संसार के धार्मिक इतिहास से विशिष्ट भी रहा । अन्य अधिकांश देशों की भाँति भारत में धर्म कभी प्रगति के मार्ग में आड़े नहीं आया । दामोदरन ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है, " भारत में धर्म पर आस्था सदा सामाजिक प्रगति के लिए प्रतिकूल नहीं रही । वास्तव में इसने प्राय: उत्पीड़न और शोषण के विरूद्ध प्रतिरोध का रूप धारण किया ।" [1] इस पर टिप्पणी करते हुए शिव कुमार मिश्र ने लिखा है, " प्राय: उनकी {भक्त कवियों की} धार्मिक आस्था को उसके सही संदर्भ में न देख पाने के कारण अथवा उनके अतर्वि-रोध को सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित न कर पाने के कारण मात्र उनकी धार्मिक सम्पृक्ति के नाते ही हम उन्हें प्रतिगामी तथा पतनशील मान बैठते हैं । यह एक निहायत खतरनाक किस्म का अतिवाद है, जिससे हमें बचना चाहिए ।" [2] वास्तव में यह एक चुनौती भरा आमंत्रण है समाज शास्त्रीय समीक्षकों के लिए वे भक्ति साहित्य को नए सिरे से समझें और उसकी पुनर्स्थापना करें । इस संभावना पूर्ण साहित्य निधि के प्रति निष्क्रीय उदासीनता आत्मघात जैसी है और इससे सही सोच का दिवालियापन ही जाहिर होता है ।

मार्क्स और मार्क्सवाद की धर्म के प्रति क्या दृष्टि है, इसको स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए । मार्क्सवाद धर्म का विरोध नहीं करता । किन्तु उसकी दृष्टि से धर्म का राजनीति और अर्थनीति से कोई संबंध नहीं है । इन क्षेत्रों में धर्म का कोई भी हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं हो सकता । न यह राजनीति का आधार ही हो सकता है और न उसका अंग ही । कौर्क्सवादी सिद्धान्त में धर्म और मान्यताएँ नितांत वैयक्तिक हैं । सभी समाजवादी देशों में नागरिकों को धर्म की छूट है । किन्तु धार्मिक मतवाद का कोई प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता । इससे परस्पर द्वेष और विग्रह बढ़ता है । इसके लिए प्रचुर ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है । इससे सामाजिक एकता भंग होती है । सोवियत रूस में ही हर जगह गिरजा घर, मस्जिदें, बौद्धमत

---

1. के॰दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा - पृ॰ 76॰
2. भक्ति काव्य और लोक जीवन - पृ॰ 4॰

है । पर, ऐसा अवसर नहीं दिया जाता कि धर्म मनुष्य के शोषण का आधार या शस्त्र बन सकें । " पूँजीवाद प्रत्येक वस्तु की भाँति धर्म को भी खरीद-बिक्री तथा पैसा और मुनाफा कमाने की वस्तु मानता और बनाता है । पैसा देकर कर्मकाण्ड कराने और मंदिरों तीर्थों, पूजा-गृहों आदि में धन की चढौतियाँ दान दीक्षणा आदि अर्पित करने के पीछे यही प्रवृति मुख्य है । इसलिए इन स्थानों की आर्थिक हैसियत और क्षमता के अनुसार ही व्यक्ति को धार्मिक सुविधाएँ उपलब्ध होती है । जिन सुविधाओं और अधिकारों से निर्धन एवं शोषित जन वंचित ही रखें जाते है । किन्तु समाजवादी व्यवस्था या मार्क्सवाद इस दूषित और अपमान जनक साजिश को तोड़ता है । " 1

वास्तव में भक्तिकोई धर्म नहीं है । यह तो एक साधना है और अनु - भूतियों का एक पुंज है । सिद्धान्तवादी या मताग्रही इस लाभ के साथ सूफी धारा प्रवाहित रही जिसको हठ धर्मिता का कोपभाजन बनना पड़ा । सूफीमत को इस्लाम के समान धर्म नहीं माना जाता । इसी प्रकार ईसा पूर्वी धर्म के साथ रहस्यानुभूतियों का सह अस्तित्व रहा । भक्तिकी स्थिति ऐसी है कि हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, धर्मावलंबियों ने भी इसको स्वीकार किया । हिन्दू धर्म की प्रकृति भी बहुत उदार और सहिष्णु रही । भक्ति आन्दोलन की पीठिका में चाहे धर्म के सूत्र हों, पर व्यवहार और चरित्र में भक्ति एक सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था है, जिसका दूसरा छोर इतर रहस्य को छू लेता है ।

भक्त कवियों के द्वारा रचित ग्रंथों को धर्म ग्रंथ नहीं कहा जा सकता है । अवतार - कथाओं को भी धर्म कथाओं के रूप में नही कहा गया है । भक्ति काव्य अपनी कथाओं के रूप में नहीं कहा गया है । भक्ति काव्य अपने समग्र अर्थ में धार्मिक साहित्य भी नहीं ठहरता । धार्मिक प्रेरणाओं और अभिप्रायों को सामाजिक उपकरणों

---

1. ललित मोहन अवस्थी, नव प्रगतिवाद - पृ. 66.

से इस प्रकार संस्कृत किया गया है कि सामाजिक मूल्य ही अधिक सवाक है । धर्म की परिभाषा ही बदल गई - " परहित सरिस धर्म नहीं भाहे । " धर्म की इस परिभाषा को कोई वर्ग शोषण का अस्त्र नहीं बना सकता । इस धर्म में मानव की एकान्त प्रतिष्ठा हुई --

नरतन सम नहीं कवनिउ देही ।
जीव चराचर जाचत जेही ।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी
ज्ञान विराग भगति सुभ देनी । ‖ तुलसी मानस ‖

यह धर्म विराग पर आधारित न होकर रागात्मक था । इसीलिए समाज के साथ जुड़ने और जुड़े रहने की प्रेरणा भी इसमें निहित थी ।

3. भक्ति : सामान्य जन-जीवन :

जो भक्ति दर्शन भक्ति साहित्य का उपजीव्य है, वह जन साधारण की मानसीक संरचना और उसकी प्रकृति के अनुकूल है । बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि भक्ति जन सामान्य के रागात्मक धरातल से ही उपजी है । जन मानस मूलत: रागात्मक, रागप्रेरित या राग केन्द्रित होता है । ज्ञान योग और कर्म काण्ड ‖ रिचुअल्स ‖ सामान्य जन की घनीभूत राग प्रवणता के त्याग और सुविचारित उन्नयन से संबंधित दर्शन है । भक्ति सामान्य जन मानस के रागतत्व का ही उच्चतर रूपान्तरण है । ज्ञान साधना में उन्नत विवेक ‖ सत, असत बोध ‖ त्याग और भक्तिकामना अनिवार्य तत्व है : एकाग्र और ध्यान परक साधना की इसमें आवश्यकता है । सामान्य जन-स्तर अपने उत्कट और नैसर्गिक रागात्मक आग्रहों से अभिभूत होने के कारण

राग का अतिक्रमण करने वाली साधना के योग्य नहीं है । कर्मकांडीय उलझनों और आनुष्ठानिक यज्ञों के साथ भी राग प्रवण जन मानस का तादात्म्य नहीं हो पाता । मानव मनोविज्ञान भक्ति पद्धति के समीप है ।

भक्ति पशु धरातल की वृत्तियों के त्याग की बात भी नहीं कहती । इनका उदात्तीकरण ही भक्ति का काम्य है । राग और प्रेम के आवेगों का तिरस्कार भी भक्ति में नहीं है । इनका समर्पण अपेक्षित है अपने इष्ट को समर्पण । इष्ट देव परम सौन्दर्य, परम प्रेम और अगाध दया का प्रतीक है ।

भक्ति कब पैदा हुई ? इस प्रश्न का उत्तर इतिहास नहीं दे पाएगा । वह केवल यह बतला सकता है कि मानव-विकास की किन परवर्ती स्थितियों में भक्ति की प्रतिष्ठा हुई और उसने दर्शन या आन्दोलन का रूप किन ऐतिहासिक युगों में ग्रहण किया । भक्ति का उदय मानव हृदय का उदय साथ-साथ हुआ । इस उदय के काल बिन्दु पर इतिहास सप्रभाव मत नहीं दे सकता । भक्ति ने एक निश्चित संधारणा का रूप पीछे ग्रहण किया । इतिहास केवल इस मुद्दे पर विचार कर सकता है । भक्ति का मूल तत्व राग-श्रद्धा है जो एक आदिम तत्व है । यह जीवन की पहली शर्त है ।

मानस मन के मूल और आदिम तत्व " श्रद्धा " की स्तुति वेद ने भी की है ।[1] यह तत्व उपनिषदों के द्वारा भी स्तुत्य है ।[2] यह मानस से उत्पन्न जीव है ।[3] श्रद्धा का शाब्दिक अर्थ है - हृदय को रखना "[4] हृदय को किसी परा

---

1. ऋ॰ 10-15, 11-12, भगवत कुमार गोस्वामी, भक्तिकल्ट इन एन्शयेन्ट इंडिया (1965) पृ॰ 3॰
2. छान्दोग्य - 6-12-3, कठ॰ 1 - 13, तै॰ 1॰11॰3
3. वृहदारण्यक॰ 1॰5॰3
4. आर॰एन॰व्यास, द भागवत भक्ति कल्ट॰ पृ॰ 2॰

मानवीय शक्ति पर स्थापित करना – यह अर्थ विकास है । आरंभ में इसका अर्थ होगा – भावोद्गम । श्रद्धा में काम प्रेम का तत्व अन्तर्भूत है । प्रेम का उद्दिक्त रूप ही भक्ति है । श्रद्धा और भक्ति के बीच घनिष्ठ संबंध है ।[1] वास्तव में श्रद्धा का चरम विकास ही भक्ति है । यही भक्ति भाव परामानवीय और परा-प्राकृतिक शक्ति को समर्पित होकर भावुक और भाव्य को एक दूसरे के पास लाता है । इस संदर्भ में पराप्राकृतिक तत्व मानवीय होता जाता है ।

श्रद्धा अन्तर्ज्ञान है । ज्ञान योग और यज्ञ की भाँति इसको किसी बाह्य प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है । न इसके लिए कोई शास्त्र ज्ञान या शास्त्रीय अनुशान ही आवश्यक है ।

भक्ति का मूल भज् है । भज् का अर्थ है "सेवा करना ।"[2] इसका साथ " क्तिन् " प्रत्यय मिल कर इसको भाववाचक संज्ञा में परिणत कर देता है । इस प्रकार भक्ति सेवा त्रिकोपणात्मक साधना बनी सेवा-सेवक-सेव्य । यह साधना सांसारिक विकारों से मुक्ति दिलाती है ।[3] सेव्य " भगवान " है । भगवान से उद्भूत या उसके अंशरूप जीव मात्र की सेवा भी इससे व्यंजित होने लगती है । इसी में इस अर्थ की सामाजिकता अन्तर्भूत है । जीव जीव भाव बद्ध होकर आनंन्द से वंचित हो गया है । वह विविध दु:खों में आबद्ध हो गया है । इस पीड़ा से लोक को मुक्त करना ही जनता – जनार्दन की सेवा है जो इस प्रकार की सेवा करता है वही वैष्णव है ।

---

1· रामचन्द्र शुक्ल, श्रद्धा और भक्ति, चिंतामणि, भाग – 2·

2· " भज सेवायाम् "

3· सेव के – सेव्य भाव बिनु भव तरिय उरगारि – तुलसी: मानस : उत्तर·

वैष्णव जन तो तेणे कहिए
जे पीर पराई जाणे रे ।

जो इस साधना में लगता है वही " पीर " ‖ गुरु, महान ‖ है ।

कबिरा सोई पीर है जो जाने पर पीर ।
जो पर पीर न जानई, सो काफर बेपीर ।। -- कबीर

भागवत ने भी यही मत व्यक्त किया है ।[1] तुलसी के " सिया राम जनता से भिन्न नहीं हैं, " सियाराममय सब जग जानी " और इन्हे खिन्न, दीन या पीड़ित प्रिय है, " बंदौं सीता राम पद जिन्हहि के परम प्रिय खिन्न । "

सेवा के पीछे भगवत्प्रेम का तत्व आवश्यक है ।[2] ज्ञान का मार्ग केवल बुद्धिजीवियों या तर्कवादी उच्चमानस की सृष्टि है । वही बुद्धिवादी अभिजात मानस उसकी उहापोह में उलझता-उलझाता है । भक्ति भाव है - वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना है । यह मार्ग प्रत्येक के लिए खुला हुआ है । इसके लिए न कोई शर्त है, न बाधाएँ है ।

ज्ञान का मार्ग समाज निरपेक्ष है । उसके लिए संसार समाज मिथ्या है । वह इस मिथ्या संसार से उदासीन रहता है । वह इसको त्यागना चाहता है । उसकी वृत्तियाँ एकान्त साधना की ओर लगी रहती है । यह सामाजिक जीवन के प्रति एक निषेधात्मक दृष्टि है । उसके द्वारा संसार समाज का उपकार नहीं होगा क्योंकि उसकी साधना व्यक्तिगत है । इस प्रकार के दृष्टिकोण की आलोचना समाज वादी और

---

1· भागवत 9· 67· 3· 15 -34·
2· मधुसूदन सरस्वती, भक्ति रसायन, 1·3

समाज शास्त्रीय करता है । भौतिकवादी मार्क्स का इस दृष्टिकोण के साथ कोई समझौता नहीं है ।

भाव जीवी भक्त या भक्त कवि की जीवन दृष्टि इससे भिन्न है । वह समर्पण और सेवा का जीवन जीता है । उसकी प्रेरणा का केन्द्र बलिदान की भावना है । वह संसार में सहयोग, सह जीवन और सहअस्तित्व का आदर्श लाना चाहता है । श्रद्धा और विश्वास सेवा और समर्पण की भावना को लेकर चलने वालों के ही संसार के जीवन हमारे सामने है । इन्होंने समाज में प्रगति के बीज बोए हैं और उनके फलने-फूलने के लिए आत्मबलिदान किया है । दु:ख में आबद्ध जीव की विमुक्ति की "भावात्मक साधना " "भक्ति " है और यह भगवान को ही समर्पित हो जाती है । यदि " श्रद्धा " हो तो किसी भी देव की सेवा की जा सकती है । "[1] श्रद्धा वान् के हृदय में ही ज्ञान का संचार होता है । "[2] यह तत्व भारत के सभी धर्मों में अनुस्यूत है । बौद्ध धर्म में इसका महत्व स्वीकृत है । "[3] श्रद्धा का व्यावहारिक "रूप" " सेवा " भी बौद्ध धर्म में मान्य है । " सेवा " में इसका सामाजिक अर्थ भी अन्तर्भूत है । जैनों की जीव दया भी श्रद्धा है । सेवा भाव से प्रेरित है । भगवत्प्रेम सेवा भाव के रूप में ही व्यावहारिक परिणति लेता है । जब तक श्रद्धा और सेवा का यह सामंजस्य घटित नहीं होता, तब तक किसी को भक्त नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता । जहाँ ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम या अनुरक्ति भक्ति मानी गयी है,[4] वहाँ शुद्ध मन से भगवान की अनासक्त सेवा भी भक्ति कही गयी है ।[5] इस प्रेमानुरक्ति की उत्कटता को तुलसी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है —

---

1· श्रद्धावान, भजते यो माम् (भगवत गीता· 6· 47)

2· श्रद्धावान लभते ज्ञानम्, (गीता 6· 39)

3· Sir Charles Eliot, Hinduism and Budhism, Vol.II P 181; Ruthwalshe in 'the Mahabodhi Journey 1964, P.2, Article Saddha)

4· नारद भक्ति सूत्र, 2 : शांडिल्य भक्ति सूत्र, 1·1·2

5· नारद पंचरात्र :-- सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्पर त्वेन निर्मलम् ।
हृषिकेष हृषिकेश सेवन भक्ति च्यते ।।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
त्यों रघुनांथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ।।[1]

एक प्रकार से श्रद्धा और विश्वास का संबल लेकर चलने वाले महापुरुषों ने सामाजिक जीवन को सही परिप्रेक्ष्य दिया है । भक्त सामाजिक न्याय, समानता और नैतिकता का पक्ष लेता है । उनकी स्थापना के लिए प्राणपण से चेष्टा भी वह करता है । वह मानव मूल्यों के विघटन के प्रति लड़ता है । इस प्रकार का धर्म ही सामान्य जन जीवन में स्फूर्ति ला सकता है । यह विशिष्ट या अभिजात वर्ग का धर्म नहीं है । यह आम आदमी का जीवंत धर्म है । इसमें ठहराव नहीं हैं, यह सतत गति का संकल्प लेकर चलता है । वह एक व्यापक तथा सार्वत्रिक प्रेम का संदेश देता है । वह मानव के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना पर बल देता है । विश्व कल्याण उसकी टेक हैं :--

" परहित सरिस धर्म नहि भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई । -- तुलसी

उसके लिए समस्त लोक एक अविभाज्य इकाई है । ज्ञानवादी की भाँति वह संसार और सांसरिक जीवन से विमुख नहीं होता । वह संसार से विमुख होकर किसी मोक्ष की तलाश नहीं करता । बल्कि ऐसे मोक्ष की तो वह उपेक्षा ही करता है । उसका विश्वास है कि भक्ति के माध्यम से अनिच्छा होने पर भी मोक्ष तो आयेगा ही ---

राम भगति सोइ भक्ति गुसाईं ।
अनइच्छित आवइ बरि आई । ---- तुलसी

---

1. राम - मानस, उत्तरकाण्ड । 130 ख. पृ. 1002.

भगवान का भक्त अपने सांसारिक साथियों को छोड़कर कोई मोक्ष नहीं चाहता ।[1]

भक्त श्रद्धा, प्रेम और समर्पण का जीवन जीता है । उसका आदर्श है - आत्म त्याग । एक क्षण को यह मान भी लिया जाए कि ईश्वर नहीं है और भक्ति पथ हमें अंतिम सत्य तक नहीं ले जा सकता, फिर भी भक्ति अपनी सामाजिक दृष्टि और सामाजिक मूल्यवत्ता के कारण स्पृहणीय और माननीय है । तुलसी ने अपने कृतित्व के द्वारा विघटन शील हिन्दू समाज को एक नया विश्वास और आत्म विश्वास दिया था ।[2] प्रत्येक "भक्त कवि के कृतित्व और उसकी प्रातिम साधना का सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार का मूल्यांकन किया जा सकता है । कबीर ने धार्मिक एकता लाने के लिए आवाज उठाई, वह सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान है ।

गांधी ने शक्ति शाली साम्राज्यवादी शक्तियों को अहिंसा के आदर्श के आधार पर ललकारा । सच्चा भक्त सच्चा सामाजिक प्राणी भी होता है । भक्ति समाज को एक अदम्य सृजन प्रेरणा भी देती है जो अमर साहित्यिक कृतियों या कलाकृतियों में प्रतिफलित होती है । भक्ति समाज का विभाजन करने वाली नहीं है । वह समाज में सद्भाव और एकता लाने वाला धर्म है । परामार्थिक दृष्टि से तो भक्ति का महत्व है ही, व्यक्तिगत पूर्णता और सामाजिक उन्नयन एवं विकास की दृष्टि से भी भक्तिऔर साहित्य का महत्व है । भक्ति अन्य साधनाओं का भी उपकार करती है । ज्ञान और कर्म के मार्ग भी भक्ति से समन्वित होकर सुन्दर बनते है ।[3] इस प्रकार भक्ति जन साधारण का धर्म बनने में पूर्णतया सक्षम है ।

---

1. भागवत, 7. 9. 54.
2. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ. - 155.
3. भागवत 1. 5. 12, भगवद् गीता - 9. 54.

भारतीय धर्म का विकास सदा जन धर्म की ओर होता रहा है । इसके लिए आन्दोलन भी होते रहे हैं । जो महापुरूष धर्म को लोक की ओर प्रेरित करता है । वही लोक नायक होता है । बौद्ध और जैन धर्म भी अन्तत: भक्ति के तत्वों से समन्वित होकर लोक धर्म बन सके ।

## 4. भक्तिमूलक : रहस्य वाद : नवधर्म : नव सृजन :-

धर्म की रूढ़ियों का विरोध रहस्य वादी शक्ति करती है । रहस्यवाद आंदोलन का एक हिस्सा होता है, जो मनुष्य और ईश्वर के बीच सीधा संबंध स्थापित करता है यदि कोई मध्यस्थता करने वाला होता है । रहस्यवाद की तीन धाराएँ इस युग में फूटी सन्तों का रहस्यवाद, सूफियों का रहस्यवाद और भक्तिमूलक रहस्यवाद । इतिहास कारों ने इन तीनों को भक्ति आंदोलन से जोड़ा भक्ति मूलक रहस्यवाद प्रकृति में अन्य दोनों प्रकारों से भिन्न था । मध्य कालीन रिनेसां से रहस्यवाद का घनिष्ठ संबंध रहता है । धार्मिक सुधारवाद की खंडनात्मक और अस्वीकारात्मक प्रवृत्ति की पूरकता के रूप में रहस्यवादी धारा का सह अस्तित्व रहता है । ये दोनों ही रूढ़ धर्म व्यवस्था के गढ़ पर अपने-अपने ढंग से प्रहार करते हैं । ये दोनों ही रूढ़ धर्म व्यवस्था के गढ़ पर अपने-अपने ढंग से प्रकार करते हैं । ये दोनो ही अंध विश्वासों से मानव की आत्मा को विमुक्त करते हैं । रहस्यवाद सामान्य जन मानस की बुद्ध सौन्दर्य चेतना और सृजनात्मकता का द्वार खोल देता है । फलत: जन साहित्य की धारा नये सिरे से उच्छलित होती है जो एक ओर तो काव्य वस्तु की विमुक्ति का घोष करती है और दूसरी ओर काव्य शास्त्रीय रूढ़ियों से मुक्त सहज शिल्प को जन्म देती है । जन भाषा की शास्त्रीय शिलाओं के नीचे दबी हुई शक्तियाँ आँख खोल कर एक विमुक्ति के अभियान का फल है । " यह ध्यान देने योग्य बात है कि भक्ति काव्य के धर्म के साथ संबंद्व होने से उसकी रिनेसां संस्कृति के साथ तुलना करने में

कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि रिनेसां के बहुत से अग्रणी भी धर्म के साथ जुड़े हुए थे ।[1]

जहाँ तक काव्य वस्तु के पुनर्सृजन का प्रश्न है, इसमें पुराने प्रतीकों, कथाओं, मिथकों, तथा लीला प्रसंगों का नवाख्यान शामिल है । पुराण -परंपरा का नव मूल्यांकन, नवीन व्याख्यान, नवीकरण, नवपरीक्षण और नवीन सृजन हुआ । आचार्यों ने भारतीय दर्शन पद्धति के प्रस्थानों ( प्रस्थान त्रयी ) का नवीन भाष्य किया और उनमें नव प्राण प्रतिष्ठा की । भक्त कवि ने इस नवोदित वस्तु को सृजन प्रक्रिया में लाकर एक नवीन युग का सूत्रपात किया । विशेष बात यह हुई कि दर्शन के नवीन भाष्य और व्याख्यान ने काव्य सृजन की प्रेरणा को सशक्त बनाया । आंदोलन के साथ - साथ एक व्यापक काव्य सृजन हुआ । इसमें एक व्यापक राष्ट्रीय साहित्य की शुरुआत छुपी हुई है । आंचलिक भाषाएँ और बोलियाँ अपने अछूते सौन्दर्य और अपनी धरती की महक को लिए हुए नवसृजन की वाहिका बनी । प्राचीन और मध्यकालीन काव्य भाषाओं के स्थान पर आधुनिक भाषाओं की प्रतिष्ठा हुई, हिन्दी, बंगाली, मराठी, पंजाबी, गुजराती, तमिल, तेलुगु आदि सभी भाषाओं में नवीन सौन्दर्य बोध परिणति लेने लगा । कवि सामन्त से कटने लगा और सामान्य जन से अपना सरोकार कायम करने लगा । शायद रसिक और कवि कभी इतने समीप नहीं आये होंगे । पाठक को यह भ्रम होंगे होता था कि कविता कहीं बाहर से आ रही है, या उसके भीतर से ही निकल रही है । यूरोप में भी क्लासिकल भाषाओं का स्थान इसी प्रकार प्रचलित जीवित भाषाओं ने लिया था ।

---

1. येवगिनी चेली शेव, प्रज्ञा चक्षु सूरदास ( संपादित ) पृ. 21.

## 5. भक्ति धर्म : विशेषता :

### 5.1 सर्व सुलभ :

लोक धर्म वह होता है जिसका द्वार सबके लिए खुला हो । नाम स्मरण से चाण्डाल भी शुद्ध हो जाता है ।[1] विष्णु भक्त चाण्डाल ब्राह्मण से श्रेष्ठ है और विष्णु - भक्ति हीन ब्राह्मण श्वपच से भी नीचा है ।[2] शिव पुराण के अनुसार शिव की करूणा और मनन स्मरण से सब प्राप्ति होती है ।[3] इस प्रकार धर्म के सभी रूपों में भक्ति मूलक पौराणिक लोक धर्म की प्रतिष्ठा होने लगी ।

महायान भी लोक जीवन के पास धर्म के पहुँचने का उपक्रम है ।[4] इसमें सम्बद्ध व्यक्ति का ही नहीं, समस्त लोक का कल्याण होता है । यही इसका लक्ष्य है । बोधिसत्व लोक हित के लिए ही प्रार्थना करता है । धर्म का सरलीकरण इसी उद्देश्य से हुआ । जैन बौद्ध और वैष्णवों में अवतार वाद का कोई न कोई रूप प्रतिष्ठित हुआ । देवता की करूणा और अनुग्रह में विश्वास दृढ़ हुआ । ये सभी लोक धर्म के लक्षण हैं । इसने महायान के उत्तर कालीन वैष्णव धर्म को बहुत प्रभावित किया इस प्रकार धर्म का रूप सहजीकृत हो गया ।

साधना के सहजीकरण की प्रक्रिया में नाम-जप और कीर्तन के विधान का स्थान महत्वपूर्ण है । यह सहजीकृत धर्म का एक लक्षण ही हो गया । ई.पू. 500 से 600 तक मंत्र शास्त्र, आक्षरिक, प्रतीकवाद, व्याकरणिक स्फोट वाद के सह में उपनिषद का

---

1. भागवत, 3. 33, 7
2. वृहन्नारदीय पुराण, 132, 39.
3. शिव पुराण, वायवीय संहिता, उत्तर भाग, 8. 25 - 26.
4. धर्म वीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ. - 102.

ओंकारवाद एक नवीन रहस्यवाद में परिणत हो रहा था । बौद्ध धर्म में प्रज्ञा पारमिताएँ शरणागति, पूजा और अर्चा का सरल रूप लेने लगी । पीछे यह शास्त्र संक्षिप्त होते होते केवल एक हृदय सूत्र में ढल गया और मंत्रयान प्रचलित हुआ । वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों में भक्ति योग का साधन मंत्र दीक्षा ही बन गयी । गायत्री का स्थान भक्ति मंत्र और नाम जप ने ले लिया । नाम-मंत्र आत्म समर्पण और शरणागति का ही एक रूप है ।

परवर्ती विकास में बौद्ध धर्म तो मंत्र चमत्कार में खोने लगा, तथा वैष्णव धर्म इससे बच गया, मूलत: अनात्मवादी, आचार प्रधान वैराग्य मूलक बौद्ध धर्म लोकाकर्षण के लिए अधिकाधिक तान्त्रिक और गुह्य साधनाओं में फंसता गया, और अन्त में उसी के वन में खो गया, जबकि वैष्णव मतवाद मूलत: राग प्रधान, ईश्वर वादी, होने के कारण जन साधारण की आस्था के लिए सिद्धियों आदि के चक्कर में पड़ने से बच गया ।

दक्षिणात्य आचार्यों ने भक्ति धर्म का शास्त्रानुमोदन करके, बौद्धिक वर्ग का भी सहयोग प्राप्त किया । इसीलिए दक्षिण में प्रेम को स्वीकार करने वाले शैव तथा वैष्णव संप्रदायों को शक्ति मिली और दक्षिण में ही जैन-बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख हो गए । ई॰पू॰ पहली शती में ही वैष्णव संप्रदायों के अस्तित्व का अनुमान लगाया है ।[2] भक्ति ने सामान्य जन को भी आकर्षित किया और काव्याकर्षण भी प्राप्त किया । पाणिनि और पतंजलि जैसे विद्वान भी आकर्षित हुए । महाभारत, रामायण जैसी भक्ति मूलक महान् कृतियाँ बनीं ।

---

1· डा॰देवी शंकर अवस्थी : बुलेटिन आफ दि इन्स्टीट्यूट आफ दि पोस्ट ग्रैजुएट ईवनिंग स्टडीस 1966, भक्ति संदर्भ पृ॰ 102·

2· R.G.Bhandarkar, Vaishvavism, Shaivism and other minor religi__s systems of India, P.68 - 70.

निषेधवादी हीनयाम, तथा अनैतिक गुह्य तान्त्रिक महायान, मंत्रयान, बज्जयान आदि की चुनौति के सामने आगम - पुराण परंपरा की विजय हुई । यह विजय सामाजिक संदर्भ में सार्थकता और औचित्य रखती है । यह सार्थकता और औचित्य इसीलए बढ़ जाते हैं कि अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, तथा शरणागति आदि को आगमों तथा पुराणों ने पूरी तरह आत्मसात कर लिया । पुराणों ने अपने लाक्षणिक, प्रतीकात्मक ढंग से एक ऐतिहासिक परंपरा भी उपस्थित कर दी, चाहे वह अनैतिहासिक ही हो । इस पंरपरा के माध्यम से सम सामयिक जीवन को अस्पष्ट एवं दूरागत अतीत के साथ जोड़ दिया गया । इस प्रकार भक्ति परक लोक धर्म कालायाम में भी विस्तृत हो गया और देशायाम में भी ।

## 5·2 सत्संग : ज्ञान प्राप्ति का मार्ग :

भागवत पुराण सत्संग पर बहुत बल देता है । यह पवित्रता की प्राप्ति का साधन है । कृष्ण इसको परम गुह्य कहते हैं ।[1] सत्संग ज्ञान प्राप्ति की भी एक सार्वजनिक मार्ग है जिनके लिए उच्च शास्त्रों के अध्ययन का मार्ग अवरूद्ध है वे उन शास्त्रों के सार का ज्ञानसत्संग से प्राप्त कर सकते है । संत सभी को अपलब्ध होता है और वह किसी को भी सत्संग में सम्मिलित कर सकता है ।[2] शूद्र और स्त्री भी इसके द्वारा पवित्रता की ऊँचाइयों तक पहुँच सकते हैं ।[3]

---

1· Bh. P. 11.11.49A S.Anand; "Satsang : The Company of Saints in C.M. Vaddakkekera (ed): Prayer and Contemplation(Bangalore Asuvanam, 1980 P.P. 273-310.

2· सर्व भूत सम 11· 2· 52·

3· - वही - 11· 12· 2· 9

इस प्रकार सत्संग समस्त सामाजिक अयोग्यताओं और दोषों को दूर कर देता है ।[1] भक्ति उन साधनों की पूर्ति कर देती है जो किसी विशेष वर्ण ने अपने लिए सुरक्षित कर लिए हैं । यह बात देव हूति ने कपिल से कही थी ।[2]

इसी जनवादी दृष्टि से सत्संग की महिमा गाई गयी है । जो शूद्र या स्त्री उच्च शास्त्रीय ज्ञान के अधिकार से वंचित थे, उनके लिए एक मात्र साधना सत्संग था । इस धर्म में सभी वर्गों के लोगों का प्रवेश संभव था । भाव की भी छूट थी । किसी भी भाव से भगवान की भक्ति की जा सकती है । भक्ति में आदिम मानस की जो महक है, वही भक्ति मूलक सौन्दर्य तत्व को जन्म देती है । जिस प्रकार भक्ति धर्म में सभी पूर्ववर्ती धार्मिक परंपराओं का समाहार होता गया, उसी प्रकार सभी दार्शनिक चिन्तन धाराएँ या तो भक्ति दर्शन में रूपान्तरित हो गई अथवा शैव और शाक्त जैसे दर्शनों का वैष्णवीकरण हुआ । वेदान्त योग का विशेष रूप से भक्ति परक व्याख्यान हुआ । भक्ति के आचार्यों के भाष्य इस समन्वय में सहायक हुए । इस प्रकार दार्शनिक भूमिका तरल होकर लोक धर्म भक्ति को पुष्ट करती रही । इस जनवादी धर्म की पृष्ठभूमि में एक व्यापक आन्दोलन भी है - " भक्ति आन्दोलन " ।

## 6. भक्ति और अन्य धर्म :

### 6.1 बौद्ध धर्म और भक्ति :

भक्ति के तत्वों से बौद्ध धर्म भी अनुप्राणित हुआ । बौद्ध धर्म के अध्येताओं ने यह स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म भी भक्ति परक होता गया । आरंभ में बुद्ध को एक उपदेशक के रूप में ही देखा गया । यह भी कि सभी को अपने आप की सुरक्षा

---

1. सर्व भूत सम ।। 1. 1. 18. ।।
2. - वही - 3. 33. 7

करनी चाहिए । गुरु रूप बुद्ध उस ज्ञान का स्रोत है जो रक्षा करता है । इस प्रकार के ज्ञान को देने वाले गुरु के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा तथा भक्ति प्रीति होना स्वाभाविक हो जाता है । ये भावनाएँ प्रगीतात्मक कृतियों को सजल कर रही हैं । कभी - कभी इनकी मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुई है ।[1] धम्म पद (1.2.) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि भक्ति से निर्वाण पद मिल सकता है । अपने अंतिम समय में जो व्यक्ति बुद्ध में श्रद्धा-भक्ति रखता है, वह स्वर्ग में पुनर्जन्म लेता है । अमिताभ संबंधी सूत्रों की रचना ई॰सन् के आरंभ में ही हुई है । इसके अनुसार जो अमिताभ में भक्ति रखता है, वह सम्पूर्ण धर्म का ही पालनकर्त्ता होता है । जो उनमें विश्वास करते हैं और उनके नाम का जप कीर्तन करते हैं । स्वर्ग को जाते हैं ।[3] कुछ विद्वान तो भक्ति का बीज बौद्ध धर्म में ही मानते हैं । बुद्ध के अवशेषों की पूजा में भी भक्ति भावना ही अन्तर्हित है ।[4] अवयवावशेषों पर विशाल स्तूप बनाए गए । भक्ति संबंधी विचार सिद्धांत बौद्ध-धर्म में आरंभ से ही मिलते हैं । भक्ति शब्द का भक्ति शब्द का अपने पारिभाषिक रूप में प्रयोग सबसे पहले बौद्ध धर्म में मिलता है, हिन्दू धर्म में नहीं ।[5] विशेष रूप से महायान शाखा भक्ति की प्रतिष्ठा थी । बोधितत्व सिद्धान्त वास्तव में भारत का भक्ति योग ही है ।[6] अश्वघोष भक्ति भावना से बुद्ध की प्रार्थना करता है । तात्पर्य यह है कि कालांतर में भगवान बुद्ध के अनुयायी भक्त बुद्ध की पूजा करने लगे । लंकावतार सूत्र बुद्ध के अनुयायियों को आदेश देता है कि बुद्ध के शब्दों में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखे, अन्यथा वे नरकगामी भी होंगे ।[7]

1. 814 - 842 ; 1231 - 1245
2. Sir Charles Eliot; Hindism and Budhism(1954)P.P.181 - 82
   D.C. Aher India's debt to Budhism.
3. Sir, Charles Eliot, Hindism and Budhism(1954) P.P.181-82.
4. D.C.Aher India's debt to Budhism, 'The MahaBodhi Vaisakh member May 1964 (Calcutta 19.95) "The Bhakti Movement has played a significant role in the Indian Society. Its origin too lies in Budhism, After the Mahpari Nirvana, the devoted used to console their minds by Homage to the riches of the Master at the eight places where the relics were unshrined. This relic worship gave impetus to the Bhakti Movement as prior to this, relic worship wa Unknown in India.
5. "The Idea of Bhakti was not a borrowed feather, with which Budhi adorned itself. It was an intergal part of the Budhist ideal from the earliest times. Infact the very word Bhakti, as a technical religious term, occurs for the first time in Indian literature in Budhist treatise and not in a Hindu Scripture", Dr. Hardayal, The Bodhisattva Doctrine P. 95
6. Christmas Humphres, Budhism(London, 1962 P.P.161 - 2)
7. Lankavatara Satra, 8-10 - 11.

इस प्रकार बौद्ध धर्म की संरचना और व्यावहारिक परिणति भक्ति मूलक लोक धर्म के रूप में हुई । इसी रूप में जैन धर्म का भी विकास हुआ ।

## 6.2 भक्ति और जैन धर्म :-

जैन धर्म में भी भक्ति की प्रवृत्ति मिलती है । जैन चिंतन में भी श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान है । जैन मतानुयायी भी तीर्थंकर के शब्द में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं । भगवान महावीर के उपदेशों में उनका पूर्ण विश्वास है ।[2] एक जैन भक्त के उद्गार इस प्रकार व्यक्त हुए हैं - " मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हूँ, जो मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक हैं, जो कर्म रूपी पहाड़ों का विनाशक है, जो इस प्रपंच के सत्य से अवगत है । एक श्रद्धावान, जैन अपने स्वामी को प्रत्येक संध्याकाल में वंदना समर्पित करता है । वह प्रार्थना करता है, मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ, आपको नमस्कार करता हूँ । हे क्षमाशील, मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं आपके समीप आ सकूँ । मुझे अनुमति दीजिए कि आपके चरण-कमल का स्पर्श कर सकूँ । हे स्तुत्य, यदि चरण स्पर्श से आपको कुछ असुविधा हो तो क्षमा कीजिए । दिन बीत रहा है । हे स्तुत्य, आप तीर्थ स्थान के समान पवित्र हैं । दिन में यदि मैंने कुछ दुष्कर्म किए हों, तो मैं उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ । "[3]

मानतुंगाचार्य प्रणीत " भक्तांबर स्तोत्र " जैन धर्मानुयायियों में बहुत लोक प्रिय है । कहा जाता है कि इसकी रचना आचार्य ने उस समय की थी, जब राजा भोज ने उन्हें बंदीगृह में डाल दिया था । वह उनकी चमत्कारी शक्ति की परीक्षा

---

1. कल्याण, भक्ति अंक - पृ. 562.
2. मोक्ष मार्गस्य नेतारम् येन्ताई कर्म भूभृताम् ।
   ज्ञातांर विश्व तत्वानां वन्दे तद्गुजलब्धये ।
3. Mrs. Sindlair Stevenson, The heart of Jainism P. 256

करना चाहता था । इस स्तोत्र का पाठ श्रद्धालु जैन नित्य प्रति करते हैं । इस प्रकार जैनों की धर्म-भावना में रक्षा और भक्ति के सूत्र गुंफित हैं ।

6·3 अन्य धर्म :-

इस लोक धर्म की स्थिति सार्वभौम होती है । प्रत्यक्ष क्षेत्र में इस रागात्मक लोक धर्म की स्थापना या पुनर्स्थापना के लिए आन्दोलन होते हैं । इसका प्रमाण यह है कि भक्ति धर्म की ईसाई धर्म से समानता को देखकर ही अनेक विद्वानों ने भक्ति का स्रोत विदेशी धर्मों में माना है ।

भक्ति के उद्भव और स्त्रोत के संबंध में तीन मत प्रचलित हैं, पहले मत के अनुसार यह ईसाई धर्म की देन है ।[2] दूसरा मत इसका संबंध इस्लाम से जोड़ता है ।[3] तीसरे प्रकार के विद्वान वे है, जो भक्ति के बीज भारतीय परंपरा में ही पाते हैं ।[4] जब किसी धर्म को अन्य धर्मों से उत्पन्न या प्रभावित बतलाया जाता है, तो विवाद खड़ा हो जाता है । इन बातों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक धर्म सार्वभौम और सार्वजनीन होता है । यह सभ्य तथा आदिम जातियों में समान रूप से मिलता है । विभिन्न देशों में इसकी अपनी अस्मिता होती है और इसके नामों में भिन्नता हो जाती है । मूल तत्व सभी में समान रहता है ।

---

1. There is amongst some modern jains a tendency towards giving to Mahavir a devotion, which clmost resembles Bhaktas(Mrs. Sinclair Stevenson).
2. Burnell(Indian Antiquary, Vol.III P. 308 VolIV P. 183) Welber (Indian Antiquary Vol. III P.P.22,47) Cold Well (Comparitive gram of the Dravidian Language Hopkins( India Old and New) R.G.Bhandarkar Vaishnavism and Shaivism) Grievson(Journal of the Royal Asiatic Society 1907, P.P.311-36.
3. Fawcett(Anthropol gy Bulletin Vol.III, No.2 ed. Leg.Thurson Barth (Religions of India) Tarachand (Influence of Islam on Indian Cult P.107) Humayun Kabir(Our Heritage).
4. Bhagabat Kumar Goswami Shastri( The Bhakti Cult in Ancient India) Ramdhari Singh Dinkar Sanskriti Ke Char Adhayaya, Sir Charles Eliot Hindism and Budhism.

भारत में जब मुसलमानों का प्रवेश हुआ तो उनमें से जो प्रेम-भाव पर आधारित लोक धर्म ( सूफी धर्म ) को मानते थे उनको भक्ति धर्म और सूफी धर्म में न कोइ अन्तर ही दिखलाई दिया और न भक्ति मार्गी हिन्दुओं को ही सूफी धर्म में परायापन नज़र आया । साहित्येतिहास में दोनों धाराएँ मिल कर एक हो गई । भारतेन्दु ने मुसलमान वैष्णवों के संबंध में उक्ति की -- " इन मुसलमान हरिजन पर कोटिन हिन्दुन वारिए ।" स्थान-स्थान पर ऐसे मुसलमान कवि हुए, जिन्होंने भक्ति साहि रचा । इनमें से अधिकांश कृष्ण भक्त बने क्योंकि प्रेम का तत्व इसी धारा में स्वच्छन्. रहा ।

## 7. धर्म और साहित्य :-

साहित्य और धर्म का आधेय आधार संबंध भारत में सदृढ़ रहा । इसी संबंध के कारण साहित्य का प्रभाव गहरा और व्यापक रहा । इसी के आधार पर साहित्य का संबंध जन जीवन से घनिष्ठ बना । धर्म मानव जीवन के उत्थान-के लिए प्रथ-प्रदर्शन के रूप में अपरिहार्य माना गया । मानव सद्धर्म की खोज करता रहा है । समाज को धर्म का बोध कराने और उससे जोड़े रहने का कार्य साहित्य ने किया ।

साहित्य के क्षेत्र में धर्म और साहित्य के सम्पर्क संबंध की बात सैद्धान्तिक रूप से मानी जाती रही है । एक मत इस प्रकार है — यदि कवि इस दृश्य जगत में रहते हुए एक अदृश्य जगत में विश्वास नहीं करता तो महान काव्य लिखा ही नहीं जा सकता ।[1] यह माना जाता रहा है कि साहित्य की धार्मिक भूमिका महत्वपूर्ण है ।

---

1. Great Poetry will cease to be waritten when poets cease to be Man for whom invisibly world exists.
(Essays by Diverse Hands ed. Lawrence Brimyon P. 20 Robyard).

धर्म और साहित्य मिलकर स्वर्ग और धरती के बीच के संबंध को दृढ़ और यथार्थ बनाते रहे । भारत की पौराणिक संस्कृति की यह विशेषता रही कि वह दोनों में एकता मानकर चली । इन दोनों की सीमाएँ एक दूसरे के लिए अलंघ्य नहीं है । दिव्य शक्तियाँ धरती पर आती रही और धरती उठकर स्वर्ग का आलिंगन करती रही । दिव्य शक्तियों के अवतरण का लक्ष्य महान है और मानव के अभियान को बल और प्रेरणा देता है । अरविन्द ने इसीलिए कहा कि पाश्चात्य मानस जिसे एक कल्पना या मिथक मानता है, वह भारत में एक यथार्थ और वास्तविकता है ।[1] जिसे पश्चिम एक सुन्दर कवि कल्पना और दार्शनिक चिंतन मात्र कहता है, वह इस देश के लिए अनुभव गम्य है ।[2] शान्तायन जैसे विचारक ने धर्म और काव्य का अटूट संबंध माना है । काव्य अपनी चरम शक्ति के विकास के बाद धर्म ही बन जाता है । धर्म से संबद्ध होकर काव्य एक मूल्यवत्ता ग्रहण करता है और काव्यीकृत धर्म जन-जन के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनता है । रामायण और महाभारत की यही स्थिति है । एक ओर वे जनमानस के लिए आलोक स्त्रोत है, तो दूसरी ओर भावी कविकर्म के लिए उपजीव्य रहे है । ये दोनों ही माहाकाव्य बने है । इन्होंने स्वस्थ जीवन और समाज की रचना में सदा सहयोग दिया है । इनके द्वारा एक अखण्ड राष्ट्रीय चरित्र विकसित हुआ है । राष्ट्र धर्म, राष्ट्रीय संस्कृति और व्यवहार दर्शन की नींव रखने के साथ-साथ इन्होंने एक व्यापक मानव केन्द्रित सत्य का सर्जनात्मक उद्घाटन भी किया है । मानव-सत्य सर्वोच्च्य है -- इसकी दिगंत व्यापी घोषणा भी इन्होनें की है ।

---

1. " that which to the western mins's myth and imagination is here and actuality and a strand of life of our minor being". (The Foundations of Indian Culture P.307).

2. ___________ what is there in a beautiful poetic idea and philosphic speculation : is here a thing constantly realised and present to the experience " (Ibid).

# भक्ति आंदोलन : आधुनिक अर्थ

0 प्रास्ताविक :-

भक्ति साहित्य की पृष्ठभूमि में एक सशक्त सांस्कृतिक आंदोलन है । इस आंदोलन की प्रेरणाओं ने भक्ति साहित्य में विविध परिणतियाँ प्राप्त कीं । यह एक एक ऐसा आंदोलन था जिसने धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला साहित्य और विस्तृत जन समुदाय को प्रभावित किया । इतने व्यापक प्रभाव को लेकर बहुत कम आंदोलन भारत में चले । इस आंदोलन ने भक्त कवियों में एक नए प्रकार की प्रतिबद्धता पैदा की जो बहुमुखी कही जा सकती है । भक्ति एक ऐसा केन्द्र बन गया जिस पर धर्म दर्शन और साहित्य की अनेक धाराएँ आकर मिल जाती है और यह संगम सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है ।

भक्ति और दर्शन मिल कर एक हो जाते हैं और उनको एक दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता । दर्शन और साहित्य का इतना अविभाज्य संगम दुर्लभ ही है । आंदोलन से प्रेरित होकर ही अनेक ऐसे तत्व साहित्य में समन्वित हो गए जो आधुनिकता के निकष पर खरे उतरते हैं । इन तत्वों को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि भक्ति आंदोलन के चरित्र को विस्तार से समझ लिया जाय ।

## १. आरंभिक स्थिति :-

इतिहास कारों ने भक्ति आंदोलन को दसवीं से सोलहवीं शता तक घटित माना है । आलवार साहित्य कीपरंपरा पहले चौथी पाँचवी शता तक चली जाती है जिसमें भक्ति आंदोलन के बीज सन्निहित हैं । और भी पहले इसकी परंपरा को ले जाया जा सकता है । एक प्रकार से जब वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति उग्र अथवा मृदुल प्रतिक्रियाएँ पैदा हुईं, उसी युग में भक्ति आंदोलन की परंपरा भी रूप धारण करने लगती है । एक ओर वैदिक कर्मकाण्डों की हिंसा के प्रति बौद्ध और जैन धर्म की प्रतिक्रिया हुई तो दूसरी ओर दार्शनिक दृष्टि से उपनिषद ने एक नए अद्वैतवादी दर्शन का सूत्रपात करके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न की । इसमें वेद की अमान्यता तो नही है पर विकास का एक ऐसा अग्रिम चरण अवश्य है जो पूर्वकालिक चरण को अपने से निम्नतर बतलाता है । इसी बात को कृष्ण ने गीता में कहा - " त्रैगुण्य विषयावेदा : निस्त्रैगुण्यों भवार्जुन ",[1] इसी समय के लगभग वासुदेव धर्म या सात्वत मत प्रचारित हुआ जिसमें भगवाश्रित भक्ति धर्म की प्रतिष्ठा मिलती है और यह भी एक प्रकार से कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के प्रति भी प्रतिक्रिया दिखलाई पडती है । इसका एक रूप आगम की परंपरा में देखा जा सकता है ।

---

१. भगवद् गीता - श्लोक 45 अध्याय - 2.

## 1.1 आगम परंपरा :-

आगम परंपरा में दो धाराएँ आती है - वैखानस और पांचरात्र । ये दोनो परंपराएँ ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति आंदोलन से जोड़ कर देखी जा सकती है । ये दोनो ही वेद विरोधी तो नही है और कुछ वैदिक तत्वों को लेकर भी चली हैं किन्तु इनकी साधना पद्धति और सैद्धांतिक भूमिका वेद से भिन्न हैं । संक्षेप में इन दोनों पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा ।

### 1.1.1 वैखानस :-

वैखानस शब्द चाहे ऋग्वेद में न मिलता हो, किन्तु व्यक्तियों के एक वर्ग का वर्णन ऐसा है [1] जो वैखानसों से मिलता है । संभवत: ये व्रात्य या उनसे मिलते जुलते रहे होंगे । ऋग्वेद के मूल दृष्टाओं के अतिरिक्त लगभग 100 वैखानस थे, इनके सम्मुख ऋ॰ 9.66 दृश्य हुआ । यद्यपि यह वैदिक यज्ञानुष्ठान के प्रति असहिष्णु थे, तथापि प्रकृति में बौद्धों से भिन्न थे, भगवान बुद्ध से इनका शास्त्रार्थ भी हुआ था ।[2] इनका संबंध कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा से माना जाता है, वैखानस लोग बनवासी वानप्रस्थ [3] थे ।

" सामन " को वैखानस कहा गया है [4] वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति इनकी वैचारिक क्रान्ति ही सिद्ध होती है । वैखानस मृग विष्णु की परीक्षा करके उन्हें सर्वोच्च देवता घोषित करता है । अंगिरा की क्रान्ति दृष्टि भी वैखानस परंपरा

---

1. ऋ॰ 10. 136. 2.
2. मज्झिम निकाय 2.40
3. पी.वी.काणे, हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र, भाग-2 कूर्म पुराण : अध्याय - 27.
4. तांडय ब्रा॰ 14. 4. 7.

की है । वैखानसों ने यज्ञानुष्ठान त्याग कर विष्णु पूजा का व्रत किया ।[1]

वैखानस साधना में " तप " का महत्वपूर्ण स्थान था ।[2] ये उग्र तप करते थे ।[3] साधुओं से इनका वैसादृश्य साधु से है कि साधु लोग परक तपस्या करते थे और वैखानस कठोर तप करते थे । " तप " के साथ दूसरा तत्व " जप " का भी था ।[4] कर्ममार्ग के स्थान पर इन्होंने " ध्यान " को अपनाया ।[5] भागवतोक्त आठ प्रकार के ध्यानियों में एक वैखानस भी है ।[6] ये धर्म शास्त्र का भी कठोरता से पालन करते थे ।[7] इनके आश्रम सारे देश में थे और समाज में इन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था । वैदिक कर्मकांड के प्रति तो इनकी प्रतिक्रिया थी, फिर भी इनको श्रुति परायण कहा गया है ।[8] इसका कारण यह है कि इनकी धार्मिक चर्या में वैदिक मंत्रों का प्रयोग होता था ।

वैखानस का विष्णु से घनिष्ठ संबंध है । विखानस ऋषि को यह नवीन ज्ञान पद्धति स्वंय विष्णु से ही प्राप्त हुई थी ।[9] ये विष्णु को " सर्व वेदार्थ सारभूत कहते थे और इनकी मान्यता थी कि लोक कल्याण के लिए इनका अवतार भी होता था । कमलापति ने शायद वेद भ्रष्टों के लिए इस नवीन पद्धति को उत्पन्न किया ।[10] यह कथन ऐतिहासिक महत्व का है । अनेक वेद बाह्य जातियाँ इस मत में सम्मिलित थीं ।

---

1• विमानार्चन कल्प, पृ• 5•

2• " वैखानस सोइ सोचन जोगू । तप विहाय जेहि भावह भोगू । " ﴾ तुलसी ﴿

3• भागवत 4• 23• 3

4• महा• वत• 114•• 15• 17

5• " महा, अध्य, 89• 16• परनील कंठ भाष्य

6• भागवत 3• 12• 43•

7• विष्णु पु• 3 10 – 15

8• ब्रह्माण्ड पुराण 4•8•44•

9• मरीचि वैखानसागम, पटल – 10•

10• अनंत भट्ट, विधान पारिजात, पृ• 519•

यह तो ठीक से नहीं कहा जा सकता कि वैखानस मत के सबसे अधिक केन्द्र उत्तर में थे अथवा दक्षिण में, किन्तु यह सत्य है कि रामानुज पूर्व दक्षिण भारतीय मंदिरों में वैखानस पूजा पद्धति ही गृहीत थी । रामानुजाचार्य जी ने इस पूजा पद्धति के स्थान पर पांचरात्र विधि की स्थापना की । इससे प्रतीत होता है कि दक्षिण में वैखानस पद्धति बहुत पीछे तक प्रचलित रही ।

## 1·1·2 पांचरात्र : आदोलन का अग्रगामी चरण :-

आंदोलन का प्रथम चरण वैखानस, अपनी प्रकृति को मुख्य रूप से निगमीय बनाए रहा । पांचरात्र की प्रकृति शुद्ध आगमीय नहीं तो तीन चौथाई आगमीय बन गई । वैखानस जहाँ आंदोलन के सौम्य रूप का प्रतिनिधित्व करते है, वहाँ पांचरात्र उग्र प्रकृति का ।[1] इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक तत्वो की प्रकृति इसमें सीमित हो गई और तान्त्रिक तत्व अधिक हो गए ।

कुछ विद्वानों के अनुसार भागवत और पांचरात्र एक है,[2] किन्तु ऐसे विद्वान भी है जिनके अनुसार ये अलग अलग दो सम्प्रदाय थे ।[3] संभवत: भागवत शब्द की परिधि में वैखानस भी आ जाते है । वैसे वैखानस मत का साध्य देवता विष्णु तथा उसके चार रूप – अच्युत, सत्य पुरूष तथा अनिरूद्ध है । सात्वतों में नारायण रूप की मान्यता थी पांचरात्रों के पूज्य वासुदेव और चर्तुव्यूह है । इतिहास में एक समय ऐसा भी आया कि भागवत धर्म इन तीनों का वाचक हो गया और इनका सर्वोच्च देवता हो गया – वासुदेव । पांचरात्र संहिताओं का प्रणयन भी इस एकीकरण के पश्चात ही हुआ ।[4]

---

1· वैखानस सौम्यम् – अग्नेय पांचरात्रम् (कश्यप संहिता)

2· पाद्म तंत्र, 4· 2· 88

3· अनंत भट्ट, विधान पारिजात, पृ· 529· डॉ·वासुदेव शरण । अग्रवाल हर्ष चरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ· 191·

4· महाभारत, नारायणीयों पाख्यान, मोक्ष धर्म पर्व में ये सभी एकत्र हो जाते है ।

भीक्त की रूप रचना भीक्त के आचार्यों की मानीसकता तथा भक्त कीवयों की भावनाएँ पाँच रात्र पद्वीत से ही अधिक प्रभावित हुई ।

आंदोलन के इस उग्र रूप के प्रीत प्रीतक्रया भी हुई । मीमांसको ने पांचरात्र परंपरा को अवैदिक घोषित किया ।[1] शंकर ने भी इस दर्शन को संदेह की दृष्टि से देखा । इस दर्शन का खण्डन भी किया गया । किन्तु यह दक्षिण पंथी प्रतिक्रिया आंदोलन के इस उग्र चरण को अवरूद्ध नहीं कर सकी ।

भीक्त के आर्चाय इस विवाद के प्रीत सजग थे । इन्होंने पांचरात्र का समर्थन किया । यामुनाचार्य जी ने पांचरात्र साहित्य को निगमीय प्रकृति का सिद्ध किया ।[3] रामानुजार्चाय जी ने दक्षिण के अधिकांश वैष्णव मंदिरों में पांचरात्र पद्वीत की प्रतिष्ठा की ।[4] वेदान्त देशिकार्चाय जी ने पांचरात्र प्रामाण्य को सिद्ध ही नहीं किया वैखानस की आलोचना भी की ।[5] अन्तत दोनों में समन्वय करके दोनों के प्रामाण्य को भी सिद्ध किया ।[6] कहने का तात्पर्य यह है कि दक्षिण भारत में ही भीक्त के प्रमुख प्रेरक स्रोत पांचरात्रसाहित्य की रक्षा की और उसके व्यावहारिक पक्ष की स्वीकृति हुई ।

अब प्रश्न यह होता है कि पांचरात्रागम का उदय कहाँ हुआ ? अनुश्रुति के अनुसार पांच रात्र के मूल वक्ता स्वयं नारायण है ।[7] तोताद्रि पर यह ज्ञान शांडिल्य, औप गायन, कौशिक, भरद्वाज आदि ऋषियों को प्राप्त हुआ । तोताद्रि

---

1· कुमारिल भट्ट ﴾ लगभग 800 ई· ﴿ तंत्र वार्तिक ﴾ बनारस : 1903 ﴿ पृ·114-115·

3· उनका आगम प्रामाण्य ग्रंथ इसी प्रकारका प्रयत्न है ।

4· परमेश्वर संहिता के अनुसार श्री रंगम् पादम् के आधार पर कांचीपुरम्, तथा ईश्वर संहिता के आधार पर मेल कोटे की पूजा पद्वीत निर्धारित की गई ।

5· पांचरात्र रक्षा कांची, 1941 पृ· 101·

6· शरणागीत दीपिका, श्लोक : 32, 7· महाभारत शान्ति पर्व· अध्याय 339·

भी दक्षिण भारत में ही है ।' आगे यह ज्ञान जनसाधारण की ओर प्रवाहित हुआ । पांच रात्र साहित्य में " एकायन वेद " की भी चर्चा होती है । अनुश्रुति के अनुसार इस वेद का रहस्य भी स्वयं नारायण ने पांच ऋषियों को तोताद्रि पर बतलाया । इस प्रकार पांच रात्र का मूल रूप में प्रकाशन भी दक्षिण भारत में हुआ

भीष्म ने युधिष्ठर को उपरिचर वसु की कथा सुनाई । इसमें व्यूहों का कहीं पता नहीं । उपरिचर वसु ने पांच रात्र धर्म स्वीकार किया । इसका प्रचार पहले पहल चित्र शिखंडियों ने किया । भगवान की उपस्थिति में ऋषियों ने इस पद्धति की व्याख्या की । भगवान ने कहा कि तुमने एक लाख श्लोकों का निर्माण किया । इनमें मनुष्यों के कार्यों के सबंध में सब क्रियाओं का विधान है । ध्यान का भी कथन है । यह शास्त्र एक मनुष्य से दूसरे के पास पहुँचता रहेगा । अंत में यह वृहस्पति तक पहुँचेगा । उनसे इसे राजा वसु प्राप्त करेगा और वह मेरा भक्त बन जाएगा । राजा वसु ने एक अश्वमेध यज्ञ किया । इसमें बृहस्पति पुरोहित बना । एकत, द्वित तथा त्रित इसके दर्शक अथवा सदस्य बने । इस अवसर पर कोई पशु नहीं मारा गया । ईश्वर केवल राजा के सामने प्रकट हुआ और उससे प्रसाद ग्रहण किया । वृहस्पति इस पर क्रोधित हुए । दर्शकों ने कहा कि प्रभु तो केवल उसी के सामने प्रकट होता है जो उसकी अनुकंपाएं प्राप्त करते है । इस प्रंसग में बलियज्ञ नहीं किया गया है । साथ ही पुरोहित की उपेक्षा भी है ।

भागवत पद्धति पांचरात्र धर्म भी है । इसमें वसुदेव कृष्ण की पूजा का विधान है । पांचरात्र के उद्‌भव के संबंध में अनेक मत हैं ।[1] आलवारों ने इस धर्म को स्वीकार किया । आलवारों के अन्य पुरूष पाँचवी शती ई॰ के आसपास कहे जाते हैं । आलवार शब्द का अर्थ है परमात्म के प्रेम में निमग्न ये सभी वर्णो से संबंधित है । यह साहित्य वैष्णवों का वेद है ।

---

1॰ श्रेडर : इन्ट्रोडक्सन टू पांचरात्र

आगम के चार विषय है । ज्ञान योग अथवा ध्यान, मूर्तियों का निर्माण एवं स्थापना और क्रिया कलाप ﴾ चर्या संस्कार ﴿ इस परंपरा के मुख्य देवता वासुदेव कृष्ण है । इनके चार व्यूह है । ब्रह्म से लेकर आश्वार स्तम्भ = ﴾ तृण ﴿ तक सब कुछ कृष्ण ही है ।

रामानुज आदि दक्षिणात्य आचार्य भी पांचरात्र के आधार पर अपने सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं । इन्ही के आधार पर प्रस्थान त्रयी के भाष्य किए गए । यज्ञों के स्थान पर मंदिरों की पूजा स्थापित की गई वैसे यह धर्म भक्ति भावना प्रधान हो गया । आत्म समर्पण इसका प्रतीक बन गया । ईश्वर उनका सहायक है । वह न्यायकारी होते हुए भी पापात्माओं को क्षमा भी कर सकता है । इस कार्य में मध्यस्थ के रूप में लक्ष्मी सहायक होती है । ईश्वर का कठोर न्याय भी लक्ष्मी की दया शीलता के कारण नरम पड़ जाता है । वह दण्ड देना जानती ही नहीं । वह भक्त की पुकार सुनती है ।

उपासकों में वर्ण भेद नही है । जाबाल ब्राह्मण कहता है : हूण जाति के लोग भी वैष्णवों के संसर्ग में आने मात्र से पाप मुक्त और पवित्र हो जाते है । वर्णाश्रम धर्म का महत्व इस क्षेत्र में कम हो गया ।

पांचरात्र भागवत अथवा सात्वत धर्म आर्योतर माना जाता है । इसकी पूजा का विधान अवैदिक है । वैदिक क्रिया कलापों को छोड़ दिया गया । दार्शनिक सिद्धांत ﴾ व्यूह - आदि ﴿ भी वैदिक कल्पनाओं के विपरीत पड़ते है । इसलिए आगम प्रामाण्य के प्रति आपत्तियाँ उठाई हुई । यामुनाचार्य जी ने इन सभी आपत्तियों का खंडन किया । अग्नि होत्र और ज्योतिष्ठोम आदि क्रिया कलापों तथा यज्ञानुष्ठान का विधान इसमें नहीं है । वेदों के लिए उपेक्षा भरे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है ।

---

1. आब्रह्म स्तम्भ पर्यंत: सर्व कृष्ण चराचरम ﴾ नारद पांचरात्र ﴿

ब्राह्मणों ने आरंभ में इसे स्वीकार नहीं किया । आर्येतर जाति के सात्वद उसका आचरण करते है ।[1] जादू टोना में भी विश्वास है - परंपरा गत सूची में इस पद्यीत की गणना नहीं है । शंकर भी इसको स्वीकार नहीं करते शायद बादरायण को भी यह पद्यीत स्वीकार्य नहीं थी । इसके पक्ष में यमुनाचार्य जी कहते हैं कि इस सम्प्रदाय का संबंध वेद से है । महाभारत और भागवत में बादरायण, भृगु, भरद्वाज आदि ऋषि इसकी प्रामाणिकता को मानते हैं । भागवत सर्वश्रेष्ठ है । रामानुज ने भी इसका समर्थन किया । इस समर्थन की आवश्यकता ही तब हुई जब इसको वैदिक नहीं माना जाता था ।

यह धर्म बौद्ध धर्म के समान ही प्राचीन है । बौद्ध और जैने धर्म के ग्रंथो में भक्ति सम्प्रदाय के उल्लेख हैं । यह एकेश्वरवादी अथवा एकांतिक धर्म है । नारायणीय सात्वं एकांतिक भागवत और पांचरात्र इसके पर्यायों के रूप में आते है । इसका स्रोत है - महाभारत का नारायणीय विभाग, अवतारों का भी उल्लेख मिलत है । इस मत में भक्ति को ही मोक्ष का मार्ग कहा गया है ।

इसकी दूसरी विशेषता हं, पशु हिंसा का वर्णन । वास्तव में पशु हिंसा को लेकर वैदिक धर्म के विरोधं में बौद्ध जैन आन्दोलन हुए । भागवत धर्म भी ऐसा ही आन्दोलन था जो अवैदिक और नास्तिक नहीं था । इसने वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए क्रान्ति का स्वर उठाया ।

भागवत सम्प्रदाय का मुख्य नाम वासुदेव है ।[2] वासुदेव प्रेममय है और सबका उपकारक है ।[3] भागवत मंत्र में भी यह नाम आता है -" ओं नमो भगवते वासुदेवाय ।" भगवाद नाम से इस धर्म का वैदिक स्रोत व्यंजित हो जाता है ।

---

1• मनु - 1• 13 • 5

2• भगवत गीता, 7• 19•

3• महा भीष्म - अध्याय 66•

वेदो में भग का अर्थ ही हो गया - सौजन्य अथवा उदारता । इन गुणों वाला देवता ही भगवत है । इसकी उपासना भागवत धर्म है । विष्णु पुराण के अनुसार ऐश्वर्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सभी भग है । इन गुणों से युक्त देवता भगवत है ।[1] आगे चल कर वासुदेव को नारायण और विष्णु का रूप दे दिया गया ।

उपर्युक्त आगम शाखाओं के साथ-साथ भागवत या सात्वत् धर्म भी चला । पांचरात्र पद्धति से इसका संबंध भी था ।

## 1•2• भागवत सम्प्रदाय : सात्वत् :-

इस धर्म को वासुदेव धर्म के नाम से भी पीछे पुकारा गया । यह भी वेद के प्रति उदासीन लगता है । भागवत धर्म की एक संज्ञा सात्वत धर्म भी है । यह नाम वासुदेव को दिया गया था ।[2] भागवत में सात्वतों को भगवत का उपासक बतलाया गया है ।[3] यह वृष्णियों के समान यादवों की एक उपजाति थी ।[4]

### 1•2•1 वेद के प्रति प्रतिक्रया : सात्वत / भागवत :-

अनुश्रुति के अनुसार भागवत एकान्त विधा है । इसका मूल यद्यपि सामवेद में माना गया है, किन्तु भागवत सम्प्रदाय की दीक्षा और पूजा पद्धति का साम्य वैदिक पद्धति से नहीं है बल्कि वैदिक दीक्षा को विष्णु पूजा के लिए पर्याप्त कहा गया है ।

---

1• विष्णु पु• 65 , 74•

2• आदि पर्व 218, 12

3• भागवत, 9•9•48

4• भागवत 1• 14• 25• : 3• 1• 28

भागवत को वेदेतर सिद्ध करने के लिए कई अनुश्रुतियाँ है । शांडिल्य को जब चतुर्वेदाध्ययन से पुरूषार्थ की उपलब्धि नहीं हुई तो एक नये वेद की सृष्टि की गई । दूसरी ओर भागवत को निगम कल्पतरू का स्वयं फलित फल भी कहा गया है ।

जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदायों में ब्रह्म सूत्रों के भाष्य की परंपरा चली उसी प्रकार भागवत की भी टीकाएँ और उसके भाष्य भी लिखे गए । सबसे प्रसिद्ध भाष्य वल्लभ कृत " सुबोधिनी " है । चैतन्य सम्प्रदाय में भागवत को प्रस्थानत्रयी के भाष्य की प्रतिष्ठा प्राप्त है । सनातन गोस्वामी ने " वैष्णव तोषिणी " टीका लिखी ।

भागवत की रचना कहीं दक्षिण में हुई बतलाई जाती है । ब्रह्म वैवर्त्त पुराण और पद्म पुराण राधा भाव से संबंधित पुराण है । इनकी रचना कहीं बंगाल में हुई मानी जाती है । इस प्रकार वेदेनर माधुर्य भाव से संबंधित पुराण ग्रंथ भारत के पूर्वी और दाक्षिणात्य सीमांचलों में हुआ ।

## 1•2•2 भागवत धर्म : वासुदेव धर्म :-

सामान्य रूप से भागवत धर्म वैष्णव मत माना जाता है । किन्तु शैव भागवतों की भी सूचना मिलती है ।[1] इस धर्म के विकास की चार स्थितियाँ मानी गई है :

---

1• पतंजलि ( महाकाव्य, 2• 76 ) ने शैव भागवतों का उल्लेख किया है ।

1· पहली स्थितियाँ ( 300 ईसा पूर्व तक ) ब्राह्मण धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र, कृष्ण । वासुदेव के द्वारा एकेश्वर वाद की स्थापना, संस्थापक, देवता, भक्ति के आधार पर एक भावना ।

2· दूसरी स्थिति, इस धर्म को ब्राह्मण धर्म का रूप देना । कृष्ण, विष्णु, विष्णु सर्व प्रथम या सर्वोपरि । वैष्णव सम्प्रदाय [1] विष्णु के उपासकों का संप्रदाय ( 300 ईसा पूर्व के लगभग ) विष्णु की वैदिक पूजा में ईशानुकंपा का कोई स्थान नहीं था ।

3· तीसरी स्थिति = भागवत धर्म वैष्णव मत में परिवर्तित उसमें वेदांत सांख्य और योग के तत्वों का समावेश ( ई·स· के प्रारंभ से 1200 तक )

4· चौथी स्थिति में भक्ति आंदोलन आता है जब रामानुज ने इसको दार्शनिक पद्धति का रूप दिया ।

पहली स्थिति भागवत धर्म की है । केन्द्रीय व्यक्तित्व कृष्ण का है । कृष्ण ने श्वेत द्वीप में नारद को इसका धर्म समझाया । [2] संभवतः यह गीता दर्शन या उसके समकक्ष है । [3] इसमें यह कहा गया कि परम तत्व भक्ति से ही प्राप्त होता है । वासुदेव सर्वोपरि आत्मा है । वह जगत के अन्तर्यामी के रूप में शासक है । आगे चर्तुव्यूह की चर्चा है संकर्षण जीवित प्राणियों का प्रतिनिधि, प्रद्युम्न = मन अनिरुद्ध = आत्म चेतना ।

आर्यीकरण के फल स्वरूप वासुदेव का नारायण के साथ और पीछे विष्णु के साथ संबंध हो गया । महाभारत के नारायणीय विभाग में वसुदेव और नारायण एक समान बताए गए है । नर और नारायण के सनातन मित्रता की कथाएँ कही गई है ।

---

1· यह नाम महा· 18 · 3· 97 में मिलता है ।

2· नारद ने श्वेत द्वीप की यात्रा नारायण की प्रेरणा से की ।

3· शांति पर्व, 346, 348, 56·

संभवत: वे जीवात्मा और ईश्वर के रूप है । नारायण साक्षी मात्र है और फल का भोक्ता है नर । नारायण विश्वात्मा है । यही मनुष्य के लिए विश्रान्ति का स्थान है ।[1] इसी प्रकार का एक वैदिक दृष्टान्त है । दोनों पक्षी एक ही शाखा पर निवास करते है । मनुस्मृति में नारायण का संबंध जल माना गया है क्योंकि " नार " का अर्थ जल है और सर्वोपरि ब्रह्म का निवास स्थल जल है । इसी के आधार पर नारायण शब्द व्युत्पन्न हुआ ।[2] वह समस्त संसार का उद्गम है । सर्वोपरि ईश्वर वृहत्काम शेष नाग के ऊपर क्षीर सागर में शयन करते है । आगे चल कर वासुदेव को नारायण और विष्णु का रूप दे दिया गया है ।

## 1·3 पंचम वेद : उपेक्षित वर्ग :-

ऊपर जिस भागवत धर्म और वासुदेव धर्म की चर्चा की गई है उससे संबंधित दो ग्रंथ है - महाभारत और भागवत । वासुदेव धर्म का चरम विकास श्रीमद्भागवत में देखा जा सकता है । भागवत को सात्वत् संहिता नाम दिया गया है । महाभारत का संकल्प है कि वह उन वर्गों के लिए मार्ग प्रस्तुत करेगा जो वर्ग उपेक्षित है । इस रूप में इस साहित्य को पंचम वेद की संज्ञा भी दी गई है ।

वेद की परंपरा में पहले वेद त्रयी ही थी । अर्थव को इसमें शामिल नहीं किया जाता था । जैसे - तैसे अर्थव वेद की स्वीकृति हुई । यह स्वीकृति एक सामाजिक आवश्यकता और दबाव के कारण हुई । सामाजिकवर्णवाद की दृष्टि से वेदाध्ययन का मार्ग सबके लिए खुला हुआनहीं था । बौद्ध शास्त्र पर सभी का अधिकार था । जो साहित्य उस जन समुदाय को लेकर या उनके लिए लिखा गया उसको पंचम वेद की संज्ञा दी गई । एक प्रकार से पंचम वेद चारों वेदों की श्रृंखला की पूरी कड़ी थी । इस प सभी वर्गों और जातियों का समान अधिकार था ।

---

1· महाभारत, 12 - 341·

2· मनुस्मृति 1· 10·

महाभारत पर भी सभी जातियों, शूद्रों और स्त्रियों का भी अधिकार था बल्कि इसकी रचना भी इन वर्गों को ध्यान में रख कर की गई थी ।

उपेक्षित वर्गों में नवागंतुक जन जातियां, शूद्र और स्त्रियां सम्मिलित हैं । समाज के इन वर्गों के लिए ही पांचवे वेद की रचना की गई

### 1.4 सामाजिक प्रश्न :

#### 1.4.1 नवागंतुक :-

भारत में नए नए समुदायों का आना और बसना इतिहास सिद्ध है । इनके अपने विश्वास थे अपने देवता थे, अपनी मिथक सम्पदा थी । आर्य जाति में इनके प्रवेश का मार्ग खोजा या बनाया जा रहा था । इसके लिए पुरातन वैदिक संस्कृति में अनेक परिवर्तन आवश्यक हो गए, जिनका सामंजस्य नवागन्तुकों से हो सके । आर्य धर्म और संस्कृति के तत्वों का आदान भी सहज रूप से होने लगा । नवोदित धर्म उनके प्रति समन्वय की भावना लेकर चला फिर भी वेद और यज्ञ के क्षेत्र इनके लिए प्राय: वर्जित रहे । वैसे अनेक आर्येतर तत्वों को अर्यों ने अन्दर पचा लिया । नवागंतुको के लिए नैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं का ध्यान रखकर संस्कृति में परिवर्तन करना अत्यावश्यक हो गया । इनके देवी देवताओं की पूजाभी स्वीकार करनी थी और वैदिक संस्कृति के साथ उनका समन्वय भी करना था ।

पाशुपत, भागवत और तान्त्रिक विकास लगभग इसी समय से हुआ । यह एक सामाजिक उथल-पुथल का परिणाम थे । इनकी भूमिका आंदोलन की ही भूमिका थी । यह नवागंतुक समुदायों को आर्य परिकर में समाविष्ट करने के कार्यक्रम के अन्तर्गत था । महाकाव्यों और पुराणों की परंपराओं में वैदिक धर्म का विकास इसी संदर्भ को लिए हुए मिलता है । ये पंरपराएँ आर्य और आर्येतर तत्वों को साथ लेकर चली हैं ।

महाकाव्यों की भूमिका में आर्येतर तत्वों और जन जातीय सूत्रों की बुनावट है । महाभारत के भीम की रक्त पिपासा तथा द्रौपदी का बहुपतीत्व इस तत्व को प्रमाणित करते हैं । रामायण में भी आर्येतर तत्व गुम्फित हैं । इन दोनों ग्रंथों में नवागंतुक समुदायों की वीरगाथाओं, लोक गीत, विश्वास तथा आर्य संस्कृति के तत्वों का समन्वय एक विस्तृत धरातल पर किया गया है । जैसे प्राचीन ज्ञान को नया रूप प्रदान किया जा रहा है । नवागंतुकों को इस नए रूप में काफी अपनत्व दिखालाई गई ।

रामायण में भी आदिम जातियों और आर्येतर समुदायों का तत्व बहुत अधिक है । आदिम जातियों का संगठन और उपभोग राम ने किया । महाभारत की भाँति यह भी बहुदेववादी ग्रंथ है । बहुदेववाद आगंतुक धार्मिक सांस्कृतिक तत्वों के समन्वय का भी परिणाम है । बहुदेवों में वैदिक देवताभी औ और वेदेतर भी ।

आर्य और अनार्य संस्कृतियों का संगम हमारे इतिहास में आदि काल से चला आ रहा है । " उपनिषद युग तक आते आते मध्य प्रदेश में आर्यों तथा अनार्यों का सम्मिश्रण एवं निकट संबंध स्थापित हो चुका था और उनका सांस्कृतिक जीवन परस्पर प्रभावित होता आ रहा था । " [1]

### 1.4.2 शूद्र और स्त्री :-

दूसरी सामाजिक समस्या शूद्र और स्त्री की थी । इनको उच्च धार्मिक या वैदिक साहित्य या अनेक साधनाओं से वंचित रखा जाता था । इनकी धार्मिक और नैतिक आवश्यकताएँ भी अनुपेक्षित नहीं कही जा सकती थी । महाकाव्यों ने इस

---

1. रतिभानसिंह नाहर, भक्ति आंदोलन का अध्ययन पृ. 34.

आवश्यकता की पूर्ति भी की । सायणाचार्य कृष्ण यजुर्वेद के ऊपर की गई अपनी टीका में कहते है कि महाभारत और पुरानों की रचना स्त्रियों और शूद्रों को कर्तव्य के विधान की शिक्षा देने के लिए हुई है । क्योंकि इन दोनों के लिए वेदपाठ निषिद्ध था ।[1] आचरण और समाज शास्त्र से संबंधित यह एक सामाजिक ग्रंथ है ।[2] दुर्बल तथा अन्त्यज वर्ग के जन के लिए नैतिक आचार की व्यवस्था करना महाभारत का अभिमत है ।

बौद्ध धर्म की साधना का मार्ग अंत में स्त्रियों के लिए भी खोल दिया गया । फिर भी शायद उनकी समस्या का समाधान नहीं हुआ । महाभारत में एक स्त्री, दूसरी से प्रश्न करती है : " तुम इतनी तेजस्वी किस प्रकार दिखाई देती हो " उत्तर मिला, मैंने पीले वस्त्र नहीं पहने, न वल्कल वसन ही धारण किए न सिर मुड़ाया और न तपस्विनियों की भाँति बालों का गुच्छा रखा ।[3]

## 1·4·3 शूद्र : निम्न वर्ग :-

शूद्र के संबंध में भी स्मृति साहित्य अनुदार है । आरंभ में शायद शूद्रों के प्रति इतनी अनुदार दृष्टि नहीं थी । महाभारत काल में तीन विनयी शूद्रों के राज सभा में रहने का विधान था ।[4] इसके पश्चात् शूद्रों की अवस्था गिरती गई । बौद्ध और जैन सहानुभूति ने शूद्र के पाश को कुछ शिथिल किया था, पर गुप्तकाल में व्यवस्था फिर से सुदृढ़ हो गई । स्मृति ने विधान किया कि शूद्र त्रिवर्ग की सेवा

---

1· विहिल ओलिका इंडिका, खण्ड - 2, पृ· 2·

2· आश्वलायन ब्रह्म सूत्र, 3· 4· 4·

3· महाभारत, 13· 123·8, 12 - 18 - 32·

4· महाभारत शांतिपर्व, अध्याय 85·

करें ।[1] पीछे शूद्र अस्पृश्य हो गए : सेवा दासता का पर्याय बन गई । शूद्र कृषि वर्ग एवं उद्योग में प्रवृत्त होकर धनवान भी होने लगे । उच्च वर्ग इन धनवान शूद्रों से अशंक होने लगे । उच्च वर्ग इन धनवान शूद्रों से अशंक होने लगे । मनु ने धनवान शूद्र को ब्राह्मण का बाधक बतलाया है ।[2] शूद्र संभवत: राजा भी होने लगे । अत: शूद्र के राज्य में निवास करना निषिद्ध किया ।[3] समान अपराध करने पर भी शूद्र को ब्राह्मण की अपेक्षा बड़ा दण्ड दिया जाता था ।[4] व्यवसाय के अनुसार शूद्रों में भी जाति विभाजन होने लगा ।[5] इन्ही व्यावसायिक शूद्र उपजातियों ने अपने युग युग के आक्रोश को अपने में से ही उत्पन्न हुए कुछ संतों के द्वारा व्यक्त किया । मनुस्मृति की व्यवस्था से प्रताड़ित संत में वर्ण व्यवस्था के प्रतिएक कटु प्रतिक्रिया हुई । स्मृतियों के भाष्यों की परंपरा इन स्पष्ट विधानों को छिपा कैसे सकती थी । अत: यह भाष्य परंपरा लाख चेष्टा करने परभी सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादिनी ही बनी रही ।

इन परिस्थितियों में स्मृति परंपरा जब कारगर नहीं हुई तो सांस्कृतिक आंदोलन की शक्तियों ने जोर पकड़ा । आंदोलन क्रांति समन्वय और नवीन परंपरा बोध लेकर चला । जहाँ विरोधी तत्वों के बीच सामंजस्य सूत्र सुदृढ़ हुए, वहाँ हिन्दू संस्कृति का परंपरा गत चित्र लोक मानस पर अपनी स्वच्छ छवियों के साथ अंकित होने लगा । सांस्कृतिक इतिहास को जैसे एक नवोन्मेष मिला हो। निर्गुणवादी शाखा के विकास पल्लवन में शूद्रों का सबसे अधिक हाथ रहा ।

---

1· मनु· 8 / 410·

2· मनु स्मृति 10 / 129·

3· - वही - 4 / 61·

4· घुरये, कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पृ· 70·

5· ओझा, मध्य कालीन भारतीय संस्कृति, पृ· 548·

2· भीक्त आंदोलन : एक नवोत्थान :-

ऊपर उन ऐतिहासिक परीस्थीतियों पर दृष्टि पात किया गया जो वेद और कर्म काण्ड के विरोध में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रही थी । इन्ही परीस्थीतियों ने उन बीजों का आरोपण भी किया जो आगे चलकर मध्यकालीन भीक्त आंदोलन के रूप में भारत व्यापी बनता गया । रूढ़ रूप में इसी को भीक्त आन्दोलन का नाम दिया जाता है । इस शीर्षक के अन्तर्गत मध्यकालीन नवोत्थान और उसके चरित्र को विस्तार से देखने का प्रयत्न किया गया ।

2.1 भक्ति द्राविड़ उपजी :

(यह कहा जाता है कि भ.क्ति आंदोलन का बीजारोपण दक्षिण भारत में हुआ । जब वहाँ आंदोलन ने रूप ग्रहण कर लिया तब वह उत्तर भारत में पहुँचा । भारत वर्ष की भौतिक और सांस्कृतिक संरचना कुछ इस प्रकार की है कि प्रत्येक आंदोलन की शुरूआत परिधियों पर होती है और परिधि से इसकी लहरी केन्द्राभिमुख होती है । बौद्ध धर्म जैन धर्म और भक्ति आंदोलन का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है जहाँ बौद्ध धर्म और जैन धर्म पूर्वांचलीय परिधियों पर घटित हुए वहाँ भक्ति आंदोलन की जड़ें दक्षिणांचल की परिधि पर रूपाकार ग्रहण करता है और फिर मध्यदेश की ओर चलता है ।

दक्षिणांचल की एक विशेषता यह है कि यह क्षेत्र जन जातियों और कबीलों से संकुल है और प्राय: यह होता है कि नवोदित धर्म पहले जन जातियों में अधिक सरलता से प्रचार पाते हैं क्योंकि वहाँ किसी सुदृढ़ धर्म की प्रतिक्रिया नहीं होती । बौद्धधर्म और जैन धर्म भी इस जन जाति बहुल क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए । ईसवीं सदी की आरंभिक शताब्दियों में इन दोनों धर्मों का स्वागत हुआ । शायद यहाँ के पुराने निवासी ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था को भी बहुत दृढ़ता से नहीं मानते थे ।

द्राविड़ देश की संस्कृति का परिचय वहाँ के पुराने साहित्य से मिलता है इस दृष्टि से तमिल का संघ कालीन साहित्य महत्व पूर्ण है । इस साहित्य में भी जन जातीय जीवन की झलक मिल जाती है । जहाँ एक ओर राजाओं और सामंतों की प्रशस्तियाँ गाई गई हैं वहाँ युद्ध और प्रेम संबंधी गीत भी इस साहित्य में सम्मिलित जिनका स्रोत लोक साहित्य ही होगा ।

इन गीतों में लोकानुभूति और मानवतावादी स्वर ही विशेष रूप से मिलता है । कर्मकाण्डमय ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण केन्द्रित समाज की जाति भावना की कट्टरता इनमें नहीं है । परवर्ती साहित्य पर जैन बौद्ध नैतिकता और संस्कृत का प्रभाव अधिक पड़ा वैसे समकालीन साहित्य के समय ही सामाजिक वर्ग भेद और जाति भेद इस क्षेत्र में स्थापित होने लगा था ।

इतिहास के अनुसार भक्ति आंदोलन देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता हुआ चला । इस प्रकार इसकी प्रकृति आरंभ में क्षेत्रीय थी । किन्तु सभी क्षेत्रों में चलने वाले आंदोलनों की जीवन दृष्टि बहुत कुछ समान थी इसलिए उसकी सीमाओं में अन्तक्षेत्रीय विस्तार होता रहा । भक्ति के आंरभिक नेता यायावर या घुमक्कड़ थे और घूम - घूम कर अपना मत प्रचार करते थे । वैचारिक आधार भूमि प्रायः समान थी । दामोदरन ने इस समान भूमि की ओर इस प्रकार संकेत किया - " यह आंदोलन विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ किन्तु कुछ मूल भूत सिद्धांत ऐसे थे जो समग्र रूप से ऐसे थे जो पूरे आंदोलन पर लागू होते थे । पहले धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता का स्वीकार करना, दूसरे, ईश्वर के सामने सबकी समानता, तीसरे, जाति प्रथा का विरोध, चौथे, यह विश्वास कि मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य प्रत्येक मनुष्य के सब गुणों पर निर्भर करता है न कि उसकी ऊँची जाति धन सम्पत्ति पर, पाँचवे इस विचार पर जोर कि भक्ति ही आराधना का उच्चतम स्वरूप है और अंत में कर्म काण्ड मूर्ति पूजा तीर्थाटनों और अपने को दी जाने वाली यन्त्रणाओं की निंदा ।"[1] इस सूर्च के मुद्दे आधुनिक युग में चलाए गए । सुधार आंदोलन के घोषणा पत्र में भी ज्यों के त्य मिल जाते हैं ।

---

1. भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 330.

2·2 भक्ति तत्व :-

ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति आंदोलन का प्रभाव अधिक हुआ । राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू मुस्लिम दोनों प्रकार के सामन्तो उच्च वर्गीयों से पीडित रही । संतों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया । कीर्तन गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया । ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम आदि संतों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया । " ।

बौद्ध और जैन क्रान्तियाँ भी उच्चवर्गीय नेताओं द्वारा प्रवर्तित हुई और धीरे धीरे जनोन्मुख होती गई । बौद्ध धर्म राजाओं को आत्म सात करता गया और जैन धर्म राजाओं के साथ श्रेष्ठियों को भी । इस प्रकार उक्त क्रान्तियों के प्रचार प्रसार में सामंतवादी एवं पूँजीवादी शक्तियाँ नियोजित रही । भक्ति आंदोलन की प्रकृति दूसरी थी । इसके नेता य: शूद्रों ने दिए । इन निम्न वर्गीय संत नेताओं ने अपने साहित्य का सृजन किया । उसमें आभिजात्य की गंध भीननहीं है । इस साहित्य का सौन्दर्य बोध मानववादी मूल्यों से मंडित है । ईश्वर के नाम पर जाति वाद का विरोध भी किया गया ।

ब्राह्मण शक्तियाँ शूद्रों एवं निम्न वर्गों के इस जागरण को देख रही थी । ब्राह्मण भी इन नवोदित परिकरों में सम्मिलित होने लगे । उनका स्वर भी जनवादी होने लगा । ब्राह्मण वर्ग की कुछ शक्तियाँ भक्ति के क्षेत्र में जाति निरपेक्ष जीवन मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी, जातिवाद या वर्णभेद पर आधारित समाज की जड़ों को गहरी करती जा रही थीं । साथ ही ऐसे भी ब्राह्मण नेता उभरने लगे जिन्होंने भक्ति आंदोलन के मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की थी । इस प्रकार जनवादी वाणी के प्रक्षेप से जातिवादी पुराण-धर्म की पुर्नप्रतिष्ठा भी होने लगी ।

---

1· मुक्ति बोध : नयी कविता काआत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ. 87·

## 2·3 आन्दोलन का नेतृत्व :-

### सामान्यजन :

दामोदरन के अनुसार "भक्ति आंदोलन का नेतृत्व कहीं भी ब्राह्मण पुरोहितों अथवा उच्च वर्ण वाले अभिजात वर्गीय लोगों ने नहीं किया ।"[1] इस कथन को यूँ ही स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें पूर्ण सत्य नहीं है । भक्ति आंदोलन का नेतृत्व केवल उस रूढ़ि को काटता है जिसके अनुसार समाज में धार्मिक सांस्कृतिक नेतृत्व केवल ब्राह्मणों या ब्राह्मण सामंत के हाथों में रहता था । भक्ति आंदोलन ने एक सामूहिक नेतृत्व को जन्म दिया जिसमें निम्न वर्ग के नेताभी सम्मिलित थे और उच्च वर्गीय भी । उच्च वर्गीय आचार्य तभी नेता बन सके जबकि उनके मन में सामाजिक न्याय और समता के मूल्य संचरित हुए । साथ ही एक विभाजन जैसा भी दिखलाई पड़ता है । निम्न वर्गों या वर्णों से संबंधित संत कवि का नेतृत्व अनुभव ज्ञान पर आधारित था क्योंकि यह वर्ग शिक्षा और शास्त्रीय प्रशिक्षण से वंचित था । इस अनुभव वादी नेता ने अपने को उच्च वर्गीय शास्त्र निष्ठ आचार्य नेता से अलगाया थी --

"तू कहता कागद की लेखी
मै कहता आंखिन की देखी "

इसमें यह भावना भी थी कि इन दोनों नेताओं के बीच सामंजस्य संभव नहीं हो सकता किन्तु रामानुज और रामानंद जैसे आचार्य नेताओं ने दोनों के सामंजस्य के लिए भूमि तैयार की । साथ ही भारतीय दर्शन कीपरंपरा का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रस्थानत्रयी का पुनर्व्याख्यान किया । इससे एक ओर तो शंकराचार्य की समाज निरपेक्ष दार्शनिक

---

1· भारतीय चिंतन परंपरा - पृ· 328·

व्याख्याओं को विराम मिला, तो दूसरी ओर निम्न वर्ग के संत नेताओं के अनुभववादी (अभियान) नेतृत्व को एक सैद्धांतिक पृष्ठ भूमि प्राप्त हुई । इस पुर्नव्याख्यान की शैली बुद्धि और हृदय दोनों को साथ लेकर चली इस सामंजस्य के लिए एक व्यापक भूमि भी तैयार हुई । वास्तव में इस मिले-जुले नेतृत्व ने हिन्दू धर्म और संस्कृति की एक बड़े संकट काल में रक्षा की ।

नेताओं के संबंध में दामोदरन ने लिखा है " भक्ति आंदोलन के नेता न तो निरर्थक समय गंवाने वाले दार्शनिक थे और न कुर्सी पसंद आराम तलब सुधारक ही थे । वे जनता के बीच सक्रिया कार्य करते थे और कठिन परिश्रम के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते थे । "[1] यह बात कबीर के उदाहरणों से प्रमाणित हो जाती है । कबीर का विचार भी यह था कि भक्त को परिश्रम करके अपनी रोटी कमानी चाहिए । नानक के अनुसार भी जीवन के सच्चे मार्ग पर वे ही चल रहे है जो भीख नहीं मांगते और परिश्रम से अपनी जीविका कमाते हैं । जीवन की सादगी वे इसलिए चाहते थे कि उन पर अधिक आर्थिक दबाव न हो, और वे इस दबाव से उत्पन्न विकारों से बचे रहें । आरंभ में नेतृत्व व्यापारियों और दस्तकारियों के हाथ में ही रहा किन्तु पीछे वे किसानों तक भी फैल गए । इन नेताओं की विशेषता यह थी कि ये कवि थे और सामान्य जनता की भाषा में साहित्य रचते थे ।

डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि समाज के सामान्य स्तर के लोग क्रान्ति चेतना से प्रेरित थे " साधारण जनता का सदगी में जीवन व्यतीत करने वाले सन्तों का एकऐसा क्रान्ति वर्ग था जिसने सभी अत्याचारों और दुर्व्यवस्था के विरोध में अपना झण्डा ऊँचा किया । इन संतों में अधिकतर निम्न जाति के लोग थे जो समाज और राज्य की ओर से तिरस्कृत थे ।[2] संतों की दृष्टि में सभी मानवों की एक ही जाति है ।

---

1· भारतीय चिंतन परंपरा - पृ॰ 329·

2· मध्यकालीन धर्म साधना - पृ॰ 216·

## 2•3•1. आचार्य नेता :

### 2•3•1•1 रामानुजाचार्य ( 12 वीं• शती ) :

भक्ति एक लोक धर्म या लोक दर्शन के रूप में प्रकट हुई । इसके बीजों का अन्वेषण भारत के आदिकालीन दर्शनों में भी किया जाता है, किन्तु मध्यकाल तक पहुँचते पहुँचते यह दर्शन एक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लेता है । शंकराचार्य ने जिस अद्वैत दर्शन का सूत्रपात किया था उसमें जगत के यथार्थ का तिरस्कार था । एक मत तो यह प्रचलित हुआ कि शंकराचार्य का अद्वैत महायानी बौद्धों के शून्यवाद का ही नया संस्करण है और शंकराचार्य स्वयं प्रच्छन्न बौद्ध ही थे ।

शंकराचार्य की दार्शनिक पद्दति का विरोध दक्षिण में आरम्भ हुआ । नाथ-मुनि और उनके पौत्र यामनाचार्य ( आत्यवान्तार ) ने 11 वीं शताब्दी में शंकराचार्य के मत का खण्डन किया । इन आचार्यों की शिष्य परंपरा में रामानुज आते हैं । वे शंकर अद्वैत के प्रबल विरोधी हो गए । इन्होंने अद्वैत के स्थान पर विशिष्टाद्वैत दर्शन की नींव रखी ।

रामानुजाचार्य के दर्शन की भावात्मक पीठिका में आलावार संतो के भक्ति गीत है । साथ ही प्रस्थान त्रयी पर उन्होंने महत्वपूर्ण भाष्य लिखे । इनकी सबसे अधिक क्रान्तिकारी स्थापना यह थी कियह जगत केवल मिथ्या भ्रम नहीं है । यह एक प्रकार से भौतिक जगत की स्वीकृति है । शंकराचार्य ने ब्रह्म और आत्मा की एकता की बात कही थी । रामानुज ने इस मत को भी नहीं माना । परमात्मा से एका-कार होने पर भी आत्मा का अलग अस्तित्व है । इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य में भी विशि-ष्टाद्वैत दर्शन ने द्वैत ही देखा ।

रामानुज ने शंकर के निर्गुण ब्रह्म को अस्वीकृत कर दिया । उसने ऐसे गुणों का समावेश आचार्य ने किया जिसके आधार पर उसको सामाजिक जीवन से जोड़ा जा सकता है । ज्ञान शक्ति कल्याण दीप्ति तथा दया इसी प्रकार के गुण है । समस्त जगत ब्रह्म की ही सृष्टि और अभिव्यक्ति है । साधना के रूप में उन्होंने भक्ति मार्ग की एकान्त प्रतिष्ठा की । उनके अनुसार सच्चा ज्ञान भक्ति से प्राप्त से प्राप्त होता है । शंकराचार्य की साधना में प्रेम और भक्ति का तत्व नहीं था ।

इस प्रकार रामानुज की दार्शनिक उद्‌भावनाओं में एक क्रान्तिकारी दृष्टि लक्षित होती है । यह क्रान्ति दृष्टि आधुनिकता को एक सीमा तक स्पर्श करती है । जगत को यथार्थ मानकर उन्होंने आधुनिक दृष्टि को पुष्ट किया है । दर्शन धर्म और साधना को पुस्तकीय सिद्धांत वाद से मुक्त करके उन्होंने एक लोक धर्म की स्थापना की । जिसमें ज्ञान की उच्च भूमियों का स्थान प्रेम भावना ले लेती है ।

रामानुज के व्यक्तित्व का एक सामाजिक पक्ष भी है । वर्ण व्यवस्था के प्रति शंकराचार्य का दृष्टि कोण रूढ़ था । किन्तु रामानुज की दृष्टि इस संबंध में उदार थी । उनके अनुसार भक्ति की साधना पर सबका समान अधिकार है । सभी वैष्णव भक्त चाहे किसी जाति के हो समान है । क्योंकि सभी में एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति है । अछूत जाति के एक आलवार संत तिरूत्वन के द्वारा रचित " तिरू-वैमौली " को उन्होंने वैष्णवों का वेद ही स्वीकार किया । वैष्णव मंदिरों में अछूत आलवारों के विग्रह भी उन्होंने स्थापित कराए । वैष्णव समाज को अलग करने वाली अनेक कठिनाइयों को आचार्य जी ने दूर किया । फिर भी एक मूल बद्ध रूढ़ि को दूर करना सरल कार्य नहीं होता । रामानुज ने यह मार्ग निकाला कि वैष्णव भक्त भोजन तो अलग - अलग करेंगे किन्तु भजन और एक साथ होगी । यहाँ तक कि ईश्वर की भक्ति के लिए किसी पुरोहित वर्ग की आवश्यकता को भी इन्होंने नहीं माना रामानुजाचार्य की यह क्रान्ति कारी आंदोलन वृत्ति बहुत लोक प्रिय और आकर्षक रही इन्होंने आलवार साहित्य को वही प्रतिष्ठा प्रदान की जो प्रस्थानत्रयी को दी गई थी रामानुज की इस विचार धारा को लगभग दो सौ वर्ष बाद रामानंद ने व्यापक बनाया

2·3·1·2 मध्वाचार्य : ( 13 वीं शती ) :

(रामानुजाचार्य की भाँति ही मध्वाचार्य ने शांकर अद्वैत को अस्वीकृत किया । अद्वैत के स्थान पर उन्होंने द्वैत दर्शन की स्थापना की । शंकराचार्य की अद्वैत प्रणाली का उन्होंने पूर्ण खण्डन किया । इनके दर्शन की मुख्य स्थापना यह है कि यह जगत यथार्थ है और यह जीवात्मा और परमात्मा के प्रति भेदभी है । इन तीनों का अलग अस्तित्व है और यह यथार्थ है । उनके अनुसार ज्ञेय यथार्थ को स्वीकार करके ही अज्ञेय तत्व का संज्ञान संभव है । उन्होंने कहा कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों और मस्तिष्क की आवश्यकता है किन्तु इनको ज्ञान की सिद्धि के लिए निर्दोष होना चाहिए । उन्होंने ऐन्द्रिय ज्ञान की उपेक्षा नही की । इसके संबंध में उनका मन्तव्य यह है, " इन्द्रिय ज्ञान सत्य का स्वयं अपना मानदण्ड है । उसे अनुमान अथवा आगम के द्वारा असंगत नहीं सिद्ध किया जा सकता । चन्द्रमा के सीमित आकार का होना तथा ऐसे ही अन्य दोष पूर्ण प्रत्यक्ष दूरी तथा अन्य असाधारण अवस्थाओं का परिणाम होते है । किन्तु कठिन से कठिन परीक्षण करने पर भी इन्द्रिय - प्रत्यक्षण द्वारा प्राप्त साक्ष्य के पूर्णत: अस्वीकृत करने के लिए कोई आधार नहीं है । ये साक्ष्य यही सिद्ध करते है कि हमारे मस्तिष्क से बाहर जगत का अस्तित्व है )। " [1]

सृष्टि के संबंध में मध्वाचार्य का मत है कि संसार की सभी वस्तुएँ प्रकृति में होने वाले विकास संबंधीं परिवर्तनों के फल स्वरूप उत्पन्न हुई है । इस विचारण पर सांख्य का थोड़ा प्रभाव स्पष्ट होता है । प्रकृति को मध्व " त्रिगुणात्मक " मानते है ।

प्रकृति का पथ प्रदर्शक ब्रह्म है और ब्रह्म ही विष्णु के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है । विष्णु सर्वोच्च सिद्धांत है और सृष्टि का प्रथम कारण भी है । जीवात्माएँ और भौतिक जगत उसी के अधीन है ।

---

1· एन·आर·शर्मा द्वारा अनूदित : मध्वाज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स - पृ· 57·
( तत्वोद्योत )

जहाँ सामाजिक दृष्टि का प्रश्न है, मध्वाचार्य ने एक सीमा तक जाति प्रथा और सामाजिक असमानताओं का विरोध किया । उन्होंने अपने शिष्यों को सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अभियान आरम्भ करने के लिए कहा । उनके विचार से बिना किसी भेद भाव के सभी लोगों को दर्शन का अध्ययन करने और उससे लाभान्वित होने का अधिकार है । उनके मतानुसार वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों को नहीं है शूद्रों को भी इसकी अनुमति मिलनी चाहिए । विष्णु भक्ति के क्षेत्र में शूद्र का भी प्रवेश होना चाहिए ।

## 2·3·1·3 निम्बार्काचार्य ( 11 वीं शती )

(निम्बार्काचार्य के सृष्टि दर्शन पर भी सांख्य का प्रभाव दिखलाई पड़ता है । ये भी ब्रह्माण्ड का विकास त्रिगुणात्मक प्रकृति से मानते थे । किन्तु प्रकृति ब्रह्म पर निर्भर है आत्म निर्भर नहीं । सगुण ब्रह्म ही सर्वोच्च यथार्थ है । सौन्दर्य आनन्द दया जैसे उदात्त गुणों से वह विभूषित है । ये जीव जगत और ब्रह्म की अलग सत्ता मानकर चले । जगत ब्रह्म का ही रूपान्तरण है । लीला के लिए ब्रह्म जगत के रूप में अपना रूपान्तरण करता है । ईश्वर के साक्षात्कार के लिए भक्ति साधना आवश्यक है ।)

## 2·3·1·4 वल्लभाचार्य : ( 15 वीं शती ) :

वल्लभाचार्य का ब्रह्म माया शबलित नहीं है इसीलिए इनका दर्शन शुद्धाद्वैत कहलाया । आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है । इनके द्वारा ही ब्रह्म का त्रिगुणात्मक सारतत्व अभिव्यक्त होता है । इनके अनुसार जगत सत्य है क्योंकि यह ब्रह्म की वास्तविक अनुभूति है । संसार मिथ्या है । क्योंकि यह जीव के अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है ।

सगुण भक्ति के संगठन में एकऔर बात दृष्टव्य है । निर्गुणियाँ भक्ति के क्षेत्र में धर्म का नेतृत्व अनिवार्य रूप से ब्राह्मणों के हाथ में नहीं था । कबीर, रैदास जैसे नेता इस संगठन का संचालन करते थे । किन्तु सगुण सगुंण भक्ति के संगठनों तथा मंदिरों का नेतृत्व ब्राह्मण के हाथ में ही था । दक्षिण में उत्पन्न भक्ति आंदोलन के चारों आचार्य नेता ब्राह्मण ही थे । रामानुजाचार्य जी ने तथा अन्य आचार्यों ने जब आल्वारों की वर्ण निरपेक्ष दृष्टि देखी तो आचार्य वर्ग को लगा कि धर्म के क्षेत्र में अब ब्राह्मणों का नेतृत्व अनिवार्य रूप से नहीं रह सकता । उन्होंने आल्वारों की आध्यात्मिक दृष्टि को अपनाया किन्तु उसकी उच्च वर्गीय व्याख्या की गई । प्रस्थानत्रयी के भाष्यों के माध्यम से इस दर्शन को दर्शन को उच्च वर्गीय मानसिकता प्रदान की गई । आचार्यों की शिष्य परंपरा चली और ब्राह्मणों का नेतृत्व कायम हो गया । मंदिरों का अर्चना कार्य भी ब्राह्मणों के ही हाथ में रहा । रामानुज संप्रदाय के मंदिरों में आल्वारों की मूर्तियाँ तो पधराई गई किन्तु मंदिरों में शूद्र प्रवेश निषिद्ध था । ऐसी अनेक अनुश्रुतियाँ भी वैष्णव केन्द्रों पर प्रचलित है, जिनसे यह ज्ञापित किया गया है कि शूद्र को पुजारी ने मंदिर में घुसने से रोका । किन्तु भगवान स्वयं उसके पास बाहर निकल कर आए । श्री रंगम्, पंडरपुर, तथा कर्नाटक में यह हुआ । कनक दास को जब रोका गया तो वे मंदिर के पीछे बैठ कर पूजा करने लगे । इनकी भक्ति से प्रभावित होकर विग्रह ने अपना मुँह मोड़ कर कनकदास की ओर कर लिया । साथ ही मंदिर के पीछे की दीवार भी टूट गई और कनकदास विग्रह के दर्शन कर सका । पंढ़र पुर में नामदेव के साथ भी ऐसी ही घटना घटी ।

### 3. दार्शनिक प्रतिक्रिया :-

यह देख कर आश्चर्य होता है कि शंकराचार्य जैसे मेधावी आचार्य द्वारा प्रवृत्तित प्रवर्धित अद्वैतवादी दर्शन की इतनी प्रबल प्रतिक्रिया हुई और उन्ही आधारों पर की गई जिन आधारों पर शंकर ने अपने मत की स्थापना की थी और प्रतिक्रिया उन आचार्यों के द्वारा हुई जिनके हाथों में भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व आया है । इसके तीन कारण प्रतीत होते हैं --

1· भक्ति के आचार्य केवल दार्शनिक नहीं थे मूलत: उनकी चेतना सामाजिक थी शंकर का अद्वैत दर्शन समाज निरपेक्ष था उसमें उच्च कोटि का तत्वाख्यान ही मिलता है । भक्ति के आचार्यों को अद्वैत का रूप इस रूप में विकसित करना था कि वह समाज सापेक्ष हो सके । दूसरा कारण यह प्रतीत होता है ज्ञानवादी दर्शन के लिए जिस मनीषिता की आवश्यकता थी वह सामान्य जन की शक्ति से परे थी । तीसरे ज्ञान साधना निवृत्ति मूलक थी और आचार्यों को रागन्वित भाव साधना स्थापित करती थी जो निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति को लेकर चल सके । और निवृत्ति के नाम पर सामाजिकता की उपेक्षा न हो ।

कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि उनकी स्थापनाओं का संबंध उस औपनिषदिक वेदांत से नहीं है जो शंकर का उपजीव्य है । डा·दास गुप्ता का मत इस संदर्भ में स्पष्ट है", शंकराचार्य का मूल सिद्धांत ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या बतलाता है । उन्होंने अपने समर्थन में उपनिषद का भाष्य भी किया और उसको मुख्य तर्क के रूप में प्रस्तावित भी किया । किन्तु उपनिषदों में ऐसे कई स्थल है जहाँ ईश्वरवाद और द्वैतका समर्थन मिलता है । शब्दों की कोई भी बाजीगरी विश्वसनीय रूप से यह नहीं दिखा सकती कि यह द्वैत वह अर्थ देता है जो शंकराचार्य के मत की पुष्टि करे । "[1] शंकराचार्य के दार्शनिक मत को मायावाद के नाम से पुकारा जाता है । मोनियर विलियम्स ने मायावाद के संबंध में लिखा है — "मायावाद का समर्थन उपनिषदों में प्राप्त नहीं होता । दर्शन का यह सूत्र बौद्ध धर्म से लिया गया है ।[2] इस प्रकार उन्होंने मायावाद का स्रोत बौद्धधर्म में माना है । डा·राधा कृष्णन ने ब्रह्म और ब्रह्माण्ड के संबंध में स्वयं उपनिषदों में एक अन्तर्विरोध को लक्षित किया है ।[3]

---

1· हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड 2 पृ· 2·

2· इण्डियन विज़डम् - पृ· 118·

3· इण्डियन फिलॉसफी खण्ड - 2 पृ· 467 - 68·

शंकराचार्य का दूसरा उपजीव्य ग्रंथ बादरायण का ब्रह्म सूत्र है । ब्रह्म सूत्र की व्याख्या के भाष्य द्वारा भी शंकर ने अपने मायावाद और अद्वैतवाद का समर्थन पर बल देता है - जगत प्रत्यक्ष है इसीलिए अयथार्थ नहीं हो सकता ।[1] विज्ञान भिक्षुक ‹17 वीं शती› ने भी शांकर दर्शन को बौद्धों के विज्ञानवाद से ही संबद्ध करके देखा है ।[2] इन्ही आधारों पर कुछ विद्वान शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कह देते हैं । शंकर का अन्त विरोध यह था कि उन्होंने विज्ञानवाद से अपने मत के लिए सूत्र संग्रह किया और दूसरी ओर बौद्ध विज्ञानवाद का उन्हें खण्डन भी करना पड़ा । यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर यह कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत को उपनिषद और ब्रह्म सूत्र का सुनिश्चित आधारा प्राप्त नहीं है ।

शांकर दर्शन का सामाजिक पक्ष बिल्कुल शिथिल है । यह दर्शन सामन्तवादी या उच्च वर्गवादी प्रकृति का ही प्रतीतहोता है । सामंतवादी मानस परिवर्तन को यथासंभव स्वीकार नही करता । शांकर दर्शन का ब्रह्म सभी प्रकार के परिवर्तनों से रहित है । यदि ब्रह्म की सत्यता मानी जाय और सभी वस्तुओं में ब्रह्म की ही उपस्थिति कही जाय तो समाज में सभी मनुष्यों को भी बराबर माना जाना चाहिए । शंकर ने व्यवहार में इस सूत्र को क्रियान्वित नहीं किया । उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि उच्च कुलीन लोग ही आत्मा और ब्रह्म के बीच अभिन्नता को समझ सकते है । वेद और वेदान्त का अध्ययन केवल उच्च कुल में उत्पन्न कुलीन ही कर सकते थे । शंकर के अनुसार शूद्र वेद का अध्ययन नहीं कर सकते थे और न ही शूद्र को उपनयन संस्कार का ही अधिकार दिया गया । बिना इस संस्कार के वेद पढ़ने का अधिकार भी नहीं मिलता । शंकर ने अपने समर्थन में गौतम धर्मशास्त्र को उद्धृत किया है, जो शूद्र वेदों को सुने उसके कानों में पिघला हुआ शीशा और लाख भर दिया जाना चाहिए ।[3]

---

1· ब्रह्म सूत्र - 2· 28·

2· सांख्य सूत्र 1· 22 पर भाष्य

3· गौतम धर्म शास्त्र - 1204·

यदि वह वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए ।[1]

यज्ञपात और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है ।[2] मनु के अनुसार शूद्र को ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए ।[3] तात्पर्य यह कि शंकर जाति व्यवस्था के समर्थक थे और यह समर्थन सामन्ती समाज की प्रकृति का है । डा॰राधा कृष्णन ने इस स्थिति पर इस प्रकार टिप्पणी की है - " कोई विचारक जो सत्य के प्रति एक बृहदतर अवधारणा की ओर बढ़ रहा होता है, अपने युग की सामान्य मान्यताओं से पूर्णतः छुटकारा नही पा लेता । यद्यपि जातपात की व्यवस्था का शंकराचार्य की नजरों में विशेष महत्व नहीं होना चाहिए था, तो भी वह उसमें विश्वास के लिए पूरी गुंजाइश छोड़ते है । यह परंपरागत सिद्धांत की किसी जाति विशेष में जन्म लेने पर जाति बदली नहीं जा सकती, बल्कि वह पूर्व जन्म का अनिवार्य परिणाम है, शंकराचार्य को उच्च वर्गों देवताओं और ऋषियों के इस दावे को मानने के लिए प्रेरित करता है कि वेदों का अध्ययन करना उनका ही विशिष्ट अधिकार है । "[4]

शंकराचार्य की इन मान्यताओं के साथ भक्ति आंदोलन का आचार्य ऐसा समझौता नहीं कर सका । उन्होंने सामाजिक दृष्टि से भी परिवर्तन किए और दार्शनिक दृष्टि से भी ।

## 4. भक्ति और समाज सुधार :-

भक्ति आंदोलन की प्रकृति यूरोप के सुधार आंदोलनों जैसी थी । चाहे धर्म का संस्पर्श इस आंदोलन के साथ लगा हो, किन्तु यह शुद्ध धार्मिक आंदोलन नहीं था । इसकी मूल प्रेरणाएँ समाज सुधार से संबंधित थी । इस आंदोलन को वैष्णव आंदोलन कहा

---

1. गौतम धर्म शास्त्र - 1305 - 6.
2. - वही - 10 - 1
3. मनुस्मृति - 4. 80
4. राधाकृष्णन् - इंण्डियन् फिलॉसफी, खण्ड - 2. पृ. 616.

जाता है और वैष्णव शब्द इस संदर्भ में एक सामाजिक यथार्थ मूलक आदर्शवाद से संबंधित था । दामोदरन का मत इस संबंध में ठीक मालूम पड़ता है - "वैष्णवों के सिद्धांत मूलत: उस समय व्याप्त सामाजिक आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थे । सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय नव जागरण कारूप धारण किया । सामाजिक विषय वस्तु में जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे । "[1] वास्तव में "वैष्णव की सामाजिक परिभाषा इस आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में बनी । एक नारा बहुत दूरी तक गूंज उठा - "जाँति पाँति पूछै नहिं कोई " अर्थात वैष्णव धर्म एक संकीर्ण जाति व्यवस्था से निरपेक्ष सामाजिक अभियान ही बन गया था । परिभाषा को बढ़ाते हुए एक संत ने कहा :- "वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीड़ पराई जाने रे । " राष्ट्रीय दृष्टि से भी वैष्णव सिद्धांत ऐतिहासिक महत्व रखता है । राष्ट्र की विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों को इसने एक सूत्र में बांधा । एक प्रकार से एक भारत व्यापी राष्ट्रीय साहित्य का सूत्र पात हुआ । चाहे सामाजिक स्तर पर जाति व्यवस्था का विरोध न हुआ हो किन्तु यह तो मान लिया गया कि ईश्वर के दरबार में सभी मनुष्य चाहे ऊँची जाति के हो अथवा नीची जाति के समान है । यह जाति प्रथा के विरुद्ध एक अभियान हीथा ।

4.। वर्णव्यवस्था विरोध :-

वर्ण व्यवस्था कालान्तर में अनेक विकृतियों और विद्रूपताओं से भर गई । मानवता कराह उठी । वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रीय एक सीमा तक वैश्य भी शूद्र के शोषक न गए । खास तौर से ब्राह्मण के विरोध ने समाज के इतर वर्णों के हृदय में असन्तोष की आग सुलगने लगी । ब्राह्मण के सामने सभी अपने को अपमानित अनुभव करने लगे । ईसा. पूर्व छठी शती में ही गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी की आवाजें वर्ण व्यवस्था के विरोध में उठी । बुद्ध ने जाति भेद और वर्ण भेद के समूल नाश

---

1. भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 327.

का प्रयत्न किया । किन्तु समाज में अस्पृश्यता का रोग पूर्ववत् ही बना रहा ।[1] फिर भी ब्राह्मण की भारत व्यापी प्रतिष्ठा - ज्योंकी त्योंबनी नही रही । पश्चिमी भारत में तो ब्राह्मणों का स्थान पूर्ववत् बना रहा किन्तु देश के पूर्वी भाग में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा । जो अपने को ब्राह्मणों से किसी प्रकार नीचा समझने को तैयार नहीं थे ।[2]

ब्राह्मण धर्म मान्य यज्ञ बलि और जटिल विधान से भर गए । उसके साथ चलने के लिए जनता हृदय से तैयार नहीं थी । वैदिक कर्म काण्ड पर भीतर से संदेह और बाहर से प्रहार होने लगे ।[3] वर्ण संकट के संघन आर्यों के विरुद्ध होने लगे । आचार्य चतुर्सेन शास्त्री और राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में ब्राह्मण विरोधी स्वरों को संजोया गया है । उदा॰ के लिए शास्त्री जी की " वैशाली नगर वधू " उपन्यास में ब्राह्मण के लिए इन विशेषणों का उपयोग हुआ है कायर पाखण्डी धूर्त स्वार्थी मोटे बछड़ों का मास खाने वाले, सुन्दरी दासियों को दक्षिणा में लाने वाले मूर्ख आदि । इतना होने पर ब्राह्मण धर्म और चर्तुवर्ण व्यवस्था बहुत कुछ ऐसी ही बनी रही और मध्य काल तक वैसी ही चल आई । वर्णाश्रम धर्म का पालन और रक्षा प्रथम् कर्तव्य घोषित किया गया ।[4] फिर भी इस यर्थार्थ को भूला नही जा सकता कि ब्राह्मणों का गौरव कम हो रहा था । वर्ण व्यवस्था का विरोध भक्ति आंदोलन में भी किसी न किसी रूप में समाया रहा और आधुनिक युग में भी उसका विरोध बढ़ता रहा ।

---

1· रतिभानु नाहर, प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास - पृ॰ 192·

2· - वही - पृ॰ 193·

3· श्री नेत्र पाण्डेय : भारतवर्ष सम्पूर्ण इतिहास पृ॰ 120·

4· रतिभानु नाहर : पूर्व मध्य कालीन भारत : पृ॰ 33·

पहले चार वर्णों के अतिरिक्त पाँचवा वर्ण नहीं था ।[1] पीछे वर्ण व्यवस्था का स्थान जाति प्रथा ने ले लिया । जाति प्रथा भारतीय समाजिक संगठन का आधार बनी ।[2] जाति शब्द का विकास जन धातु से हुआ है । इसका अर्थ है जन्म । महाकाव्य काल और पुराण काल से वर्ण व्यवस्था में विषमता आने लगी । चारों वर्णों के लिए अलग - अलग संबोधन बने - एहि - आगच्छ, अद्रव तथा अधव ।[3] उनके शुभ कर्मों के लिए अलग - अलग ऋतुएँ निश्चित की गई- वसंत, ग्रीष्म, शरद ।[4] पिंडदान का आकार प्रथा हवन के लिए पलाश, न्यग्रोध तथा अश्वत्थ लकड़ियों का प्रयोग निश्चित किया गया ।[5] इस प्रकार पारस्परिक भेद भाव बढ़ने लगा । दृष्टिकोण संकुचित और क्षेत्रीय होता गया ।[6] वर्णों के स्थान पर सैकड़ों जातियाँ बन गई । दो जातियों के संयोग से उत्पन्न लोग संकर हुए ।[7] अनुलोम प्रतिलोम संबंध और सृष्टि इसी क्रम में घटित हुए । बस्तियों से बाहर रहने वाले चांडालों को हेय दृष्टि सेदेखा जाता था और उनको अछूत समझा जाता था । यदि ये हठ करते थे तोकठोर दण्ड के भागी बनते थे । जुलाहे आदि भी इन्ही वर्गों में थे । जातीय स्तर जन्म के आधार पर निश्चित होता था ।

4.1.2 जाति - पाँति :-

जाति पाँति गत विभेद और वर्ण व्यवस्था आज राष्ट्रीय एकता के लिए अभिशाप और मानवता के प्रति अपराध बन गया है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य मनुष्य के बीच भिन्नता नहीं रहती । किन्तु उस भिन्नता का रूढ़ रूप जो

---

1. मनु 2. 87
2. पी.एच.प्रेम - हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ. 286.
3. - वही - पृ. 287.
4. - वही -
5. - वही -
6. अवध बिहारी पाण्डेय, पूर्व मध्य कालीन भारत, पृ. 422.
7. - वही -

अपना संबंध नियति और दैवी विधान से जोड़ता है निश्चित रूप से एक अमानवीय तत्व है । जाति गत ऊँच नीच यदि शोषक और शोषित का रूप धारण कर ले तो भेद व्यवस्था हर दृष्टि से त्याज्य हो जाती है ।

वैस वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति में कोई नई चीज नही है । इसका सर्व प्रथम संकेत ऋग्वेद में मिलता है ।[1] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल से ही ब्राह्मण विरोध की पंखरा भी चली । इसका कारण यह था कि ब्राह्मण का महत्व इतना बढ़ा कि उसको दिव्यता प्रदान की जाने लगी । उसका उल्लेख पितरों के साथ होने लगा ।[2] उसके प्रत्यक्ष देवता के रूप में भी देखा और माना जाने लगा ।[3] उसके भीतर कई देवता निवास करते है इसीलिए वह नमस्कारी है ।[4] ब्राह्मण को दिव्य वर्ण कहा गया है ।[5] तात्पर्य यह है, कि आदि दैविक रूप में ब्राह्मण को सामान्य जन से ऊपर मान लिया गया ।

वर्ण व्यवस्था में भी उसका सर्वोच्च स्थान हो गया । उसे क्षत्रीय से उच्चतर बताया गया ।[6] दस वर्षीय ब्राह्मण सौ वर्षीय क्षत्रीय से श्रेष्ठ है ।[7] अर्थात् सामाजिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति सर्वोच्च हो गई ।

समाज की धार्मिक व्यवस्था में ही नहीं सामाजिक व्यवस्था में भी ब्राह्मण की स्थिति सर्वोपरि हो गई ।[8] अलबरूनी ने भी अपने समय तक ब्राह्मण की यही

---

1· ब्राह्मणस्थ मुखमासीद् बाहूराजन्य :कृत : उरूतदस्य यद्वैश्य = पदभ्यांशूद्रो जायत ।। ( ऋ 10-92-
2· ऋग्वेद 6· 6· 75
3· तैत्तरीय संहिता 1·7·31
4· आरण्यक 2·15·
5· दैव्यो वै वर्णो बाह्णै: । तैत्तरीय ब्राह्मण 1·2·6
6· ब्रह्म ही पूर्व क्षत्रात् । ताण्ड्य् बाह्मण 11· 12·
7· आपस्तम । धर्म सूत्र 1·14 - 23·
8· जय शंकर मिश्र ग्यारवीं सदी का भारत । वाराणसी 1974 पृ· 102·

स्थिति मानी है ।[1] यह भेद भाव इतना बढ़ा कि दण्ड विधान में भी स्मृति कारों ने उसके साथ पक्षपात किया है । यदि शूद्र ब्राह्मण को अपशब्द कहे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए या उसे मृत्यु दण्ड मिलना चाहिए ।[2] एक ही अपराध के लिए दो प्रकार का दण्ड विधान किया जाता था । शूद्र यदि ब्राह्मणी के साथ समागम करे तो उसे प्राणदण्ड मिलना चाहिए और यदि ब्राह्मण शूद्र के साथ समागम करे तो उसे कार्षापण सा दण्ड मिलता था ।[3] ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड तो मध्य युग में भी नहीं दिया जाता था ।[4]

अपने कार्य की दृष्टि से ब्राह्मण का स्थान महत्व पूर्ण था । यज्ञ कराना वेद पाठ करना, अध्यापन मनन, तथा उसका कवि होना दार्शनिक होना आदि इतिहास से सिद्ध है ।[5] मेगस्थनीज ने भी ब्राह्मण को इसी रूप में पाया ।[6] इन गुणों के कारण ही उसे राजदरबारों में भी विशिष्ट स्थान प्राप्त था । वह सचिव राजगुरू मन्त्री आदि के रूप में प्रतिष्ठित था ।[7] अन्त्येष्टि क्रियाओं के बाद दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मण को घर बुला कर भोजन कराया जाता था ।[8] वह वैदिक और पौराणिक विधा का ज्ञाता था, विविध शास्त्र उसे कण्ठस्थ रहते थे ।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण शोषक बनने की स्थिति में था । एक दर्शन पर उसका एकाधिकार था । उस क्षेत्र में अन्य किसी का प्रवेश ही नहीं था । इसलिए ब्राह्मण विलासी और झूठी प्रतिष्ठा में अन्तर्लीन होता चला गया । साम्यवादी दृष्टि में पुरोहित का यही शोषक रूप है जो पूँजीपति के समान ही समाज का शत्रु है ।

---

1. इलियट एण्ड डावसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एक टोल्ड बै इट्स ओन हिस्टॉरियनस् लंदन 1887 वॉल्यूम, 8 पृ. 19.
2. मनुस्मृति - 8. 2. 70. 3. मनुस्मृति 8. 366, 8. 378.
4. जयशंकर मिश्र : ग्यारहवीं शती का भारत पृ. 108.
5. - वही - पृ. 103.
6. - वही - पृ. 101. पर उद्धृत
7. समराइच्च कहा - पृ. 3.
8. - वही - पृ. 9.

3. 5 समन्वय और क्रान्ति की शक्तियाँ :-

राजनीतिक भाषा में समन्वय को तटस्थता कहा जा सकता है । इस समन्वय की चर्चा कभी क्रान्ति विरोधिनी सी लगती है । सौन्दर्य बोध की दृष्टि से कभी समन्वय की चर्चा की जाती है और कभी क्रान्ति की । लूनाचार्स्की ने समन्वय की चर्चा करते हुए लिखा है : सामान्य समय में जब समाज आकस्मिक उथल-पुथल से ग्रस्त नहीं होता प्रचलित पद्धतियों का अनुकरण करना अपेक्षा कृत सुगम रहता ह । लेकिन क्रान्ति तो ऐसी उथल - पुथल लाने वाली वस्तु है जो सब कुछ उलट-पलट देती है और जब ऐसा होता है तो हर सड़ी गली वस्तु का ढह जाना पीड़ा दायी प्रक्रिया बन जाता है ।[1] इस प्रकार दोनों दृष्टियाँ ध्रुवांत दिखलाई पड़ती हैं । दोनों ही केन्द्रों पर सौन्दर्य तात्विक सृष्टि का क्रम चलता है ।

हेगेल जैसे दार्शनिक सौन्दर्य बोध के आधार के रू में क्रान्ति के स्थान पर सामंजस्य को अधिक महत्व देते है ।[2] उनके अनुसार शूरवीरता की अवस्था कलात्मक सृजन के भी अनुकूल होती है । यह अवस्था मानव तथा विश्व के बीच पूर्ण सामंजस्य लाने वाली होती है । हेगेल के मत का सार डा॰ जयप्रकाश ने इस ,कार दिया है - " परिवेश से मुक्ति ही चिंतनीय विषय है और इसके लिए मानव को विश्व परिवेश में देशज तथा सहज बनना चाहिए कि व्यक्तित्व को इस प्रकार दिखाई देना चाहिए कि व्यक्तित्व को इस प्रकार दिखाई देना चाहिए कि वह समंजित है और इस कारण स्वतन्त्र है, ताकि दोनों पहलू आत्म परकता, चरित्र की आंतरिक सम्पूर्णता तथा उसकी अवस्था और कार्य कलाप तथा बाह्य अस्तित्व की वस्तु परकता परस्पर नि:संगत तथा असदृश वस्तुओं के रूप में विश्रृंखलित न हो - बल्कि सामंजस्य तथा पारस्परिक अपनत्व प्रदर्शित करे ।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि हेगेल सामाजिक अनुकूलन और सामयिक सामंजस्य

---

1. रंग मंच तथा नाट्य शास्त्र के बारे में खण्ड एक 3789
2. डा॰जय प्रकाश, तुलसीदास : नए साक्षात्कार पृ॰ 14॰
3. तुलसी : नए साक्षात्कार पृ॰ 14 डा॰ जय प्रकाश

को लेकर चल रहे थे । इसी समन्वय ने तुलसी को लोक नायक बना दिया था । किन्तु तुलसी तथा अन्य समाज चेता भक्त कवि यथा स्थितिवादी नही थे और न ही वे अपने समय की जड़ता के साथ समन्वय करने वाले ही थे । समन्वय एक जागृत वैचारिकता से प्रेरित होने पर सामाजिक तत्व बन जाता है । यदि यह सब कुछ को स्वीकृत करके चलने का पर्याय बन जाता है तो यह प्रवृत्ति समाज के लिए घातक हो जाती है । समन्वय केवल अतिवादों को समाप्त करता है विरोधी पक्षों के बीच अविरोध भी यह उत्पन्न करता है । विरोधी भाव हीनता या श्रेष्ठता की भावना से मुक्त होकर समता के बिन्दु पर आ जाता है । किन्तु ऐसी स्थिति भक्ति काल के जागरूक कवि के सामने आई है । जब समन्वय समझौता संभव नही रह पाया है । जो विधर्मी, समाज विरोधी तत्व के रूप में उठ कर उभर आए है उनके प्रति यह कवि उग्र और आक्रामक भी बन जाता है । वे कहते है कि जिसको राम और सीता प्रिय नहीं है वह करोड़ो शत्रुओं के समान त्याज्य है --

" जाके प्रिय न राम वैदेही
सो छवांडिए कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ।।

इस प्रकार उनका भक्त रूप भक्ति से इतर सम्प्रदायों के साथ कोई समझौता करेने के लिए तैयार नहीं है । तुलसी के विरोध में शैव योगी कापालिक शाक्त और अद्वैतवादी खडे है । सामान्य रूप से यह समझ लिया जाता है कि तुलसी इनके प्रति भी सहानुभूति रखते हैं । राम कृपा और शिव कृपा को बराबर मानते है । वे सीता को शक्ति का अवतार भी कहते है । विनय पत्रिका में अन्य देवी देवताओं की उन्होंनेबवन्दना भी की है किन्तु यह समन्वय नहीं है । सभी विरोधी मतों के देवताओं से वे केवल राम भक्ति की ही याचना करते है । एक स्वर में जहाँ समन्वय-वादी स्वर उठता है - ज्ञानहि भगितिहि नहिं कछु भेदा " वहाँ दूसरी ओर एक और टिप्पणी जोड़ देते हैं --

ज्ञान कै पंथ कृपान की धारा,
परत खगेस होय नहि बारा ।[1]

---

1. मानस, उत्तर काण्ड, ज्ञान दीपक

कवि स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि ज्ञानमार्ग सर्वथा विघ्न पूर्ण है व्यावहारिक रूप से भी उन्होंने कहीं ज्ञान मार्ग की प्रशंसा नहीं की है और कड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए तुलसी ने कहा जो भक्ति को छोड़कर ज्ञान के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करना चाहते है वे सींग और पूंछ से रहित पशु ही है --

राम चन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निरवान ।
ज्ञान वंत अपि सो नर पशु बिनु पुच्छ विषाण ।[1]

इस प्रकार तुलसी ज्ञान वादियों के लिए आक्रामक दिखलाई पड़ते है क्योंकि ज्ञान का मार्ग निवृत्ति परायण है और उच्च वर्गीय साधना है । सामान्य जन ज्ञान की उच्च श्रेणियों में प्रवेश नहीं कर सकता ।

ज्ञानियों की भाँति योगियों के प्रति भी तुलसी आक्रामक है । क्योंकि उनकी और कापालिकों की साधना पद्धति भक्ति मार्ग के प्रतिकूल है अघोरी योगियों की ओर लक्ष्य करते हुए तुलसी एक स्पष्ट प्रहार करते है --

असुभ वेष भूषन धरे भच्छा भच्छ जे खाहि ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलजुग माहि ।[2]

तुलसी ने कही भी योगियों के प्रति सदाशयता का परिचय नहीं दिया । अलख जगाने वाले योगियों के प्रति उन्होंने वाम शैली के " नीच " शब्द का प्रयोग भी किया है --

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच ।।[3]

---

1. मानस : उत्तर काण्ड 78. क.
2. - वही -
3. दोहावली - 19.

साथ ही उन सन्तों के साथ भी तुलसी का कोई समझौता नहीं जो वेद पुराण की निंदा करते है --

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान
भगति निरूपहि भगत कलि निंदहि वेद पुरान । [1]

इतने प्रखर और आक्रामक कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की समन्वय साधना क्रान्ति के तत्वो से भी सम्मिलित थी । वे समाज के कुछ वर्गो के साथ और दर्शन की कुछ पद्धतियों के साथ समझौता नहीं कर पाए ।

कबीर में तो समन्वय की अपेक्षा क्रान्ति के तत्व अधिक है । उनका समझौता शाक्त के साथ नहीं है । शाक्त और वैष्णव की तुलना करते हुए उन्होंने अनेक उक्तियाँ कही है ।

बैस्नों की कूकरि भली, साक्त की बुरी माइ ।
वह बैठी हरि जस सुनै, वह पाप बिसावन जाई । [2]

साक्त बांभन मति मिले, बैस्नो मिले चंडाल ।
अंक माल दै भेटिये, मानौं मिले गोपाल । [3]

अतः कबीर की क्रान्ति भावना विशिष्ट कोटि की है । लगभग कबीर क्रान्ति दूत ही कहे जा सकते अन्य भक्त कवियों की तुलना में । उनका कवि मानस समझौते की स्थिति से स्वयं को अलगाता है ।

---

1. दोहावली - 554.
2. कबीर ग्रंथावली - पृ. 212.
3. कबीर ग्रंथावली - पृ. 158.

चंदन की कुट की भली - ना बबूर की अवराऊँ ।
बैस्नो की छपरी भली, नासावत बड़ गाउ ।[1]

समन्वय का व्युत्पत्ति परक अर्थ है नियमित क्रम संयोग पारस्परिक संबंध ।[2] समाज के संबंध में इसका प्रयोग पारस्परिक संबंध निर्वाह के अर्थ में होता है । एक और अर्थ की व्यंजना इस शब्द से होती है, परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं या बातों का अविरोधी सामंजस्य । समन्वय वाद की परंपरा ने भक्ति काल में एक नया रूप ग्रहण किया । इस परंपरा ने बाहर से आने वाली अनेक जातियों को अपने में आत्म सात कर लिया । समन्वय की भूमिका में एक सामूहिक उदारता क्रिया शील रहती है और यह दार्शनिक धारणाभी रहती है कि तत्व ही अनेक प्रकार से विलसित होता है । ये दोनों ही सूत्र भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ है । " यह समन्वय भावना का ही परिणाम है कि नास्तिक बौद्धों ने राम को बोधि सत्व मान लिया और आस्तिक वैष्णवों ने बुद्ध की अवतार रूप में प्रतिष्ठा की । सांख्य योग एवं न्याय वैशेषिक में वेदान्त के ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई और वेदान्त में सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया योग की ज्ञान साधना तथा न्याय की तर्क प्रणाली को गौरव प्रदान किया गया । अर्थ काम और धर्म मोक्ष में, वेद शास्त्र और लोक परंपरा में प्रवृत्ति और निवृत्ति में साहित्य और जीवन में समन्वय स्थापित करने के विराट प्रयत्न किए गए अनेकता में एकता की स्थापना की गई, वैषम्य में साम्य का दर्शन किया गया ।[3]

/भक्ति का स्तर दक्षिण के आलवारों एवं नायनार भक्तों में फूटा । भावुकता का एक नया लोक मिला जहाँ लौकिक अलौकिकता की ओर चल रहा है और अलौकिक लौकिक में सीमित हो रहा है । ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म का अधिकांश वृहत्तर हिन्दू धर्म में विलीन हो जाता है । 11 वी 12 वीं शताब्दी में वह भक्ति

---

1. कबीर ग्रंथावली - पृ. 52.
2. सम् + अनु + इ + अय्
3. डा.उदय भानु सिंह : तुलसी साहित्य विवेचन और मूल्यांकन पृ. 118.

साधना को भी प्रभावित करता है इसी के आगे प्रेमा भक्ति मधुरोपासना तथा निर्गुणियाँ भक्ति का विकास हो सका ।[1] भक्ति साहित्य की यही समन्वय भूमि है । समन्वय की परंपरा के पूर्व सूत्र भी है । जैसे श्रुति साहित्य मे घोषित किया " एकम् सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति " वैष्णव मतवाद में विष्णु नारायण बासुदेव और कृष्ण ( योगेश्वर और गोपाल ) सभी समाविष्ट है । स्मृति शास्त्र का आधार विचार प्रधान धर्म भी मान्य हुआ । एक ओर श्रेष्ठ दर्शन भक्ति के क्षेत्र में प्रवाहित है तो दूसरी ओर आदिम अनुष्ठान की स्थिति भी इस क्षेत्र में दिखाई देती है । स्मृति धर्म और पंचायतन पूजा एक और बड़ा समन्वय सूत्र है । दक्षिण में भी स्मृति और ब्राह्मण का समन्वय हुआ और इसे भी भक्ति की भूमिका मिली । विष्णु, शिव, शक्ति गणेश तथा सूर्य और अनेक देवता भी भक्ति के परिकर में किसी न किसी प्रकार बिना किसी भेद भाव के आते रहे । इन सबके मंदिर भी बने जो भक्तों के भाव केन्द्र सिद्ध हुए । 

विदेशियों ने भी इस समन्वित स्थिति को स्वीकार किया । विदेशी ग्रीक आदि के दृष्टि कोण से इस समन्वय को बलमिला । हुविष्क की मुद्राओं में हर हर और सूर्य एक साथ मिलते है । आगे चल कर हरिहर की उपासना भी लोक प्रिय हुई ।

मध्ययुग में बंगाल बिहार और उड़ीसा में ऐसी मूर्तियाँ मिली है जिनमें दो चार पाँच देवता भी एक साथ उकेरे गए । पंचायतन के देवता उमा महेश्वर तथा प्रधान है । बाघ की गुफाओं में हरिहर मूर्तियाँ मिली है । हरि, हर, सूर्य और बुद्ध की सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिली है । दक्षिण में अय्यप्पा का विग्रह माता विष्णु और पिता शिव से उत्पन्न देवता का विग्रह है । इस प्रकार समन्वय की एक भारत व्यापी भूमिका ही है । हो सकता है इसके पीछे कुछ विदेशियों की प्रेरणा भी रही हो जो इस देव मण्डल में से किसी एक का चुनाव नहीं कर पाते थे । पूर्वी भारत में तान्त्रिक बौद्ध धर्म प्रबल था । जिसका वैष्णवीकरण हुआ ।[1] पश्चिमोत्तर में शैव शाक्त साधनाएँ चलती थी जिन्होंने एक उदार वैष्णव वाद की भूमिका तैयार की ।

इस संदर्भ में क्षेमेन्द्र और लल्लेश्वरी का नाम स्मरणीय है । दक्षिण में शैव शाक्त एवं वैष्णव साधनाएँ भी जो अन्तत: एक समन्वित इकाई में परिणत हो गई । तात्पर्य यह है कि वैष्णव भक्ति ने समन्वय की एक बहुत व्यापक भूमिका भारत में बनाई ।[1] भक्ति का रूप भी कई प्रकार से घटित हुआ । इस समन्वय के कारण समस्त भारत एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदर्भ में संक्रमित हो गया ।

तुलसी ने हरि और हर की भक्ति का सूत्र " मानस " में दृढ़ता से पकड़ा है "मानस " की भूमिका में उनकी ये पंक्तियाँ हमारा ध्यान आकर्षित करती है -

"हरि हर पद रति मति न कुतरकी
तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की ।
राम भगति भूषित जिय जानी
सुनिहहि सुजन सरा ही सुबानी ।[2]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि राम और शिव में कोई अंतर नहीं है -

संकट प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही यम दास
ते नर करहि कल्प भरि घोर नरक महुँ बास ।[3]

पूर्व में भक्ति का एक और रासायनिक रूप ढल रहा था । दक्षिण की अनिवार्य परंपरा से यह रूप प्रकृतित: भिन्न था । महायान भक्ति पद्धति श्रृंगार परक तंत्र साधना और शाक्त गुह्योपासना सहजिया वैष्णव धर्म का रूप ग्रहण कर चुकी थी । परकीया परक प्रेमा भक्ति ने साहित्य और लोक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया था । परकीया परक प्रेमाभक्ति ने साहित्य और लोक साहित्य की भावात्मक सामग्री के आधार

---

1. देवी शंकर अवस्थी : बुलेटिन आफ दि इन्स्टीट्यूट आफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज 1966 पृ॰ 106 - 108॰
2. राम चरित मानस - बालकाण्ड ।
3. राम ॰ मानस - लंकाकाण्ड 2॰

पर अपने को स्थापित कर लिया । आरंभ में शास्त्रीय भाष्य आदि से पूर्वापलीय भक्ति धारा उन्मुक्त रही । अत: राम भक्ति का रसिक संप्रदाय इस भक्ति की पद्दति को स्वीकार करके अवश्य चला ।

परिपार्श्व से कम जटिल सूत्रविधान भक्ति आंदोलन का भी नहीं था । संभवत: किसी भी सांस्कृतिक आंदोलन में कभी भी इतने परस्पर विरोधी सूत्र एकत्र नहीं हुए होंगे । भक्ति आंदोलन का मूल्यांकन इसी रूप में होना चाहिए । इस आंदोलन के इतने पक्ष थे कि किसी एक व्यक्ति का सभी पक्षों में सक्रिया होना कठिन था । तुलसी परपंरा के नव संस्कार और सामाजिक पुनरूत्थान के पक्ष से संबद्ध रहे ।

6• सामंत और भक्ति आंदोलन :-

भक्ति आंदोलन की सामाजिक प्रकृति कुछ इस प्रकार बन गई कि सामन्ती शोषण के प्रति एक चेतना जगी उस शोषण का सामना करने की प्रेरणा भी मिली और शक्ति भी ।

भक्ति आंदोलन के उस पक्ष को भी नहीं भुलाया जा सकता जो मुगलो के कुशासन और सामन्ती शोषण उत्पीड़न के विरूद्द व्यापारियों कारीगरों और गरीब किसानों के संघर्ष से संबंधित है । इसका नेतृत्व संत कवि ने किया । शिवाजी (1627 - 1680) के नेतृत्व में इस संघर्ष के लिए मराठों को संघटित किया गया । इस संघटन की प्रेरणा तुकाराम और रामदास जैसे मराठी भक्त कवियों से ही मिली थी । इन संतों ने ही भक्ति आंदोलन के राजनीतिक विस्तार के लिए जमीन तैयार की ।[1] शिवाजी ने मुख्य रूप से कृषक वर्ग को संघटित किया । संघटित किसानों ने

---

1• के दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा

एक प्रकार का छापामार युद्ध चलाया । इस प्रकार भक्ति आंदोलन ने धार्मिक क्षेत्र से बाहर अपना रूप बनाया ।

भरत पुर के जाट किसान भी विद्रोही हो गए । और उस विद्रोह के पीछे भी भक्ति आंदोलन की प्रेरणा भी सक्रिया थी ।

सिक्ख धर्म का उदय भी सामंत वाद विरोधी संघर्ष की प्रेरणा को लेकर हुआ । सिक्खों का संघर्ष भी सशस्त्र हो गया । यह संघर्ष हिन्दू और मुसलमान दोनों वही प्रकार के सामन्तों के विरोध में था ।

6· । दमन :-

जब आंदोलन की शक्तियाँ जुझारू हो उठती है तब सताधारी वर्ग आंदोलन की अदम्य आवाज दबाने का विफल प्रयत्न करता है । नानक ने जिस क्रान्तिकारी धर्म की नींव रखी वह सत्ताधारियों की नज़र में खटकने लगा । गुरू अर्जुन ( 1563 - 1603 ) ने पूर्ववर्ती गुरूओं और संतों विचारकों की शिक्षाओं को एकत्र और संपादित किया । सिक्ख धर्म भ्रातृभाव की प्रणाली पर पुनर्नियोजित होने लगा । मुगल सम्राटों ने उनके मानववादी प्रयत्नों में राजद्रोह देखा और गुरू अर्जुन देव को मौत के घाट उतारा । नौवें गुरू भी इसी प्रकार शहीद हुए । गुरू गोविन्द सिंह ( 1605 - 1695 ) गुरू परंपरा की दसवीं कड़ी है । इन्होंने आदि ग्रंथ की मूल आत्मा को उजागर करने के लिए आदि ग्रंथ और सिक्ख समुदाय को पुनर्गठित किया । उन्होंने धार्मिक सद्भाव एकता और उंच नीच के आधारों के प्रति सिक्ख समुदाय को जुझारू बनाया और भ्रातृत्व की भावना को धर्म का आधार स्वीकृत किया ।

## 6•2 निम्न और दलित वर्ग :-

प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन निम्न और दलित वर्ग का पक्षधर होता है । बल्कि यह कहना चाहिए कि दलित वर्णों को ध्यान में रखते हुए ही आन्दोलन समता सामाजिक न्याय और समता विरोधी जाति व्यवस्था के निराकरण की सक्रिया माँग करता है । संत ने भगवान को दीनानाथ के रूप में देखा नानक ने " जन्म साखी में बतलाया : धर्म केवल शब्दों का ही जाल नहीं है । जो व्यक्ति सब मनुष्यों को समान मानता है वही धार्मिक है । गुरू ने इस बात पर भी बल दिया कि दलित और नीच कहे जाने वाले मनुष्य से यदि प्रेम नहीं है तो ईश्वर प्राप्ति की आशा भी नहीं की जानी चाहिए । वे कहते है नीचों में भी नीचतम मनुष्य है नानक इनके पास ही जाएगा उसे बड़े आदमियों से क्या लेना देना । जो पद मर्दित मानवता की सहायता करते है वे ही ईश्वर के कृपापात्र होते है । इन उद्‌गारों में दलित वर्ग के प्रति जो आस्था और उग्र पक्षधरता दिखलाई पड़ती है वह किसी भी आंदोलन की आत्मा को उद्‌भासित कर सकती है ।

यद्यपि मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा सामाजिक स्तर पर नहीं थी फिर भी ईश्वर के सम्मुख सभी प्राणियों की समानता का सिद्धांत उस नई सामाजिक चेतना का प्रतीक था जो सामन्ती शोषण के विरूद्ध जूझने वाले किसानों कारीगरों में फैल रही थी । .... ये विचार धार्मिक अर्थों में भी निस्संदेह, मध्ययुग की उन परिस्थितियों को देखते हुए । जिनमें जाति पाँति की स्पर्धा और अंध विश्वासों के फल स्वरूप समाज का आगे प्रगति करना असंभव हो गया था, प्रगति शील थे ।"[1]

---

1• के• दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा - पृ• 334•

आरंभ में चाहे यह आंदोलन धर्म और दर्शन से सम्बद्ध रहा हो किन्तु पीछे इसका सामंत वाद विरोधी चरित्र भी प्रकट हुआ । भारतीय मध्यकाल अर्थ व्यवस्था में कृषि और कृषक का मुख्य स्थान रहता है । किसान एक ओर तो कृषि उत्पादन से संबंधित है दूसरी ओर भूमि पर अपने अनिश्चित अधिकार और सामंतीय शोषण के कारण उत्पीड़ित मिलता है । मुगल काल तक आते आते देशी और विदेशी व्यापार में भी बढ़ोतरी हुई । नगरीय व्यवस्था और नगरीय तहजीब में भी विकास हुआ । उत्पादन के क्षेत्र में कपड़े का उत्पादन महत्त्व पूर्ण बना । सारे भारत में जुलाहा जाति ने इसका जाल फैला दिया । स्थानीय राजाओं ने जुलाहों को हर प्रकार से प्रश्रय भी दिया और प्रोत्साहन भी । बनारस ढाका, मदुराई, जैसे कपड़ा उद्योग के केन्द्र बने । कृषक की मानसिकता से जुलाहे जैसे उत्पादकों की मन: स्थिति भिन्न थी । जाति भेद गत सामाजिक अन्यायों के प्रति इनका असन्तोष एक आक्रोश के साथ व्यक्त हुआ । सामंतवाद प्रतिक्रियावादी और अभिजात शक्तियों के पक्ष में था ।

इसी वस्तु स्थिति ने एक भारत व्यापी आंदोलन को जन्म दिया - भक्ति आंदोलन यह आंदोलन एक ओर तो सामंतवादी व्यवस्था और उसके अतिचार के विरोध में था और दूसरी ओर रूढ़िवादी तथा अंध परंपरावादी धर्म व्यवस्था के प्रति असहिष्णु था । इस्लाम और हिन्दू धर्म के संघर्ष ने एक नई धर्म स्थिति पैदा कर दी थी । संसार के सामंत विरोधी आंदोलनरों की एक प्रकृति होती है, " सामंत विरोधी आंदोलनों में मुख्य रूप से धार्मिक उपदेशकों, धर्म गुरूओं, चिंतकों, कवियों तथा जनता के प्रतिनिधियों आदि ने भाग लिया । ये ही थे वे नवीन बुद्धि जीवी और स्वतन्त्रता के आदर्शों को बढ़ाने वाले लोग जो जनसाधारण में लोक प्रिय हुए । एक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक " लुडविग फ्यूर लाख तथा क्लासिक जर्मन दर्शन का अन्त " में लिखा है कि जनता की भावनाएँ एक मात्र धार्मिक तत्व से ही पोषित हुई इसी कारण किसी प्रबल आंदोलन को जाग्रत करने के लिए जनता की रूचियों को कोई धार्मिक जामा पहनाना जरूरी था । भारत में जैसा कि प्राय: होता रहा धर्म समाज की एक ओर गणतान्त्रिक तथा दूसरी ओर रूढ़िवादी शक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन गया । इनमें से गणतान्त्रिक शक्तियाँ प्रथम तो प्रति क्रियात्मक शक्तियों के धार्मिक संकीर्णता तथा रूढ़िवादी

रीति रिवाजों के विरुद्ध आवाज उठाती रहीं । फल स्वरूप धर्म की परिधि में एक विशेष गुणात्मक नई विचार धारा उत्पन्न होने लगी थी जो मानव के निजी स्वतन्त्र मूल्यों का संरक्षण करती तथा मनुष्यों को सर्वोपरि स्थान देती थी ।" 1

भारतीय मध्यकाल में अन्य देशों की भाँति ही, धर्म एक नियन्त्रक और संचालक शक्ति के रूप में अवस्थित था । समाज में धर्म के नाम पर कई स्तर और वर्ग थे । उच्च वर्ग ब्राह्मणों का था जो अभी तक कर्म कांडीय धर्म पद्धति को पकड़े हुए था । जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे प्रमुख संस्कारों में ब्राह्मण महत्व पूर्ण रचना रखता था । इस भूमिका में वेद का महत्व पूर्ण स्थान था । सामंत के साथ इस ब्राह्मण वर्ग का जोड़-तोड़ था । ब्राह्मण का पारमार्थिक प्रकृति का था । मानवता वादी तत्व इस स्मृति जीवी धर्म व्यवस्था के प्रति जो आंदोलन हुआ, वह सामंत के साथ धर्म गुरुओं कोभी चुनौती देता था । रूढ धर्माधारों के स्थान पर इसने एक भावात्मक रहस्यवाद को प्रस्तावित किया । ईश्वर और जन के बीच संबंध जोड़ने वाले तथा कथित धर्म गुरु का आसन डगमगाने लगा । पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर सत्संग से प्राप्त और व्यवहार से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान महत्व पूर्ण हुआ । मानवतावादी मूल्यों की पुर्नस्थापना के द्वारा धर्म का नव संस्कार घटित हुआ । धर्म और उसके फल की ठेकेदारी किसी एक वर्ग के हाथ में नहीं रही । उच्च मनीषा और दर्शन के स्थान पर भाव दर्शन प्रतिष्ठित हुआ । कबीर जैसे रहस्यवादियों ने मूर्ति पूजा, मंदिर मस्जिद, धर्माडम्बर पांडित्य का अहं इन सबको ललकारा और एक मानव केन्द्रित धर्म की स्थापना हुई । एफ एंगेल्स ने इस प्रकार के आंदोलन के संबंध मे भी लिखा है, सामंतवाद के विरोध में क्रान्तिकारी आंदोलन मध्ययुग में सदा होता रहा । ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार रहस्यवादियों के रूप में या खुले आम धर्म द्रोह के रूप में या एक सशस्त्र क्रान्ति के रूप में यह विद्रोह सामने आता है ।" 2

---

1· येवगिनी चेलीशेव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के विकास में सूरकाव्य की स्वाभाविक संजीवी, प्रवृत्तियाँ, प्रज्ञा चक्षु सूरदास - पृ· 20 - 21·

2· लुडविंग फ्यूर लाख तथा क्लासिक जर्मन दर्शन का अन्त

सामाजिक तथा जन जीवन के चार विभाग किए जा सकते है -
1. धर्म रहस्य, सम्प्रदाय, परलोक भाग्य 2. अर्थ : उत्पादन, वितरण भोग। 3. प्रेम : काम तथा सृष्टि । 4. कला - कलाप : मनोरंजन : साहित्य सृजन । वर्गीय दृष्टि से धर्म पर पुरोहित का एकाधिकार रहता है । अर्थ पर सामंत या पूँजीपति का आधिपत्य होता है । शेष दो विभागों पर सभी वर्गों का अधिकार रहता है विधियाँ प्रविधियाँ अलग या वर्गीय प्रकृति की रह सकती है । कला और साहित्य के क्षेत्र में एक द्वन्द्व चलता है लोक और वर्ग का । विशिष्ट वर्ग कला और साहित्य के सृजन व्यापार को प्रश्रय देकर अपनी ओर खींचने की कोशिश करता है । अपनी अभिरुचि और वासना के बिम्बों की वह मांग करता है । यदि वह अपने इस व्यापार में सफल हो जाता है, तो वर्गीय या श्रेण्य साहित्य सामान्य जन से कट जाता है । साहित्य और कला उच्च वर्गीय अभिरुचियों और सृजन की प्रविधियों की दुर्लघ्य चौहद्दियों में घिर जाते हैं । संस्कार के नाम पर आभिजात्य साहित्य - सृजन का नियामक हो जाता है । दूसरी ओर सामान्य जीवन के प्रवाह के साथ लोक भी साहित्य और कला की सृष्टि करता है । दोनों संसार अलग - अलग हो जाते है । आर्थिक वर्गीय वैषम्य दो साहित्य संसारों में भी उभर आता है ।

उच्च वर्गीय अभि रुचि भी वस्तु स्थितियों में ही रूप ग्रहण करती है । उच्च वर्ग की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार होती है 1. श्रम का निषेध 2. अवकाश का आधिक्य 3. विलास की प्रचुर सुविधाएँ तथा 4. प्रतिष्ठा और वैशिष्ट्य का भाव । उच्च वर्ग स्वयं श्रम नहीं करता श्रम को लेता और खरीदता है । उसके पास कालावकाश अधिक होता है । उसके लिए काल क्षेप की समस्या रहती है । इसीलिए वह भोग और कला साहित्य के सृजन और ग्रहण की प्रक्रियाओं को समय साध्य बनाता जाता है । काव्य शास्त्र जैसे समय साध्य अनुशासन उसके विनोद की सामग्री हो जाते हैं । शास्त्रीय विधि का सृजन और सृजन का शास्त्रीय विधि से भोग और ग्रहण समय सापेक्ष होता है ।

यही उसकी अभिरूचि बन जाती है । एक प्रकार से उसके विलास की भौतिक सामग्री में इज़ाफ़ा होता है । साहित्य और कला उच्च वर्ग को विलास के क्षणों में प्रवेश पाता है । फलतः सामान्य जन जीवन की छवियाँ नहीं आ पातीं ।

विलास बनने वाले साहित्य की वस्तु योजना और शिल्प विधि जीवंत सामग्री को ग्रहण न करके शास्त्र रूढ़ सामग्री और शिल्प को लेकर चमत्कार पूर्ण विस्तृतियों में उलझती चलती है । इस प्रकार एक " फार्मूले " साहित्य का सृजन होता है । ध्यान अर्थ पर इतना नही रहता जितना कि शिल्प चमत्कार पर । जन सामान्य की चेतना इस चकाचौंध को देखकर सन्न रह जाती है । लोक साहित्य और श्रेण्य साहित्य के बीच आदन प्रादन की संभावना समाप्त हो जाती है । लोक साहित्य कुछ ग्रहण कर सके तो कर ले, पर श्रेण्य साहित्य को लोक साहित्य को ग्रहण करने में गंवारूपन की गंध आती है । " ग्राम्यतादोष " से वह बचना चाहता है । इस प्रकार उच्च वर्गीय कला और साहित्य लौह प्राचीरों में बंध कर जीवंत तत्वों से नाता तोड़ देता है और फार्मूला बढ़ता उसमें ठहराव उपस्थित कर देता है । यह स्थिति भी आंदोलन की भूमिका बनाती है ।

वैशिष्ट्य और प्रतिष्ठा का भाव भी श्रेण्य साहित्य को खुली हवा में आने से रोकता है । उच्च वर्ग अपने वैशिष्ट्य की रक्षा के लिएसामान्य जन से मिलने में हिचकता है । अपने साहित्य को भी लोक के जीवंत स्पर्शों से सुरक्षित रखता है । आर्थिक सुविधाओं और समय के आधिक्य के कारण विलास निरन्तर घनीभूत होता जाता है । भोग और विलास में यह वर्ग इतना लिप्त हो जाता है कि जीवन की चुनौतियों और सामाजिक यथार्थ से इसका सरोकार ही कायम नहीं हो पाता । विलास के सहचर, संग्रह और प्रदर्शन बन जाते है । दरबार और विलास गृह में बहुत कम अंतर रह जाता है । कला और साहित्य के क्षेत्र के इस वर्गीय गतिरोध को भक्ति साहित्य और भक्ति मूलक कलाएँ तोड़ती है ।

अनेक दलित और गरीब धर्म परिवर्तन का लोभ सवरण न कर सके । इस्लाम में प्रविष्ट होते ही, उनका अनुभव बदला । आर्थिक सुविधाओं के साथ निम्न वर्गीय जन को जाति बंधन की कटुता से मुक्ति मिली । एक विशाल भ्रातृत्व के वे सदस्य हो गए । उच्च वर्ग को विशेष चिंता नहीं हुई । फिर से हिन्दू होने के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था कठोर और व्ययसाध्य थी । इस प्रकार निम्न वर्ग में नवीन चेतना, अनुभव एवं नवीन शक्ति का संचार हुआ ।

भक्ति के कुछ नेताओं पर इतना असर तो हुआ कि वे ऐसे भक्ति धर्म की कल्पना करने लगे, जिसमें सभी वर्गों का प्रवेश हो । इस दृष्टि से रामानुज लोकाचार्य, राघवाचार्य प्रभृति की दृष्टि उदार थी । रामानन्द जी ने सभी वर्ग के लोगों को शिष्य बनाया । नाभादास जी ने इसीलिए उनके संबंध में लिखा --

> बहुत काल बपु धारके, प्रनत जनन को पार दियो ।
> श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों, द्वितीय सेतु जग तरन कियो ।

एक ऐसे धर्म, संप्रदाय का निर्माण एक सीमा तक निम्न वर्ग को हिन्दू धर्म में बने रहने की प्रेरणा देता रहा । किन्तु यह सामाजिक कार्यक्रम का भाग न बन सका । अत: निम्न वर्गों की समस्या का पूरा हल यह नहीं हो सका । उन्हें जातीय स्तर पर जिस अपमान का सामना करना पड़ रहा था, उसकी पीडा दारूण थी । रामानंदी सुधारवाद या समन्वयवाद निम्न वर्गों की क्रान्ति को न रोक सका । अनेक नेता हुए और समन्वय तथा क्रांति की दिशाओं का उन्होंने अन्वेषण कर लिया । रामानंद जी निम्न वर्ग की सामाजिक क्रान्ति के प्रति तटस्थ रहे और भक्ति क्षेत्रीय जाति भेद को उन्होंने माना नहीं ।

दक्षिण में धार्मिक पुनरूत्थान को राजशक्ति ने भी सहारा दिया ।[1] उत्तर में जब यह सूत्र आया, तो परिस्थिति भिन्न थी । राजशक्ति अस्त व्यस्त थी । ब्राह्मण किंकर्तव्य विमूढ़ था । निम्न वर्ग ने क्रान्ति के आक्रोश को दक्षिण से आगत भक्ति के साथ संबद्ध कर दिया । राघवाचार्य और रामानंद की प्रेरणा से निम्न वर्गीय क्रान्ति को शक्ति मिली । उसने क्रान्ति को वर्गगत सीमाओं से मुक्त करके मानवीय उदात्तता प्रदान की । इस प्रकार उत्तर में भक्ति आंदोलन एक महान जन आंदोलन बना रहा । यह कहना ठीक मालूम पड़ता है कि " वास्तव में निर्गुणवाद दक्षिण के वैष्णव भक्तिवाद का वह परिस्थिति जन्य स्वरूप है, जिसने उत्तर भारत की चौदहवीं शताब्दी की हिन्दू चेतना में जन्म लिया था ।[2] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस धारा से केवल निम्न वर्ग ही प्रभावित हुए । कहना इतना ही है कि निम्न वर्गीय निर्गुणियाँ संतों ने इस सूत्र के प्रति एक विशेष संवेदना का अनुभव किया । आंदोलन का यथार्थ रूप तो " संत " ने ही खड़ा किया ।

दक्षिण के " आचार्य " का भक्ति सूत्र इस प्रकार " संत " के हाथ में आया । ब्राह्मण ने जैसे एक दहकती हुई चिनगारी को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया । ब्राह्मण ने केवल एक विशेष भावाविष्ट क्षेत्र में शूद्र को आने दिया और इस उदारता से संत की सामाजिक क्रान्ति को बल मिला ।

निम्न वर्गीय संत की कुंठित चेतना इन उन्नयन के क्षणों में महिमा के सोपानों पर चढ़ने लगी जो शैव, बौद्ध, जैन तथा तंत्रवादी संस्कार निम्न वर्गीय जन को मिले थे। योग - साधना और ब्रह्म विचार की जो शब्दवली इसके पास थी, वह सब भक्ति से

---

1. विजय नगर साम्राज्य की स्थापना (1336 - 65) हो गई थी । कृष्ण देवराय का इस क्षेत्र में उल्लेखनीय स्थान है । मिथिला नवद्वीप के राजवंश मूलत: कर्णाट राजवंश थे । उन्होंने उत्तर भारत में संगीत, भागवत, प्रियता तथा कृष्ण भक्ति का प्रचलन किया ।

2. राम रतन भटनागर, मध्य युगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसी दास ।

रंजित हो गई । संत का व्यक्तित्व नवीन प्रभाव ग्रहण करने लगा । समाज की सामान्य जनता इस शूद्र संत के संदेश की उपेक्षा न कर सका । एक प्रकार से एक जाति निरपेक्ष संत समाज की ही स्थापना हो गई । इस समाज की अपनी दर्शन पद्दति, अपनी सधुक्खड़ी भाषा एक नवीन सामाजिक इकाई के रूप में सामने आ गई । ब्राह्मण भी शूद्र संत के सामने दण्डवत करने लगा । रैदास ने अपने परिवर्तित अस्तित्व बोध को इस प्रकार व्यक्त किया --

मेरी जाति कुटुवां ढला ढोर ढोवंता ।
नितहि बानरसी आस पासा ।।
अब विप्र परधान करहि डंडउति ।
तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा ।।

काशी से लेकर महाराष्ट्र तकएक जाति विहीन संत समाज स्थापित,हो गया । इन संतों की परंपरा के आदि छोर से संबंधित कुछ संतों का नाम लिया जाता है, जय देव सधना, लालदे वेणी, नामदेव और लोचन ।[1] जयेदेव संभवत: गीत गोविन्दकार से भिन्न है । सधना कसाई था, जिसका नामोल्लेख नाम देव ने भी किया है । लालदे काश्मीर की एक हरिजन स्त्री थी । वेणी के संबंध में विशेष ज्ञात नहीं । त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे । नामदेव छवीपी का नाम कबीर ने भी लिया है । इस प्रकार रामानंद जी से पूर्व ही ऐसे संतो की परंपरा बन गईथी, जो सभी वर्गो के थे और भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे ।[2]

---

1. पं. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परंपरा - भूमिका ।

2. महाराष्ट्र में महानुभाव सम्प्रदाय, भागवत संप्रदाय की ही एक शाखा थी । इसमें जाति या वर्णगत भेद भाव स्वीकार नहीं किया जाता था बारकरी संप्रदाय की भी ऐसी ही व्यवस्था थी ।

7· मुसलमान और भक्ति आंदोलन :-

भक्ति आंदोलन के आरंभ होने की स्थिति में हिन्दू पुरोहितों के समान मुसलमान मुल्लाओं के निहित स्वार्थ भी जन जीवन को अस्त व्यस्त कर रहे थे । धर्म परिवर्तन के कार्यक्रम में भी उनका हाथ था । सूफी पंथ और इस्लाम के सिद्धांत जड़ जमा चुके थे । हिन्दू भक्तों कामुसलमानों से व्यक्ति गत संबंध भी था । मैकोलिफ के अनुसार बनारस में रामानंद का मुसलमानों से सम्पर्क हुआ था ।[1] रामानंद के शिष्य कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों से सम्बद्ध थे ही हिन्दू और मुसलमानों मे अभेद स्थापित करने के प्रयत्न भी चल रहे थे । रानाडे ने लिखा है कि महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही प्रकार के शिक्षक जनता को प्रेरणा देते थे राम और रहीम को एक माने । आडम्बर पूर्ण कर्म काण्डों और जातिगत भेद का विरोध भी चल रहा था । ईश्वर प्रेम के संदर्भ में सभी को समान अधिकार है ।[2] सूफी संत सूफी दर्शन के प्रचार के लिए हिन्दू कथाओं को अपना चुके थे ।

भक्ति आंदोलन का नेता संत कवि यह घोषित करता है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के शरीरों में एक ही आत्मा का निवास है । कबीर का स्पष्ट मत था कि हिन्दू और मुसलमानों मे कोई भेद नही है । उन्होंने यह भी देखा कि जो भेद पैदा किया गया है वह ऊपरी है और वह स्वार्थ वश पैदा किया गया है । इन दोनों में भेद तात्विक नहीं बाह्माडम्बर का है जिसके नाम पर लड़ाइयाँ होती रहती है । केवल पुरोहित और मुल्ला गरीबों के शोषण के लिए इन भेदों को बनाए रहते है । कबीर के विचार की संक्षिप्त इस प्रकार दी जा सकती है : पवित्र घाटों पर पानी के अलावा और कुछ नहीं है, मैं जानता हूँ कि वे निरर्थक हैं, क्योंकि मै उनमें

---

1· दि सिक्ख रिलीजन - खण्ड 6, पृ· 102·

2· एम·जी· रानाडे : दि राइज आफ दि मराठा पावर - पृ· 55·

स्नान कर चुका हूँ । सभी मूर्तियाँ निर्जीव है, वे बोल नहीं सकती, मैं यह बात जानता हूँ क्योंकि मैं उनके सामने जोर जोर से रोया गिडगिडाया हूँ । पुराण और धर्म केवल शब्द है मैंने उनका उठते हुए देखा है । कबीर अनुभव की बाते शब्दों में व्यक्त करता है और वह जानता है कि बाकी सब कुछ मिथ्या है '।

मुसलमान जो पाँच नमाज पढ़ते हैं वे सब बेकार है, क्योंकि उनकी इबादत सिर्फ एक दिखावा और ढोंग है, जबकि उनके मन में इस सारे समय दूसरे विचार घूमा करते हैं । धार्मिक आचारों का ढोंग रचकर काजी गरीबों को ठगता है और उनकी भलाई करने के बजाय उन्हें नुकसान ही पहुँचता है ।

दादू ने सूफी रहस्यवाद और हिन्दू एकतत्व वाद को समन्वित करना चाहा । इसी प्रकार महाराष्ट्र में नाम देव (1270 - 1350) ने यह माना कि हिन्दू और मुसलमानों का अलग करने वाला तत्व आडम्बर है । इन आडम्बरों में मंदिर और मस्जिद भी सम्मिलित है उनका मन्तव्य इस प्रकार था हिन्दू अंधा है । हिन्दू मंदिर में पूजा करता है । मुसलमान मस्जिद में नमाज पढ़ता है । गुरूनानक ने भी हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक वैमनस्य को दूर कर सामाजिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया ।[1]

हिन्दू पूजें देहुरा मुसलमान मसीत ।
नांमर सोई सेविया जहँ देहुराना मसीत ।।

इसके साथ ही यह बात भी ध्यातव्य है कि भक्ति आंदोलन में तटस्थ हिन्दू और मुसलमान दोनो ही शामिल थे और दोनों का ही इसमें महत्वपूर्ण योगदान शामिल रहा ।

---

1. डा. धर्म पाल मैनी, गुरू नानक की सामाजिक देन, गुरूनानक और उनका कार्य सं. महिपाल सिंह पृ. 83 - 84.

विदेशी शासक अपने धर्म के कट्टर संरक्षक थे । हिन्दू धर्म का विरोधी होना भी उनके धर्म की प्रकृति की दृष्टि से उचित भी था । जब दोनो धर्म ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य सह अस्तित्व की स्थिति में आगए - तब विदेशी शासक अधिक से अधिक हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णु हो गए । आदान प्रदान कला और संस्कृति के क्षेत्र में तो हुआ किन्तु धार्मिक क्षेत्र में यह संभव नहीं था । शासकों की धार्मिक सहिष्णुता भी डगमगाती रही । सहिष्णुता की छाया में हिन्दू पूजा पूर्णत: निश्शंक कभी नहीं हो सकी । इतना होने पर भी हिन्दू जनता ने धार्मिक पुनरुत्थान और एक सामाजिक आंदोलन की शक्तियों को अवश्य संजोया । इस्लाम के तत्वों का भक्ति आंदोलन में आना संभव नहीं था ।

यहाँ सूफी धारा को भुलाया नहीं जा सकता । यह सत्य है कि कुछ मुसलमान कवि भक्ति की ओर झुके । कबीर का व्यक्तित्व " ना हिन्दू ना मुसलमान " आकर्षक था । कुछ ऐसा विश्वास भी जम चला कि हिन्दू मुस्लिम समन्वय असंभव नहीं है । दोनों धर्मो के समान तत्व उभरने भी लगे । निर्गुणियों और सूफी सन्तों ने समन्वय का कुछ प्रयत्न भी किया । अनेक मुसलमान " जोगी " बन गए ।[1] और अनेक हिन्दू सूफी कवियों से संम्बद्ध हो गए । सामान्य देवता भी बन गए ।[2] दोनों धर्मो में सबसे अधिक विषमता जातिवाद को लेकर थी । इस्लाम एक जाति निरपेक्ष भातृभावी धर्म संगठन था । हिन्दू धर्म की व्यवस्था वर्ण-जाति परक थी । अत: इन समन्वय वादियों में जातिवाद विरोधी स्वर पर्याप्त बल के साथ उठा । सूफी संत भी वर्णाश्रम धर्म के प्रति व्यक्त या अव्यक्त रूप से आघात कर रहे थे । इस प्रकार सूफी संत भी भक्ति की प्रेममार्गी धारा के संत माने जाने लगे ।

---

1. पूर्वी भारत में शाहम दार के अनुयायी कुछ मुसलमानों को " जोगी " कहा जाता है । डॉ॰सुरेशनाथ सेन स्टडीजश्न इंडियन, हिस्ट्री कलकत्ता पुस्तकालय § 1930. पृ॰ 120. पंजाब में भी कुछ मुसलमानों की साधना पद्धति योग मार्गी है § इब्बेट्सन् पंजाब कास्ट्स, पृ॰ 235. §
2. जाहर पीर § गुग्गा, सैयद आदि की पूजा दोनो दीनों में होने लगी ।

ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी दोनों ही संत हिन्दू मुसलमानों की कट्टर आचार निष्ठता और उनके आडम्बरों का विरोध करते हुए, मानवता वादी धरातल पर समन्वय खोजने लगे । इससे भक्ति आंदोलन की परिधि में वृद्धि हुई ।[1]

संत युग हिन्दू मुस्लिम संघर्ष से भी आहत जर्जर था, शरीयत के आधार पर विस्तृत इस्लाम असहिष्णु और आक्रामक वृत्ति को लेकर भारत में प्रविष्ट हुआ था . । भारतीय जनता को एक हिंसात्मक धर्म - प्रचार का सामना करना पड़ा । कुछ अधिकार हीन निम्न वर्ग इसके सामने झुक भी गए । शरीयत धर्मी इस्लाम के साथ सूफियाना धर्म रूप भी आया । इसकी आधार भूमि अधिक मानवता वादी थी । तात्पर्य. यह कि धार्मिक संघर्ष ने राजनीति और पाशविक बल का सहाग पाकर भयंकर रूप धारण कर लिया ।

संत ने निश्चेष्ट होकर यह सब कुछ नहीं देखा । सूफी धारा के साथ कुछ ऐक्य का अनुभव करते हुए संत ने घोषित किया - ना हिन्दू ना मुसलमान ।" अर्थात् संत ने अपने को इस संघर्ष से तटस्थ नहीं किया, अपितु अपने को शुद्ध मानव की स्थिति में रखा । " मानव " न हिन्दू है और न मुसलमान उसकी ये परिभाषाएँ तो आरोपित लक्षणों के आधार पर उत्पन्न हुई हैं । मूल तत्व - मानव या मानवात्मा - न तुर्क है और न हिन्दू ।[2] धर्म भेद यदि इन वाह्यमारोपित आरोपों का ही परिणाम है तो उनका विरोध करना ही श्रेयस्कर है । संत ने स्पष्ट कहा - " राखूँ बिरत न मुहरम जाना ", " पूजा करूँ निमाज गुजारूं ", ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा, आदि ।

---

1. पूर्व में यदि सहजिया शैली की प्रेमा भक्ति पनप रही थी तो पश्चिम में सूफी प्रेम धर्म पनपता जा रहा था । धीरे धीरे इसकी विस्तृति पूर्व की ओर होती गई। पूर्वी भक्ति रूप पश्चिम में ब्रज की ओर चलने लगा । सूफी धारा को प्रतिकूल परिस्थितियों का भी सामना करना पड़ा । सूफी संतों का साहित्य उसी क्षेत्र में उसी भाषा के सहारे पनपा । जिनका संबंध तुलसी से है ।

2. कहै कबीर चेति रे भोंदूं ।
   बोल निहारा तुरक न हिन्दू ।। (कबीर)

संभवत: निर्गुण निराकार की भावना को अपनाना भी इसीलिए आवश्यक था कि साकार रूप कल्पना में बाह्मारोपित उपकरणसंघर्ष को प्रोत्साहन देगे । यदि निर्गुण में कुछ गुणों का आरोपन करना ही है तो सार्वजनीन एवं सार्वभौम मानवीय गुणों की स्थिति से ही निर्गुण को जीवंत बनाना चाहिए । इसी कारण से संत ने भगवान के नाम और गुण की तो स्वीकृति की, पर उसकी रूपावतारी कल्पना को दिया ।

धर्म को बाह्माचारों एवं बाह्य प्रतीकों में रूढ़ और अवरूद्ध करने वाले पंडित और मुल्ला को संतो ने व्यंगाक्रान्त कर दिया । यद्यपि उसका आसन नही हिल सका । फिर भी जन समुदाय यथार्थ से अगवत अवश्य होने लगा । यहाँ उन उक्तियों को दोहराने की आवश्यक्ता नहीं जो संतो ने बाह्माडम्बर के खण्डन में कही. । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि संत दृष्टि में आडम्बर की व्यक्तिगत धरातल पर कोई उपादेयता नहीं और सामाजिक धरातल पर यह निरीह और भोली जनता को परस्पर विलग और पथ भ्रष्ट करने वाला तत्व है । संत इस क्षेत्र में भी सह अस्तित्व और समझौते के सिद्दान्तों को लेकर नहीं चला । उसकी खुली क्रांति मानव - विरोधी तत्वों के प्रति थी ।

सूफियों के अनेक संप्रदाय और केन्द्र भारत में स्थापित हो गए थे ।[1] सूफी शब्द इस्लामी रहस्यवाद का प्रतीक बन गया । इसकी मूल मान्यताएँ मानव के मूल मानस से संबंधित थी सभी उन्नत धर्मों में ये प्रचलित मिलती है । इस रहस्यवाद की संरचना अनेक प्रभावों के संदर्भ में हुई थी । ईसाई नव अफलातूनी, ज्ञानवाद, बौद्ध धर्म एवं वेदांत का प्रभाव सूफीमत पर स्वीकार किया जाता है ।[2] कुरान की प्रेरणा का भी निराकरण नहीं किया जा सकता । कुरान की ईश्वर कल्पना कुछ इस प्रकार की है : ईश्वर एक सर्वज्ञ, सर्व व्यापक कल्याण करने वाला दया करने वाला और असीम

---

1· निकल्सन, द· मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, भूमिका, पृ· 1·
2· - वही -

सौन्दर्यमय है ।[1] इनमें से कुछ विशेषण तो वेदांत की प्रकृति के है और कुछ मानवीय उदात्त गुणों पर आधारित सगुण वादियों जैसे सन्तोक्त ईश्वर. कल्पना इससे मिलती जुलती ही है ।

वैराग्य प्रधान सूफी मत धीरे धीरे प्रेम प्रधान हो गया । सबिया की प्रेम - भावना आदर्श बन गई । इस प्रकार प्रेम और अद्वैत तत्वों का आदर्श बन गई । इस प्रकार प्रेम और अद्वैत तत्वों का समावेश सूफी धर्म में हो गया । इस ऊहापोह में " शरीयत " ‖ शास्त्र ‖ की उपेक्षा होने लगी । और तरीक्त ‖ व्यवहार ‖ का मूल्य बढ़ने लगा । एक प्रकार से सूफीयत शरीयत के प्रति एक मानवतावादी क्रान्ति थी । इस प्रकार ज्ञान मार्ग और प्रेममार्ग का समन्वय संत साहित्य में भी मिलता है । शुद्ध शास्त्रीयता के प्रति भी संत क्रांतिकारी था । प्रेम प्रतीकों का ग्रहण एवं प्रतिफलन सूफीमत से अवश्य ही प्रेरणा ग्रहण करता है ।

जिसका प्रकार सूफी मत एक सुनिश्चित शास्त्रीय धर्मांधता के प्रति प्रेम मूलक जीवन मूल्यों की क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया थी, उसी प्रकार संतों ने भी शुद्ध शास्त्रीय विधान को अस्वीकार कर दिया । ईश्वर कल्पना ज्ञान और प्रेम के तत्वों से अनुस्यूत रही । प्रेम के प्रवाह में सामाजिक ऊँच-नीच स्तर निमज्जित हो गए ।[2] इस प्रेम पद्धति की भक्ति मूलक और वैष्णवीय संस्कृति भी हुई । संक्षेप में कहा जा सकता है कि संतों की क्रान्ति की प्रेरक कहा जा सकता है कि संतों की क्रान्ति की प्रेरक शक्तियों में सूफी प्रेरक का भी महत्व पूर्ण स्थान है ।

---

1· एम पिक्थैल, द ग्लोरियस कुरान, 2 / 163 : 50 / 4·

2· मुक्ति बोध, नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ· 95·

## 3· 8 परंपरागत दार्शनिक साहित्य और भक्ति मानस :-

भारतीय दर्शन के परंपरागत साहित्य में वेद उपनिषद ब्रह्म सूत्र पुराण और गीता प्रमुख रूप से आते है । इन सभीपरंपराओं का उपयोग भक्ति के आचार्यों ने और उनके माध्यम से भक्त कवियों ने किया । प्रस्थानत्रयी का भाष्य भक्त कवियों का उपजीव्य रहा । ।

### 8·1 वेद और संत :-

संत और भक्त के वेद संबंधी विचार कुछ भिन्न है । संत की वेद संबंधी वाणी कुछ अवज्ञा और तिरस्कार से भरी हुई है । वे संत मत को और संत दर्शन को वेद से उच्च तर मानते है ।

ज्ञान की दो धारएँ है लोक ज्ञान और वेद ज्ञान । प्रथम का संबंध लोक मानस से है और दूसरी का ऋषि मानस से । इन दोनों में से किसी का भी चुनाव आंख बंद करके नहीं करना चाहिए । चुनाव सदा ही विवेक पूर्ण होना चाहिए । विवेक गुरु कृपा का परिणाम है । इस प्रकार आत वाक्य ( वेदवाक्य ) अंधी स्वीकृति संत, क्रांति चेता, को भी मान्य नहीं ।

धर्म की भी दो धाराएँ हो जाती है । एक धारा आप्त वाक्याश्रित होती है । इसका प्रधान लक्षण आचार परकता और शास्त्र निष्ठता है । दूसरी धारा गति शील होती है : यह भावना परक धर्म का मार्ग है । संत दृष्टि में प्रथम धारा रूढ़ प्रतिक्रियाशील और गतिहीन है । इसमें मानवीय मूल्य कर्म कांडीय मूल्यों के अधीन हो जाते है । कबीर ने वेद और कुरान दोनों को प्रथम धारा का प्रतीक माना है ।

भगवान का तत्व वेद और कुरान दोनों से परे है ।[1] चारों वेदों का अध्ययन अध्यापन व्यर्थ है, यदि भगवत्प्रेम का संस्पर्श न हो वेद ज्ञान प्रेम या मानवीय मूल्यों रहित होकर निस्सार रहता है ।[2]

जब कोई धर्म या शास्त्र किसी वर्ग विशेष के एकाधिकार में चला जाता है तब धर्म और दर्शन वर्गीय स्वार्थों का साधन बन जाता है । ब्राह्मणों ने वेदों पर एकाधिकार कर लिया । अपने को इसी आधार पर जगत्गुरु घोषित करने लगा । संत ने इस वर्गवादी धर्म को स्वीकार करके ब्राह्मणों को गुरु नहीं माना । ब्राह्मण वैदिक ज्ञान की उहापोह में लगा रहता है और संत मानवीय जीवन मूल्यों को लेकर चलता है ।[3] संत धर्म का निरूपण जीवन के संदर्भ में करता है ।

संतो का वेद विरोध एक लंबी श्रृंखला की भक्ति कालीन कड़ी है । वेद की परंपरा लंबी है । निरूक्त कौत्स की चर्चा आती है ।[4] हो सकता है कौत्स किसी वेद विरोधी सम्प्रदाय का नेता हो । यह सम्प्रदाय भौतिक वादी या बुद्धि वादी होगा । स्वयं वैदिक साहित्य में भी द्वन्द्व के सूत्र मिलते हैं । आरंभ में तीन वेदों की मान्यता थी । पीछे अर्थरण का हुआ । अथर्वणवादी पहले तीनों वेदों को हीन और अर्थवण को बतलाते थे ।[5] अंतत: सभी को अथर्वण को भी ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करना पड़ा । अन्य वैदिक शाखाओं में भी वेद विरोध के सूत्र मिलते हैं ।[6] वैसे इन सभी संदर्भों की वेदानुकूलित व्याख्यायें भी हुई । किन्तु यह बाद की

---

1· वेद कुरानों गामि नहीं, कहया न को पतियाइ ‖ कबीर ग्रंथावली, पृ· 14 दो·3 ‖

2· चारिउँ वेद पढ़ाई करि, हरि सँन लाया हेत । ‖ -"वही " पृ· 28 दो· 9 ‖

3· ब्राह्मण गुरू जगत का साधु का गुरूनाहिं ।
उरझि मुरझि करि भरि रह्या, चारिउ वेदा माँहि ।। ‖ कबीर ग्रं· पृ· 28· दो·

4· निरूक्त, अध्याय · 1, खंड 15 ।

5· गोपथ ब्राह्मण ‖ 1/2/18‖ से घोड़े की एक कहानी का मूल आशय और संकेत इसी प्रकार का है । गोपथ 1/2/19 भी दृष्टव्यी

6· ऐतरेय ब्राह्मण 3/2/6 ऐतरेय आरण्यक 2/1/23, मुंड कोपनिषद 1/1/4-5, कौषीतकी उपनिषद 1/2/23, वृहदारण्यक 1/5/23, छांदोग्य, 5/11/24, गीता 2/42,45, 9/21, 11/48,53·

प्रतिक्रिया है । इन स्रोतों में वेद विरुद्ध कुछ बाते है पर कुल मिला कर यह साहित्य वेद विरुद्ध नहीं कहा जाता वेद के प्रामाण्य का स्पष्ट विरोध नहीं है । जैन [1]और बौद्ध [2] स्रोतों में वेद की अस्वीकृति है । वेदो के प्रति घृणा की भावना ही इनमें मिलती है । अन्य वेद विरोधी सम्प्रदायों को भी इनसे बल मिला होगा । चार्वाको की तो प्रसिद्ध उक्ति है - " त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड धूर्त निशाचर । अर्हतो में भी वेद विरोध प्रबल रहा ।

इस विरोधी स्वर का उत्तर भी जैमिनि (पूर्व मीमांसा), कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे मेधाओं ने दिया । किन्तु शंकर के पश्चात भी वैदिकसाहित्य के विरोध का स्वर उठता रहा । निर्गुणियाँ संतों में भी अवज्ञा के स्वर मिलते हैं । नानक ने स्पष्ट कहा --

संत की महिमा वेद न जाणे
चारों वेद कहानी

सिद्धों और नाथों में भी वेद की स्वीकृति नहीं है । भक्ति आंदोलन के संदर्भ में निर्गुणियों ने वर्गीय साहित्य और धर्म के आश्रय के रूप में विरोध किया । सगुण भक्त विशेष से कृष्ण भक्तों ने प्रेमाभक्ति के आवेश में वेद के प्रति आवेश का भाव रखा । इस प्रकार का विरोध कबीर आदि संतों में भी मिलता है । सगुण वादियों में वेद की उपेक्षा तो है, पर उसकी अमान्यता नहीं । संतों में अमान्यता है । इसलिए संतों की वेदों के प्रति दृष्टि क्रान्ति कारिणी कही जाएगी ।

---

1. जैन उत्तराध्ययन सूत्र 4 / 12, 14.
2. दीर्घ निकाय के तेविज्ज सूत्र में सत्य वासेत्य तथा भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों का विवाद । रिज डेविड्स, सेक्रेड बुक्स आफ बुद्धिज्म भाग 2, पृ. 304 - 14.

8·2· वेद और भक्त :-

भक्त कवियों ने वेद के संबंध में यह कहा है कि वे भगवान् का गुणगान करने वाले ग्रंथ है । साथ ही प्रमाण के रूप में वेद का उन्होंने उल्लेख किया है । वेद पुराण, गीता, भागवत, को वेद के साथ सम्मिलित करके भक्त कवि का दृष्टिकोण इन सबको एक ही श्रेणी में रखने का दिखाई पड़ता है । सूर का मत सगुण भक्त कवियों का प्रतिनिधित्व करता है ।

कई स्थानों पर सूर ने वेदों को भगवान की लीला - कथा के गायक के रूप में देखा है ।[1] भगवान के गुणों का गायन भी वेद करते है ।[2] वेद कृष्ण का यशगान करते है ।[3] भगवान की भक्त वत्सलता का गान विशेष रूप से वेद करते है ।[4] वेद कीसम्मति है कि " हरि " से बड़ा और कोई नहीं है ।[5] वेद भगवान को पतित पावन कहते है ।[6] एक नहीं चारों वेद वेद प्रभु का यश गान करते है ।[7] "निगम" के अनुसार भगवान ही अटल स्थान है ।[8] भगवान की " गाथा " का गायन वेद करते है ।[9] भगवान की लीला और गुणों का भेद रहस्यवेद बतलाता है ।[10] भगवान को वेद का रक्षक माना जाता है । इसीलिए उनके जन्मोत्सव के अवसर पर वेद फूले नहीं समाते ।[11]

---

1· अनंत कथा श्रुति गाई । सू· सा· 6·

2· दीन बंधु हरि भक्त कृपानिधि, वेद पुराणनि गाए हो ।

3· - वही - 17 ( वेद विमल जस गावै )

4· भक्त बछल नाय निगम गाइ गए है । वही 23, वहीं - 31·

5· सूर सागर - 81·

6· पतित पाव विरद वेद गावैं । वही 110 - 183·

7· - वही - 113·

8· अटल अस्थान निज निज निगम गावौ । वही 119·

9· - वही - 182·

10· निगमनि भेद बतायौ । वही 188·

11· फूले द्विज संत वेद .... । सू· सा· 652·

सूर ने विनय के लंबे पदों में वेद उपनिषद और पुराण का उल्लेख कृष्ण - स्वभाव के कथन - कर्ता के रूप में हुआ है । छोटे पदों में इनका उल्लेख नाम - माहात्म्य के संदर्भ में मिलता है । लंबे पदों में ये ग्रंथ कृष्ण महिमा { = यश } के गान करने वाले कहे गए है { 11, 17, 113 } या कृष्ण के रक्षक रूप का ये कथन करते है { 7 } अथवा ये भगवान के द्वारा जन की जाति, गोत्र कुल की उपेक्षा की बात कहते है { 11 } । एक पद में यह भी कहा गया है कि कृष्ण ने गीता वेद भागवत में अपने रक्षक रूप के सबंध में स्वयं कथन किया है --

गीता वेद भागवत में प्रभु यौ बोले है आथ ।
जन के निपट निकट सुनियत है, सदा रहत हौ साथ ।[1]

एक पद में यह गया है कि वेद उपनिषद उस तत्व को निर्गुण बतलाते हैं - " वेद उपनिषद जासु कौ निरगुनहिं बतावै ।[2] " सूर ने एक पद में खेद प्रकट किया है कि वेद विमल मारख्यौ ।[3] अर्थात् मैने शुद्ध वेद का भाषण नहीं किया ।

येस्वर स्मार्तों के विचारों से मिलते है । किन्तु वैष्णव सिद्धान्तों की रंगत भी देखने को मिल जाती है । विनय के लंबे पदों में स्मार्त प्रभाव विशेष रूप से दृष्टव्य है ।

8· 3 वेद पुराण :-

सूर ने अनेक स्थानों पर वेद और पुराण का साथ साथ नाम लिया है ।[4] वेद पुराण के सम्मिलित साक्ष की भी चर्चा की गई है ।[5] एक स्थान पर चार ग्रंथो

---

1· सूर सागर : 146·

2· वही : 4·

3· वही : 111·

4· वेद पुरानि गाए हो । सू·सा· 7, वही 90·
5· साखी वेद पुराणी { सू·सा· 11· } वेद पुरानीन साखे { वही 15 }

का नाम लिया गया है । वेद पुराण भागवत, गीता, के मत को उद्धृत किया गया है ।[1] चारौ वेद का उल्लेख भी मिलता है ।[2] वेद और उपनिषद का नाम भी साथ - साथ लिया गया है । ये दोनों ही ग्रंथ भगवान का गुणगान करते है ।[3] वेद के लिए " सुति " ( 4 श्रुति ) शब्द का प्रयोग भी सूर ने किया है ।[4] कभी कभी वेद और स्मृति का साथ - साथ उल्लेख है । इनको भी भगवान की प्राप्ति का मार्ग कहा गया है ।[5] एक स्थान पर " गीता वेद - भागवत " की त्रयी का वर्णन है ।[6] दूसरे स्थान पर " वेद : पुरान सुमृति " का उल्लेख है ।[7]

वैदिक साहित्य लिजेण्ड्स तथा मिथकों की व्याख्या में पुराणों का महत्व स्वीकार किया जाता है । साथ ही अनेक पुरा आख्यानों का बीज वैदिक साहित्य में मिल जाता है । वैदिक देवों तथा उनसे संबंधित कथाओं की विस्तृति पौराणिक साहित्य में मिल जाती है ।

शिव और विष्णु दोनों का उल्लेख ऋग्वेद से ही मिलने लगता है । किन्तु वैदिक धर्म में इनकी स्थिति गौण ही थी । यह विश्वास किया जाता है कि घुमन्तु आर्य जन में विष्णु की मान्यता थी और वैदिक अभिजात वर्गो से इनकी मान्यता अधिक

---

1. साखी वेद पुराणी । ( सू. सा. ।। ( वेदपुराननि साखे 68.
2. वही 113, 157.
3. वही 122.
4. वही
5. सुमृति - वेद मारग हरि पुर कौ ... सू. सा. ( 187. (
6. वही 196.
7. वही 204.

नहीं थी । [1] शिव आर्य पूर्व युग का प्रमुख देव था । [2] वैदिक और अवैदिक धर्म और संस्कृति के आदान प्रदान के फल स्वरूप विष्णु और शिव आर्य धर्म में प्रविष्ट हुए । [3] विष्णु पर सूर्य देवता के गुणों का आरोपण हुआ अंतत: इन्द्र के साथ उनका Identification हुआ[4] और अग्नि से शिव का एकीकरण हुआ । [5] इन दोनों की आदिम कल्पना में पर्याप्त विकास भी हुआ । फिर भी FECUNDITY उर्वरता, PROCREATION तथा PHALLUS के तत्व जनमानस में इनके साथ बने रहे ।

जब वेद वाद ह्रासोन्मुख था तथा प्रमुख वैदिक देवता पिछड़ने लगे तथा ब्राह्मणवाद की जड़ें मजबूत हुईं, तब ये दोनों देव तथा इनसे संबंधित संप्रदाय समृद्ध होने लगे । पौराणिक साहित्य का अधिकांश इनसे संबंधित है । इनके अनुयायियों में घोर संघर्ष भी हुए [6] तथा समन्वय भी हुआ । समन्वय का कार्य पुराणों ने ही आरंभ किया और गुप्त युग तक यह प्रक्रिया पुष्ट हो गई । दोनों के बीच की कड़ियाँ खोजी गई है । ज्ञान विवेक के बिनावेद की शरण में जाना संभव नहीं है । [7] अविद्या वेद वन को समाप्त कर देती है । [8] वेद मार्ग पर चलने की ओर भी संकेत मिलता है । [9]

1. - - - - - - - -(Vishnu was a) "God of great eminence among the masses of the Aryan nomads and was not particularly liked by the orthodox family of vedic poets. (Ral. Dandekar, Vedic Mythological tracts,72).

2. Same 240 .

3. S.K.Lal, Vedic - Puranic Vinculum, Purana (Vol. XXIV, No. 1 year 1982
4. Dandekar 80.
5. Gonda, Vishnuism and Sivaism. 4.
6. Gonda Vaishnavism and Shaivism - 5.

7· विवेक चैन बिनु, निगम ऐन क्यो पावै । § सू·सा· 48 §

8· पिरति वेद - वन ऊख उखारति । - वही - 52·

9· चलत वेद की चाल । - वही - 159·

पांडवों को सूर ने वेद विरुद्ध कहा है इतना होने पर भी कृष्ण को वे प्रिय हुए ।[1] सुर की दृष्टि यज्ञ के संबंध में भी उदार नहीं है । यज्ञानुष्ठान में ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रमुख रूप से रहते थे । यज्ञ के समय शिशुपाल ने कृष्ण का अपमान किया । कृष्ण ने उसको अपने में अंतर्लीन कर लिया ।[2] वैरोचन के पुत्र बलि यज्ञ के वेद विहित कर्म में प्रवृत्त हुआ । उसको छल कर पाताल भेज दिया गया ।[3] इन्द्र का यज्ञानुष्ठान में प्रमुख स्थान रहता था । कृष्ण ने इन्द्र यज्ञ को भंग किया । इससे वह कुपित हो गया ।[4]

8·4 उपनिषद: पहला प्रस्थान :-

उपनिषद का ज्ञान काण्ड संत मानस को स्वीकार्य है । इसीलिए वह ज्ञान वादी और उसका काव्य ज्ञानाश्रयी कहा जाता है । सूर के पिछले कथनों में भी उपनिषद का नाम आया है और उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि शुद्ध वेद के ज्ञान का गायन नहीं कर पाए है । भक्ति का तत्व भी उपनिषद में मिल जाता है इसीलिए भक्ति के आचार्यों ने उपनिषद को एक प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया । भक्ति और ज्ञान की इस सम्मिलित धारा को लोकोन्मुख करने का प्रयत्न किया ।

प्रस्थानत्रयी में काल क्रमानुसार पहला स्थान उपनिषद का है । वैदिक कर्म काण्ड की प्रतिक्रिया में ज्ञान काण्ड की प्रतिक्रिया के प्रतीक उपनिषदमाने जाते है । शंकराचार्य के अद्वैतवाद और ज्ञानवाद के सूत्रों का स्रोत यही है । किन्तु ज्ञानवादी

---

1· वेद विरुद्ध सकल पांडव कुल सो तुम्हरे मन भायौ । सू·सा· 104·

2· जस समय सिसुपाल सुजोधा अनायास लै ज्योति समायौ ( सू·सा· 54 )

3· जज्ञ करत वैरोचन को सुत वेद विहित विधि कर्मा । ( वही 102· )

4· देवराज सब यज्ञ भंग जानिकै बरख्यौ ब्रजपर आई ( वही· 123 )

तत्वाख्यान में रागबिंदुओं की झलमल भी है । मूल सत्ता की रस रूप व्याख्या भी उपनिषद करता है ।[1] जहाँ आध्यात्मिक ज्ञान की जटिल सरणियों का आयोजन है वहाँ भगवान की कृपा या शरणागति की महत्व स्वीकृति भी है ।[2] आडम्बर विहीन भक्ति भावना की महत्ता भी इनमें मिलती है । इसीलिए उपनिषद में भक्ति तत्व का मूल भी संधेय माना जाता है ।[3] इस प्रकार " वेदों के तत्व ज्ञान को मनुष्य के सहज राग से जोड़ कर उपनिषदों ने लोकोन्मुख साधना के विकास की संभावना का सत्रपात किया ।."[4] इसीलिए जिस उपनिषद को शंकराचार्य जी ने ज्ञान काण्ड का पहला प्रस्थान माना वही भक्ति दर्शन का भी पहला सोपान बन सका ।

## 8.5 पुराण :--

भक्त कवियों का प्रमुख उपजीव्य पुराण साहित्य है । संत मानस का पुराण साहित्य के साथ इतना घनिष्ठ तादात्म्य नहीं है ।

भक्ति साहित्य की प्रेरणा और सामग्री का स्रोत पुराण रहा है । पुराणों की रचना वेदों उपनिषदों ब्राह्मणों आदि दर्शन और शास्त्र को लोक मानस तक पहुँचाने के लिए हुई । पुराणों ने मिथकीय और कथात्मक शैली के द्वारा उच्च स्तरीय या अभिजात सिद्धांतों को लोक ग्राह्य बनाया । तत्व दर्शन को अनुभव या बोध में परिणत करके उसकी रसात्मक प्रतीति ही पुराण का अभिप्रेत है । इस योजना का संबंध सामान्य जन समुदाय या वृहत्तर वर्ग से हुआ । पौराणिक योजना का चरम विकास श्रीमद् भागवत

---

1. तैत्तरीय उपनिषद 7. 2
2. श्वेताश्वतर उपनिषद 6. 18
3. आर.जी.भण्डार कर, वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड मैनर सेक्ट्स पेज 1.
4. डा.शांता सिंह : सूरदास की लोक धर्मी जीवन दृष्टि : सूर संदर्भ और समीक्षा { सं. } पृ. 260.

में हुआ । जिसमें प्रगीतात्मकता सम्मिलित हुई और इसीलिए वह लोक मानस और कवि मानस को ग्राह्य बनी । इसने भाव के आलोड़न को वस्तुगत संदर्भीकरण के लिए भूमिका प्रदान की । पुराण की इति वृत्तात्मक प्रकृति का प्रगीतात्मक संस्कार करके भागवत ने पुराणों की लोकोन्मुखता को और भी शासित कर दिया ।

रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय में भागवत की अपेक्षा विष्णु पुराण अधिक मान्य रहा । इसका यह कारण यह बतलाया जाता है कि भागवत के स्रोतों में अद्वैत वाद की गंध आती है । ब्रह्म वैवर्त्त पुराण[1] से भी प्राय: सभी भक्त संप्रदाय प्रभावित हुए । इसमें राधाभाव का प्रतिपादन है । लगभग इसी शैली में पद्मपुराण[2] लिखा गया है । इसमें वृंदावन की नित्य लीला राधा और गोपियों के नाम आदि का विस्तार है । तीसरा पुराण हरिवंश है । यह महाभारत का पूरक या उसका भाग ही कहा जाता है । इसमें कृष्ण चरित्र के अन्य पक्षों के साथ क्रीड़ाओं का विवरण विस्तार से दिया गया है । इन सभी पुराणों से सूर साहित्य प्रभावित हुआ ।

इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति आंदोलन एक जीवंत और समग्र आंदोलन था इसने भारतीय दर्शन और संस्कृति की धाराओं का पुर्नमूल्यांकन करके उनको एक सामंजस्य पूर्ण इकाई में ढालने का प्रयत्न किया । परंपराओं के साथ चलने वाली यह प्रक्रिया आधुनिक ही कही जाएगी । दूसरे इस आंदोलन ने धर्म का एक प्रगतिशील और लोक सुलभ रूप प्रस्तुत किया । दर्शन के अन्तर्विरोधों को समाप्त करके एक स्वस्थ संगम प्रकाश में आया जिसको सांस्कृतिक तीर्थ राज कहा जा सकता है । सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि धर्म और दर्शन की भूमिका में सामाजिक सुधारवादी और नव जागरण वादी दृष्टियों का मोर्चा भक्ति आंदोलन ने बनाया । चाहे सामाजिक दृष्टियों में संत और भक्त बिल्कुल एक जैसे न हो फिर भी दृष्टि कोण में पर्याप्त समानता दिखलाई पड़ती है ।

---

1. अनुमान लगाया जाता है कि इसकी रचना 16 वीं शती में बंगाल में कही हुई । डा. सुकुमार सेन, ए हिस्ट्री आफ ब्रिज बोली लिडरेचर पृ. 435.
2. अनुमान से इसकी रचना भी कही बंगाल में ही हुई । डा. राम स्वार्थ, चौधरी, मधुर रस, ( 1. पृ. 47 )

इस आंदोलन ने परंपरागत पौरोहित्य को ललकार कर इस वर्ग को जन जीवन के रूबरू किया । पुरोहित का रूप ही परिवर्तित हो गया । साथ ही धर्म के नेता के रूप में केवल ब्राह्मण नहीं बना रहा बल्कि शूद्र भी धर्म के नेता बने । इस प्रकार एक बहुआयामी आंदोलन के रूप में भक्ति आंदोलन का मूल्यांकन किया जा सकता है जो सारे भक्ति साहित्य का प्रेरणा स्रोत है ।

3.1 यथास्थिति व्यवस्था और भक्ति आंदोलन :-

आंदोलन की भूमिका में यथास्थिति जन्य स्थिरता से कुछ सामाजिक विकृतियाँ और रोग जन्म लेते है । सभ्यता और संस्कृति किसी स्थिरता का नाम नहीं है । ये तो सतत् निरंतर गति ही है । स्थिरता सभ्यता को पंगु बना देती है । वास्तविक स्थिरता मानसिक जाड्य में बदल जाती है । यह एक ऐसी वृत्ताकार गति को जन्म देती है, जो न कहीं पहुँचती है और न पहुँचाती है । साथ ही गति एक स्वत: स्वच्छता लाती है । स्थिरता वातावरण में प्रदूषण पैदा करती है । इतिहास अपनी प्रेरिका शक्ति को खो बैठता है । वह एक काल खंड की चट्टानों पर सर पटकता रहता है । आगे बढ़कर वर्तमान और भविष्य के साथ जुड़कर वह अपनी अस्मिता को सही तरीके से प्रमाणित नहीं करता । बहुत सी मानवीय शक्तियाँ और प्रतिभा अप्रयुक्त रहकर मृत प्राय हो जाती है ।

ठहराव में वर्गीय संबंध और वैषम्य भी बहुत जटिल और कटु हो जाते है । सभी वर्ग ठहराव से प्रभावित होते है । जिन वर्गों के हाथ में उत्पादन रहता है, वे भी ठहराव की स्थिति में उत्पादन बढ़ाने से ठिठक जाते है । दूसरी ओर उनकी विलासिता जन्य ख्वाहिशें बढ़ती जाती हैं । इसके लिए वे शोषक के यन्त्रों को तेज़ करते है फलत: सामान्य शोषित जनदीन से दीन तर होता जाता है । ठहराव की

स्थिति उसे चारों ओर से जकड़ लेती है । न वह मुक्त रह पाता है और न उसका श्रम इसी बद्ध स्थिति में वह असन्तोष जन्म लेता है जो धीरे धीरे आंदोलन बनता है । यह आंदोलन स्थिरता को चुनौती देता है । आंदोलन की चेतना से सुविधा प्राप्त वर्ग भयभीत होता है । और आंदोलन की शक्तियों का दमन करने पर तुल जाता है ।

आंदोलन एक सामाजिक तत्व है और मनो सामाजिक भी । आंदोलन एक सामूहिक बेचैनी का परिणाम है । बेचैनी परिवर्तन के लिए होती है ।, परिवर्तन की आवश्यकता एक स्थिर यथास्थिति से पैदा होती है । यथास्थिति और गति शील जीवन के द्वन्द्व में आंदोलन की उग्र ऊर्जा और प्रेरणा निहित रहती है । यथास्थिति जीवन का विरोधी और प्रतिरोधी तत्व है क्योंकि यह जीवनकी मूल प्रकृति को क्षुब्ध और कुंठित करता है । इस विक्षोभ का अनुभव व्यक्तिगत धरातल पर भी किया जाता है और सामूहिक धरातल पर भी । विक्षोभ जन्य असन्तोष व्यक्ति गत धरातल से सामाजिक जीवन में संक्रमित होता है । इस प्रकार आंदोलन व्यक्ति की वह सामाजिक क्रिया है जो यथास्थिति को तोड़कर गति प्रगति की पुन प्रतिष्ठा के लिए होती है ।

यथास्थिति या ठहराव एक वर्ग के लिए वरदान होता है । इसलिए यह वर्ग उसे बनाए रखने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देता है । सामान्य जन के लिए ठहराव अभिशाप है । अभिशाप इसलिए कि यह एक विशेष वर्ग की शोषण वृत्ति को सुविधा देता है । सामान्य जन इस सुविधा जनक स्थिति के प्रति असहिष्णु होता जाता है और यह धीरे धीरे अचेतन स्तर से चेतन स्तर पर प्रवेश करती है । इस प्रक्रिया में भावाश्रित विश्वास एक बौद्धिकता और " विचार " का रूप ले लेता है । जिस केन्द्र थोथा, निस्सार और प्रभाव हीन होता जाता है । सामान्य जन की, भावुकता का केन्द्र बदल जाता है । यह बदलता हुआ या ढहता हुआ विश्वास केन्द्र आकुल व्याकुल होकर अपनी रक्षा में रत होता है, अपने अस्तित्व के लिए एक प्रश्रय खोजता है ।

पुराने विश्वास केन्द्रों को नई चमक - दमक से संवार कर यह जन मानस को चकित भ्रमित करना शुरू करता है । सामान्य जन का संस्कारी मन कुछ समय के लिए दिग्भ्रमित हो भी जाता है । किन्तु धीरे धीरे वह असलियत को पहचान ने लगता है और नये विश्वास केन्द्रों की स्थापना करता है । इस प्रकार एक द्वन्द्व जन्म लेता है और वह क्रमश: उग्र से उग्रतर होता जाता है । पुराने विश्वास केन्द्रो की रक्षा में रत वर्ग जन चेतना को उलझाने के लिए कितने ही जाल फेंकता है । इन जालों में प्रमुख ये है -- धर्म परलोक, भाग्यवाद और आस्तिकता इनके द्वारा एक व्यामोह पैदा किया जाता है और सामान्य चेतना में पुरानी प्रतिमाओं के भंग होने की एक कृत्रिम पीडा जन्म लेती है । इसके साथ एक मायिक सहानुभूति और करूणा भी जगती है । पर इस अभियान में यथास्थिति का रक्षक वर्ग एक सीमा तक ही सफल हो जाता है । एक समय आता है जब यह सारी नाकांबंदी निरर्थक हो जाती है । ज्यों-ज्यों यह शिथिल होती है, त्यों त्यों परिवर्तन की टेक वाला आंदोलन सशक्त होता चलता है ।

" आंदोलन " शब्द के मूल में " गति " का भाव सन्निहित है । इस शब्द का अंग्रेजी पर्याय " मूव मेंट " है । इसका अर्थ भी गति ही है । गति जीवन का लक्षण है : जीवन की परिभाषा है जीवन की अनिवार्यता है, यह मृत्यु का विलोम है । स्वयं प्रकृति ने हमारे कुछ अंगों को स्वचालित ( ) गति दी है । मनुष्य कुछ गतियाँ इच्छित या प्रेरित भी है, जो ऐच्छिक है, ये एक सचेतन चुनाव का परिणाम है । कभी - कभी समूह या समाज के घटकों को साथ-साथ चलने के लिए भी कहा जाता है - " संगच्छध्वं " एक प्रकार से यह सामूहिक सोद्देश्य और निर्दिष्ट गति ही समाज है । यदि व्यक्तिगत जीवन के लिए स्वचालित और उसके द्वारा अनियंत्रित गतियाँ जरूरी है, तो सामाजिक जीवन की सुरक्षा और अस्मिता के लिए सचेतन और सोद्देश्य गतियाँ आवश्यक है । गति हीनता, अगति या दुर्गति मृत्यु के लक्षण है । इसीलिए व्यक्ति अपने निजी धरातल पर और सामाजिक स्तर पर भी गत्य-वरोध से भयभीत हो जाता है । सामाजिक स्तर की सुनिश्चित, सुलक्षित और सामू-

िहक गति को ही " प्रगति " का नाम दिया जाता है । गति का यह दर्शन अचेतन या सचेतन रूप से जन मानस में समाया रहता है ।

जहाँ गति जीवन के लिए अनिवार्य है, वहाँ गति की अवरोधक शक्तियाँ भी समाज में जन्म लेती रहती हैं । कुछ निहित स्वार्थों वाले वर्ग गतिरोध उत्पन्न करते है, या गति को अपने स्वार्थों के पोषण के लिए मोड़ते हैं, अथवा गति को वृत्ताकार बना कर अपने मन्तव्यों की पूर्ति करते हैं । वे वर्ग एक ऐसी यथास्थिति को बनाये रखने की कोशिश करते हैं, जिसमें वे परोप जीवी जीवन जीने की सुविधा प्राप्त कर सकें । जब सामाजिक गति का संचालन और निर्धारण एक खास वर्ग के हाथों में बंध जाता है तो सामान्य जन, ऊपरी तौर से गति शील रहते हुए भी उस पीड़ा और त्रास का अनुभव करता है जो गति हीनता से उत्पन्न होता है । समाज के शरीर का अधिकांश भाग गतिहीन हो जाता है जैसे लकवा मार गया हो ।

## 3·10 आंदोलन की व्यापकता :-

आन्दोलन की सबसे बड़ी शक्ति उसकी व्यापकता में निहित रहती है । व्यापकता का तात्पर्य है इसका समाज के आम आदमी से जुड़ना और जीवन के सभी पक्षों को समग्रता के साथ प्रभावित करना । यद्यपि कोई भी आंदोलन सामाजिक परिप्रेक्ष्य से कटकर नहीं चलता फिर भी कुछ आंदोलन ऐसे होते है, जो कुछ वर्गों या जीवन के कुछ पक्षों से ज्यादा गहराई से जुड़े होते हैं । भक्ति आंदोलन प्रत्येक अर्थ में एक व्यापक भूमिका रखता है । इसकी भौगोलिक व्यापकता एक आश्चर्य जनक तत्व है ।

(भक्ति आंदोलन एक समान धार्मिक आंदोलन था । अनुश्रुति के अनुसार भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत में पैदा हुआ और वहाँ से यह उत्तर भारत की ओर चला । उत्तर की ओर आने के दो मार्ग बतलाए गए हैं । एक मार्ग दक्षिण से काशी और काशी केन्द्र से उत्तर भारत में फैलने का है और दूसरा मार्ग द्राविड देश से कर्नाटक महाराष्ट्र और गुजरात होता हुआ वृंदावन पहुँचता है ।

पहला मार्ग दक्षिण की आचार्य परंपरा के विस्फुलिंग, राघवानंद ने पकड़ा और काशी में आकर भक्ति की आंदोलन चेतना का नेतृत्व रामानंद जी के हाथ में दे दिया । रामानंद के नेतृत्व को बढ़ाते हुए कबीर ने उस सूत्र को उत्तर में सर्वत्र प्रचारित किया ।[1] रामानंद जी ने सगुण और निर्गुण के आधार पर भक्ति पथ को विभाजित होने से रोका । उनकी शिष्य परंपरा में सगुणिया और निर्गुणिया दोनो ही आते है । इस प्रकार साधना गत भेद को गौण करके, रामानंद जी ने एक ओर तो तात्विक एकता को बनाए रखा और दूसरी ओर सामाजिक लक्ष्य को केन्द्र में रखा । सगुण निर्गुण के मिले जुले-तत्व महाराष्ट्र और गुजरात के भक्ति सम्प्रदायों में भी मिलते हैं । भक्ति की इस प्रकार व्याख्या भी की गई कि इन दोनों में अभेद स्थापित हो सके । फिर भी इस मार्ग से आया हुआ भक्ति आंदोलन अन्तत: निर्गुणिया प्रकृति का बन कर रह गया अथवा उसमें निर्गुण तत्व का प्राधान्य हो गया ।

दूसरे मार्ग की यात्रा में भक्ति का स्वरूप परिवर्तन भी हुआ । द्राविड़ देश में यह पैदा हुई । कर्नाटक में यह युवती बनी । महाराष्ट्र में इसका कुछ पालन पोषण हुआ । गुजरात के वातावरण ने इसे वृद्धा बना दिया और वृंदावन में आकर इसको पुन: नव जीवन और यौवन मिला । इस यात्रा में कर्नाटक महाराष्ट्र और वृंदावन के पड़ाव महत्व पूर्ण हुए । अनुश्रुति की ध्वनि के अनुसार वृंदावन की महत्ता और भी अधिक रही जिसने भक्ति के क्षयशील रूप को फिर से शक्ति प्रदान की ।)

---

1. भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद ।
   परगट किया कबीर ने, अष्ट द्वीप नौ खण्ड ।

रामानंद जी और कबीर के नेतृत्व वाली भक्ति काशी से चलकर दिल्ली और खड़ी बोली के क्षेत्र में होती हुई पंजाब और राजस्थान के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गई। राजस्थान में मल्लाणी का केन्द्र उभर कर आया और पंजाब में यह सूत्र गुरूनानक की धारा में मिल गया। इस यात्रा में वृंदावन या ब्रजभाषा का क्षेत्र छोड़ दिया गया। निर्गुणियाँ भक्तों की सधुक्खड़ी भाषा की आधार भूत संरचना पूर्वी और खड़ी बोली के सूत्रों से गठित हुई। " सबदों में अवश्य ब्रजभाषा के स्पर्श की उष्णता मिलती है। राजस्थानी और पंजाबी के भाषा तत्व भी सधुक्खड़ी में सम्मिलित हुए।

राजनीतिक दृष्टि से पंजाब और दिल्ली मुस्लिम आक्रमण कारियों से आक्रान्त भूभाग था। राजस्थान छोटे बड़े रजवाड़ों का क्षेत्र था। ये रजवाड़े भी मुस्लिम आक्रमणों के संदर्भ में सक्रिय थे। साथ ही साम्राज्य में विलीन होते हुए छोटे-छोटे सांमती राज्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सचेष्ट थे। मीरा के व्यक्तित्व में जहाँ निर्गुण सगुण की सम्मिलित परंपरा सजीव है, वहाँ सधुक्खड़ी का राजस्थानी रूप भी उनके काव्य में गृहीत है। यह वह बड़ी भी है जो राजस्थान और गुजरात के बीच पनपती है।

दूसरे मार्ग से आने वाली भक्ति धारा वारकरी और महानुभाव जैसे संप्रदायों में रूपायित हुई। ज्ञानदेव, नामदेव तुकाराम जैसे संतों में इसका नेतृत्व रहा। नाम देव इस भक्ति सूत्र को लेकर पंजाब भी गए और संभवत: मथुरा वृंदावन में भी आये। महाराष्ट्र में विठोबा का मंदिर निर्गुण को सगुण से जोड़ने लगा था। इस केन्द्र से नामदेव जैसे निर्गुणियों का संबंध भी हुआ। इन संतों ने सधुक्खड़ी में भी रचनाएँ की और ब्रजी के तत्वों को भी ग्रहण किया। इसी क्षेत्र तक संभवत: विष्णु स्वामी संप्रदाय की साधना पहुँच चुकी थी।

सुदामा और नरसी मेहता के देश गुजरात में ऐसा न जाने क्या हुआ कि भक्ति का बढ़ता हुआ वेग मंद पड़ गया भक्ति वार्द्धक्य को प्राप्त हुई। शायद मुस्लिम आक्रमण कारियों का दबाव इसका कारण रहा हो। इस दबाव के कारण ही ब्रज का केन्द्र भी बहुत दिन तक मूक मौन रहा। सिंध और गुजरात में अरबों का भी दबाव रहा और

पीछे के आक्रमण कारियों का भी, गजनवी ने सोमनाथ तोड़ा । ब्रज में आकर भक्ति को नवजीवन इसलिए मिला कि ब्रज में तब तक सगुण भक्ति के केन्द्र स्थापित हो गए थे ।

काशी के रास्ते आई हुई निर्गुणियाँ भक्ति को प्राय: मुस्लिम संकटनहीं झेलना पड़ा । मुसलमान मूलत: मूर्ति पूजा का विरोधी और मूर्ति भजक था । निर्गुणियाँ भक्ति ने मूर्ति पूजा के केन्द्रों के रूप में मंदिरों का निर्माण ही नहीं किया जिनको मुसलमान का कोप भाजन बनना होता । निर्गुणियाँ प्राय: मूर्ति पूजा का खंडन भी करता रहा । इसका मुसलमानी अभियान के साथ प्रवृत्तिगत मेल भी रहा । मुसलमान संतो तथा सूफी संतों के बीच संपर्क भी हुआ । कई मुसलमान निर्गुणियाँ संत हो गए । इस प्रकार निर्गुणियाँ भक्ति पर मुसलमान की तास्सुबी दृष्टि नहीं पड़ी । केवल मानवता वादी धरातल पर निर्गुणियाँ संत और मुसलमान सुल्तान का द्वन्द्व चला ।

सगुण भक्ति और उसके केन्द्रों को मुस्लिम संकट झेलना पड़ा बहुत दिन तक संघर्ष चलता रहा । शंकराचार्य जी का अद्वैत वादी ज्ञानकांड मंदिर और मूर्ति पूजा के साथ कोई स्पष्ट सामंजस्य नहीं रखता था । फिर भी चार धामों की जो भौगोलिक कल्पना शंकराचार्य जी ने की, वे चारों मंदिर और मूर्तिपूजा के केन्द्र थे रामेश्वर द्वारका, बद्रीनाथ और जगन्नाथ पुरी । इन चारों ही स्थानों पर विशाल मंदिर भी थे और मूर्तियाँ भी थी । ये मंदिर आज भी सुरक्षित है । मुसलमान ने इनके भंजन का उपक्रम नहीं किया । इन केन्द्रों में से तीन समुद्र तटपर हैं और एक हिमालय में । इनकी स्थिति भारत भूमि की बाहरी परिधि पर है । शंकराचार्य जी ने इन स्थानों पर मठ भी बनाए ।

एक तीसरा मार्ग भी भक्ति के दक्षिण से उत्तर की ओर आने का था । चैतन्य चरितामृत के अनुसार भक्ति संबंधी सामग्री और प्रेरणा के लिए दक्षिण की यात्रा की । वहाँ से वे ब्रह्म संहिता और श्रीकृष्ण कर्णामृत जैसी कृतियाँ लाए । रूप और सनातन की खोज भीदक्षिण में उन्होंने की । इस प्रकार चैतन्य मधुरा भक्ति के तत्वों

को दक्षिण से खोज कर लाए । पाँच रात्र साहित्य से उनका परिचय हुआ । यह भक्ति दक्षिण से बंगाल में आई और बंगाल से वृंदावन की ओर चली । यह सगुण भक्ति ही थी ।

सगुण भक्ति की दो " धाराएँ " दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई । एक धारा दक्षिण में पादुभूत आचार्यों के द्वारा उत्तर ले जायी गई । आचार्यों में श्री वल्लभाचार्य जी और श्री निंबार्काचार्य को परिगणित किया जा सकता है । मध्वाचार्य जी के अनुयायी भी उत्तर की ओर चले । इन्होंने अपने केन्द्र ब्रज में ही स्थापित किए । दूसरी धारा बंगाल होकर चैतन्य के माध्यम से ब्रज में पहुँची । वैसे ब्रज की यात्रा श्री रामानुजाचार्य ने भी की और उनके अनुयायियों ने भी ।

श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्ति केन्द्र यमुना के तट पर और श्री गिरिराज की उपत्यका में बने । यही केन्द्र वल्लभाचार्य जी के भक्ति केन्द्रों का रहा । जहाँ चैतन्य ने गिरिराज में केन्द्र बनाया । वहाँ वल्लभाचार्य जी ने भी । यमुना के किनारे यदि चैतन्य महाप्रभु ने वृंदावन में केन्द्र स्थापित किया, तो वल्लभाचार्य जी ने गोकुल को अपना पीठ बनाया । निम्बार्काचार्य जी का स्थान भी गोवर्धन के नीम गाँव में है और वृंदावन में भी । रामानुजाचार्य जी का प्राचीन केन्द्र श्री गिरिराज में ही है और नया केन्द्र वृंदावन में इस प्रकार ब्रज क्षेत्र सगुण भक्ति के केन्द्रों से गया ।

सगुण भक्ति के केन्द्रों में मंदिर भी बने और विग्रहों की प्रतिष्ठा भी हुई । इस रूप में मुसलमानों की दृष्टि भी इन केन्द्रों पर पड़ी । मंदिर तोड़े गए । कुछ मूर्तियाँ सुरक्षा के लिए ब्रज से बाहर ले जाई गई ।

इस स्थिति के प्रति कुछ आचार्य सतर्क भी थे । वृंदावन के स्वामी हरिदास जी ने श्री बाँके बिहारी का विग्रह निधिवन के लता कुंजों में ही रखी । श्री हित - हरिवंश जी ने राधावल्लभ जी की मूर्ति सेवा कुंज में ही पधराई जब श्री गोवर्द्धन पर श्रीनाथ

जी के मंदिर के निर्माण का प्रश्न आया, तो मंदिर के मानचित्र पर विचार विमर्श हुआ । श्री वल्लभाचार्य जी नही चाहते थे कि शिखर वाला मंदिर बने । शिखर वाले मंदिर पर मुसलमानों की वक्र दृष्टि रहती थी । जब किसी प्रकार शिखर वाला मंदिर बन ही गया, तब उन्होंने भावी संकट की भविष्यवाणी की । वल्लभकुल में मूर्तियों " हवेलियों " में पधराई गई । न उनको मंदिर नाम ही दिया गया और न रूप ही । साथ ही वल्लभाचार्य जी ने गिरिराज की एकशिला की ही प्रतिष्ठा की किसी गढ़ी बनी मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं की गई । श्रृंगार से इसे मूर्ति के रूप में आकर दिया जाता था । शालिग्राम भी एक गोल प्रस्तर खंड ही होता है । गोपी चंदन आदि से इसको चित्रित कर दिया जाता था ।

भारत के कोने - कोने तक इस आंदोलन की अनुगूंज भर उठी । प्रत्येक भूभाग में भक्त कवियों की वाणी का निनाद गूंज उठा । उच्च वर्गीय ही नहीं निम्न वर्ग भी भक्ति की शीतल छाया को पाकर जीवन के प्रति आशावग्न हुए । इस आंदोलन की व्यापकता एकऔर दृष्टि से देखी जा सकती है । साहित्य और कला की, परंपरा उस आंदोलन की चेतना से एक नया रूप धारण करने लगी । परंपरा-गत अभिजात रूचियों का लोकवादी संस्कार हुए ।

## 10•1 तत्कालीन संस्कृत साहित्य :-

### 10•1•1 साहित्य शास्त्र :-

देश भाषा साहित्य के समानांतर संस्कृत साहित्य भी प्रवहमान था । ध्वन्यालोककार आनंद वर्धन और सरस्वती कंठाभरण के रचयिता भोज नवीं, ग्यारहवीं शती में उपस्थित थे । ध्वन्यालोक में राधाकृष्ण की लीलाओं से संबंधित कुछ मुक्तक छंद मिलते है । इसी प्रकार के छंद सरस्वती कंठाभरन में उदाहरण के रूप में दिये गये हैं । इन उदाहरणों में गोप कृष्ण का श्रृंगार ही वर्णित है । इस प्रकार के और भी पद्य लोक में प्रचलित रहे होंगे ।

## 10·1·2 मुक्तक काव्य :-

दसवीं शती का " ववीन्द्र वचन समुच्चय " मुक्तक काव्य परंपरा में उल्लेख - नीय है । इसमें भी राधाकृष्ण के प्रेम से संबंधित कई पद पद्य संगृहीत हैं । एक पद्य में वं से व्रज आते हुए गोपाल कृष्ण की मनोरम झाँकी है ।[1] श्रृंगार परक पद्य भी है ।[2]

बारहवीं शती का एक और संग्रह ग्रंथ है - " समुक्ति कर्णामृत । " इसमें भी राधा कृष्ण की श्रृंगार लीला से विलसित पद्य संगृहीत है ।[3]

16 वीं शती के रूप गोस्वामी ने " पद्मावती " नाम से एक संग्रहात्मक मुक्तक ग्रंथ का संकलन किया । संभवत: ये पद्य लक्ष्मण सेन की सभा के जयदेव के समकालीन कवियों द्वारा रचे गए थे ।[4] कुछ पद्य जयदेव से पहले के भी हो सकते है । ये पद्य देश के पूर्वी प्रदेश में रचे गये थे । इनसे जयदेव और विद्यापति को जोड़कर देखा जा सकता है । विल्व मंगल ठाकुर का कृष्ण कर्णामृत भी इसी परंपरा की एक कड़ी है ।

## 10·2 लोक भाषा काव्य :

### 10·2·1 प्राकृत पैंगलम् :-

लक्षण उदाहरण शैली का पिंगल ग्रंथ है । उदाहरण किसी पूर्ववर्ती या समका- लीन पंरपरा से आगत होंगे । कुछ संग्राहक द्वारा रचित भी हो सकते हैं ।[5] अधिकांश विद्वान इसका संकलन काल चौदहवी शती मानते हैं । भाषा की दृष्टि से इसमें पर्याप्त

---

1· रवीन्द्र वचन समुच्चय पृ· 22·
2· - वही - पृ· 512·
3· क्रीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास - पृ· 262·
4· शशि भूषण दास गुप्त, श्रीराधा का क्रम विकास - पृ· 137·
5. Dr. M...L.. VALMKAR - Journal unit of Bombay, Nov., 1956, P. 68

विविधता है प्राकृत से लेकर अपभ्रंश पुरानी हिन्दी तक के भाषा रूप उदाहरणों में प्रयुक्त मिलते है । कुछ विद्वानों के अनुसार इसकी रचना पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र में हुई थी, और कुछ के अनुसार मागधी अपभ्रंश के क्षेत्र में । इसमें संग्रहीत 'प्राचीनतम छंद गाथा सप्तशती का है । विषय की दृष्टि से कुछ पद्य प्रशस्ति मूलक हैं, कुछ भक्ति शृंगार मूलक ।

पूर्वी प्रदेश में चर्यापद परंपरा पहले से मौजूद थी । उसी क्षेत्र में लीलागीतों का आरंभ हुआ । पश्चिमी क्षेत्र भी इस प्रकार के गीतों से शून्य नहीं था ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राजपुताने के नाथ सिद्धों के भजनों की स्थिति मानी है । ये काफी पुराने हैं । ग्रंथ साहेब में संग्रहीत पश्चिम और दक्षिण प्रदेशों के भक्तों के गीत / पद संग्रहीत हैं ही । लोक जीवन में कृष्ण परक गीत प्रचलित थे । वृंदावनदास ने चैतन्य देव से पहले के गीत प्रकारों का उल्लेख किया है ।[1] ठाकुर हरिदास एक डंका ( सर्प पूजक ) के मुँह से कालीदमन का गीत[2] सुनकर मूर्छित हो गए थे ।[3] ब्रज और बुंदेली क्षेत्र में इस प्रकार के लोक गीत प्रचलित थे ।[4]

## 10.2.2 दक्षिणात्य आचार्य और लोक साहित्य :-

नवीं शती के नाथ मुनि ने आलवार गीतों का संकलन किया । सन् 1016 में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ । भक्ति के क्षेत्र में प्रपत्ति और शरणागति के सिद्धांतों का उन्होंने प्रतिपादन किया, वहाँ भक्ति के ही क्षेत्र में उन्होंने जाति-पाँति के विभेद को अस्वीकृत किया । इसी परंपरा में आगे चलकर रामानंद हुए । सन् 1197 में मध्वाचार्य का आविर्भाव हुआ । चैतन्य पर इनका प्रभाव पड़ा । सन् 1172

---

1. योगी पाल, भोगीपाल महीपालेर गीत इहा शुनिवारे स लोक, आंनदित ।
2. कालि दहे करिलेन जे नाट्य ईश्वरे । से इ गीत गायेन कारव्य उच्चैः स्वरे ।
3. चैतन्य - पृ. 91.
4. डा. शालिग्राम गुप्त, ब्रज और बुंदेली लोक गीतों में कृष्ण कथा ।

में निवार्काचार्य जी अवतरित हुए । विष्णु स्वामी का समय भी लगभग यही है । इसी गद्दी पर आगे वल्लभाचार्य आसीन हुए ।

इसी समय में महाराष्ट्र का महानुभाव संप्रदाय अस्तित्व में आता है । इसके आराध्य श्री कृष्ण हैं । निर्गुण - सगुण का समन्वय इनमें मिलता है । सन् 1174 में चक्रधर ने मराठी में तो रचनाएँ की हीं, हिन्दी मिश्रित भाषा में भी इन्होंने लिखा ।

## 10·3 अन्य ललित कलाओं में भक्ति :-

डॉ· रामनरेश वर्मा : वल्लभ तथा सखी संप्रदायों से संबद्ध हिन्दी सगुण काव्य उस गीति नाट्य पूर्ण सांस्कृतिक आंदोलन का एक पक्ष है जिसने रंजक स्वर संदर्भ युक्त भाव तरल संगीत पद्धति, गीति तत्व युक्त " वैणिक " चित्रशैली, मधुर और कोमल भावों को व्यक्त करने वाले, रासक, गीति नाट्य एवं ललित कोमल पुष्पाभान आदि की कलाओं को विकसित किया ।

आठवीं नवीं शती से ही रामकृष्ण की लीलाओं को मूर्तिकारों ने भी उकेरा मथुरा के एक शिलापट्ट ( पृथक शती ) परवसुदेव के द्वारा नवजात शिशु कृष्ण को गोकुल ले जाये जाने का अभिप्राय मिलता है ।

एक और शिलापट्ट ( 5 वीं शती ) पर कालि यदमन का दृश्य अंकित है मथुरा में ही प्राप्त गोवर्द्धन धारण की मूर्ति ( छठी शती ) भी है । [3]

---

1· हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका - पृ· 10·

2· मथुरा पुरातत्व संग्रहालय में यह सुरक्षित है ।

3· आर्कियॉ जिकल सर्वे रिपोर्ट 18 23 - 27·

युंगाल के पहाड़ पुर स्थान पर भी कुछ मृण्मूर्तियाँ मिली है । धेनुका सुरवध, यमलार्जुन उद्धार, तथा मुष्टिक चाणूर के साथ मल्लयुद्ध उद्धार के अभिप्राय इनमें उतारे गये है । राधा के साथ कृष्ण के दर्शन भी एक मूर्ति में होते हैं । " युंगल ' पूजा का यह सबसे प्राचीन प्रमाण माना जाता है ।

राजस्थान के मंडौर के द्वार पटों पर गोवर्धन धारण, नवनीत चोर, शकट भंजन और कालियदमन के अभिप्राय उत्कीर्ण हैं ।

दक्षिण भारत के बादामी के पहाड़ी किले पर कृष्ण जन्म, पूतनावध, शकट भंजन प्रलंबवध, धेनुक वध, अरिष्ट वध कंस वध, आदि के अनेक दृश्य गुफाओं में उत्कीर्ण मिले हैं । ये छठवीं सातवीं शती के हैं ।[2]

मूर्तियों में दशावतारके अभिप्राय भी मिलते हैं । संभवत: दसवीं ग्यारवीं शती में एक दशावतार मत ही चल निकला था । खजुराहों के एक मंदिर में विष्णु के दश सिर वाली एक मूर्ति, दशावतार की ही प्रतीक है ।[3] ये सभी प्रमाण भक्ति चेतना के है ।

लोक नृत्यों में भी पहले दशावतार और पीछे मुख्यत: राधाकृष्ण से संबंधित प्रसंग और अभिप्राय प्रविष्ठ हुए । दक्षिण के मंदिरों तथा भक्तों में रासलीला से अनुरंजित " कल्प कोवा " नृत्यनाट्य बहुत लोकप्रिय रहा । पूर्वी अंचल के लोक नृत्य रास से प्रभावित हुए । मणिपुर में रास का विकास विस्तार हुआ ही ।[4] बिहार में

---

1. इनका समय पांचवी शती माना गया है ।
2. मेमायर आफ आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया ( जि. 26 – पृ. 5 )
3. बी.एल.धमा, ए गाइड टू खजुराहें ।
4. बनर्जी, फॉक डान्स इन इंडिया, पृ. 38.

भी रास शैली अनेक लोक नृत्यों का आधार बनी ।[1] जिस प्रकार नृत्यों को जयदेव के गीत प्रभावितकर रहे थे, उसी प्रकार विद्यापति के गीतों की पीठिका भी बिहारी नृत्यों को मिल रही थी । पश्चिम में महाराष्ट्र का जिम्मा नृत्य रास का ही एकरूपांतरण है ।[2] साथ ही वहाँ के "टिपरियाँ" गोप नृत्य में तथा बारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध "डिण्डी रास" नृत्य में रास का ही रूपांतरण परि लक्षित होता है ।[3] गोकुलाष्टमी के दिन होने वाले कलानृत्य की भी यही प्रकृति है ।[4] गुजरात का "गरबा नृत्य" गोपी कृष्ण लीला का ही एक स्थानीय रूप है । काठियावाड़ के रास नृत्य भी कृष्ण लीला से विलसितहै । रसात्मक नृत्यों के साथ ही उद्धार परक कृष्णाश्रित नृत्य भी प्रचलित रहे[5] किन्तु आकर्षण रसात्मक नाट्य नृत्य का ही बढ़ता गया ।

## भक्ति आन्दोलन : आधुनिक प्रतिमान :-

आंदोलन की अर्थ सरंचना में गति प्रगति, गति की पुर्नप्रतिष्ठा और गति के अवरोधक तत्वों से संघर्ष के भाव अन्तर्निहित है । गति सामाजिक जीवन और उसके स्वास्थ्य का लक्षण है । आन्दोलन की आवश्यकता उस समय होती है जब अभिजात दर्शन और उच्च वर्गीय व्यवस्था सामान्य जन जीवन पर अजगर की तरह बैठ जाती है इस गतिरोध या यथास्थिति के बनाए रखने के प्रयत्नों में एक षड्यन्त्र रहता है जो उच्च वर्गीय सत्ता को बनाए रखने और सामान्य जन में प्रगति के तत्वों को न जगने देने के लिए कृत संकल्प होता है । इस षड्यन्त्र को तोड़ने और गतिक क्रम को उन्मुक्त करने के लिए

---

1. बनर्जी, डान्स इन इंडिया पृ॰ 123॰
2. ए॰जी॰अगर कर, फोंक डान्स आफ महाराष्ट्र पृ॰ 109॰
3. - वही - पृ॰ 48॰ 108॰
4. - वही - पृ॰ 109॰
5. महाराष्ट्र का महालक्ष्मी नृत्य, गोविन्द नृत्य दही हांडी नृत्य उड़ीसा का "मार शबरी नृत्य आसाम और मणिपुर के कालिय दमन, बकासुर वध नृत्य, काम रूप के फाल्गुनी, गीता और [illegible] नृत्य आदि की प्रकृति मुख्यत: उद्धार परक है ।

आन्दोलन की आवश्कता होती है । इतिहास में आन्दोलन युगान्तर लाता है और मूल्यगत विघटन की स्थिति को समाप्त करता है । यदि समाजवादी शब्दा-वली का प्रयोग करें तो यह विघटन की स्थिति उन प्रतिक्रियावादी सामन्तीय या पूंजीवादी शक्तियों के द्वारा लाई जाती है जो अर्थ तन्त्र पर एकाधिकार करके सर्वहारा के जीवन को निरर्थक बना देती है । इसी मौलिक अर्थ व्यवस्था से धर्म संस्कृति और साहित्य भी प्रभावित होते हैं ।

इतिहास की दृष्टि से भगवान बुद्ध के पश्चात् भक्ति आंदोलन सबसे बड़ी सामाजिक घटना है । इस आंदोलन ने मध्यकालीन जाड्य और गतिरोध को चुनौती देकर पुनर्जागरण की स्थिति पैदा कर दी थी । मध्यकालीन भारतीय इतिहास, सामन्तवादी शक्तियों के अध: पतन और साम्प्रदायिक साम्राज्यवाद के भारत में प्रवेश के थपेड़ों की कहानी कहता है । हिन्दू धर्म अपनी आरंभिक गत्यात्मकता को भूल कर रूढ़ियों की भूल भूलैयों में फंस कर रह गया था । धर्म एक गतिरोध का शिकार बन कर रह गया था और आध्यात्मिक शक्तियाँ वर्गीय सीमाओं में बंध गई थीं । अर्थ लाभ और धर्म प्रचार के उद्देश्य से आई हुई इस्लामी शक्तियाँ इस स्थिति का लाभ उठा कर भारत में पैर जमाने लगी थीं । एक अभूत पूर्व संकट उपस्थित हो गया था और धर्म की सुरक्षा के लिए कोई कारगर हुआ है दिखलाई नहीं पड़ रहा था । पंडितों ने स्मृतियों और धर्म शास्त्रों की टीका और पुर्नव्याख्या के द्वारा एक जर्जरी भूत सांस्कृतिक विरासत के सुरक्षित रख ने का प्रयत्न किया ।

इस परंपरा को यों समझा जा सकता है - मेधा तिथि और देवल का भाष्य । 11 वीं शती - गोविन्द राज - मनुस्मृति की व्याख्या, विज्ञानेश्वर - याज्ञवल्क्य स्मृति की " मिताक्षरा " टीका देव स्वामी - स्मृति समुच्चय 12 वीं शती - लक्ष्मीधर (कन्नौज) स्मृतियों पर आधारित " कृत्य कला कल्पतरू ", जीमूत वाहन - काल विवेक, दायभाग, अपरार्क - याज्ञवल्कीय धर्म शास्त्र, श्रीधर (दक्षिण) स्मृत्यर्थ सार, अनिरूद्ध - हार लता (शुद्धि पर विचार) बल्लासेन (बंगाल) आचार सागर ।

13 वीं शती देवानन्द भट्ट - स्मृति चन्द्रिका, हरदत्त - गृह्य सूत्रों पर टीका, हेमाद्रि चतुर्वर्ग चिंतामणि, कुल्लूक ४ बंगाल ४ मनुस्मृति पर मन्वर्थ मुक्तावाली " श्री दत्त उपाध्याय ४ मिथिला ४ आचारादर्श ।

14 वीं शती चंडेश्वर ठाकुर - स्मृति रत्नाकर ४ 7 वाँ भाग ४ माधव - ४ विजय नगर ४, काल निर्णय ४ पाराशर स्मृति पर ४, विश्वेश्वर मदन पारिजात ।

15 वीं शती " परमदत्त ४ मिथिला ४ विद्यापति उपाध्याय ४ मिथिला की स्मृति टीकाएँ, रघुनन्दन मिश्र ४ बगांल ४ व्यवहार तत्व । यह सूची पूर्ण नहीं है । न जाने कितने भाष्य लिखे गए ।

इस प्रकार चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में साहन, माधव, आनंद तीर्थ भट्ट भास्कर तथा कई अन्य विद्वानों ने वेदों तथा प्रधानी अन्य ग्रंथों पर अनेकानेक भाष्य लिखे । मेधा तिथि, कल्लुक भट्ट, विज्ञानेश्वर, हिमाद्रि आदि पंडितों ने मनुस्मृति तथा दूसरी प्राचीन विधि संहिताओं पर टीकाएँ लिखीं । और उत्तर सामन्त काल के लोगों पर पुराने नियमों को लागू करने के जी तोड़ प्रयत्न किए । दर्शन के क्षेत्र में कितने ही आदर्शवादी भाष्य प्रकाशित किए गए और सांख्य वैशेषिक तथा अन्य तर्कना-परक प्रणालियों की आदर्शवाद के आधार पर पुन: व्याख्या करने की चेष्टा की गई । मठ और मंदिर इस प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के केन्द्र बन गए । सामंत और राजाओं ने इन प्रयासों को सरंक्षण भी दिया ।

यह सारा प्रयत्न अतीत के पुनरुत्थान के अन्र्तगत रखा जा सकता है । इसके द्वारा पतनोंन्मुख हिन्दू धर्म ने जैसे - तैसे अपने पैर जमाए । जन जीवन के संस्कारों से संबंधित अवसरों पर वेद मन्त्रों के पाठ को सुनिश्चित किया गया । एक प्रकार से वैदिक

---

1. के.दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा - पृ. 326

धर्म के इस पुनरूत्थान को शंकराचार्य के अभियान से जोड कर देखा जा सकता है । किन्तु खोज इस बात की थी कि धर्म के इस अध्यारोपण के स्थान पर ऐसे धर्म को लाया जाय जो सामान्य जन जीवन से पैदा हुआ हो और जन मानस जिसको सहज रूप से अपना सके । वेद और स्मृतियों की अकाट्य मर्यादाओं के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था जन्म ले जो एक सहज धर्म चलिया के रूप में जीवन का अंग बन सके । सामाजिक स्तर पर यही सहज धर्म चलिया भक्ति कही जा सकती है ।

धर्म मध्यकालीन जीवन के हर पक्ष को नियन्त्रित करता है । भक्ति आंदोलन यद्यपि सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन अधिक था फिर भी मध्यकालीन प्रवृत्ति और आवश्यकता के अनुसार इसको धार्मिक आंदोलन का रूप दिया गया है । एंगेल्स ने मध्यकालीन आंदोलनों की धार्मिक प्रकृति के संबंध में जो लिखा है उसकी संक्षिप्त इस प्रकार दी जा सकती है, "मध्यकालीन जीवन के आचार विचार दर्शन राजनीति विधि आदि सभी पक्षों को धर्म की उपशाखाओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, इसीलिए मध्यकाल में जो भी आंदोलन हुआ वह ऊपर से धार्मिक आंदोलन का रूप ही ले लेता था । सामान्य जनता तक किसी भी आंदोलन की आवाज को पहुँचाने के लिए प्रत्येक आंदोलन को इस रूप में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक था ।[1] यही बात भारत के भक्ति आंदोलन के संबंध में कही जा सकती है ।

---

1. एंगेल्स : लुडविग फायर बाख - अध्याय 4.

# साध्य : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

## 4. साध्य : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

प्रस्ताविक

1. आस्तिकता

2. द्वन्द्व

3. साध्य विकास की स्थितियाँ

4. वैदिक विष्णु

5. देव और मानव : संबंध भावना

6. औपनिषदिक स्थिति : संत का साध्य

7. आधुनिक विचारक और संत का साध्य

## साध्य और आधुनिक परिप्रेक्ष्य :

### 0· प्रास्ताविक :

हिन्दी भक्ति साहित्य का विभाजन साध्य के आधार पर किया गया । एक कवि वर्ग अपनी अनुभूतियाँ सगुण साध्य को समर्पित करता है और कवियों का दूसरा समुदाय निर्गुण ब्रह्म को साध्य मानकर चलता है । ऐतिहासिक दृष्टि से सगुण ब्रह्म का बीज वैदिक साहित्य में मिलता है जिसमें अन्तत: विष्णु की प्रतिष्ठा हो गई थी । निर्गुण साध्य की समानता औपनिषदिक और योगमार्गीय साध्य के साथ हो जाता है। किन्तु निर्गुणिया संत ने इस साध्य का अनेक प्रकार से अनुकूलन और संशोधन किया है । यह मानना एक भ्रम ही होगा कि उन्होंने औपनिषदिक ब्रह्म को ज्यों का त्यों स्वीकार किया । साध्य की तात्त्विक संरचना आधुनिक मानवतावादी प्रतिमानों के बिल्कुल समीप आ जाती है ।

## 4.1 आस्तिकता :

भक्ति भावना और उससे अनुप्राणित साहित्य आवश्यक रूप से आस्तिक प्रकृति का है । आधुनिकता के विचार में आस्तिकता कोई अस्वीकृत तत्व नहीं है । युग के अनुसार आस्तिकता रूपान्तरित होती है, यह आधुनिक विचार है । भारत में आस्तिकता शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है - भगवान में विश्वास और वेदों की प्रमाण रूप में स्वीकृति । प्रथम अर्थ में भक्ति साहित्य के साध्य की परिकल्पना आती है और दूसरे रूप में भक्त कवि की वेद के संबंध में मान्यता का समावेश होता है । दोनों ही दृष्टियों से भक्त कवि समस्त भारतीय परंपरा के दार्शनिक और आध्यात्मिक रिक्थ की पुन: स्थापना और उसकी पुर्नव्याख्या में लगा हुआ मिलता है । यह पुर्न-व्याख्या भक्ति साहित्य तक आते आते समाजोन्मुख और मानव केन्द्रित होती आई है । आधुनिक दृष्टि इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से जोड़कर देखती है । यह प्रक्रिया ईश्वर या भगवान को मनुष्य और समाज से जोड़कर ही देखती है ।

### 4.1.1 प्रमुख विचारक :

#### 4.1.1.1 हीगल (अलगाव)

जब मनुष्य की विमुक्ति की चर्चा चलती है . एक शब्द आता है "अलगाव" (ऐलिएनेशन) । इस शब्द का पहली बार हीगल ने प्रयोग किया था । इसको स्पष्ट करते हुए हीगल ने कहा था कि मनुष्य अपनी तात्विक स्थिति से कट गया और सर्वत्र वह बन्धन ग्रस्त है । एक प्रकार से यह बन्धन ग्रस्त है कथन भारतीय दर्शन की इस उक्ति के समान दिखलाई पड़ता है कि मनुष्य अपने मूल तत्व से विच्छिन्न होकर माया ग्रस्त हो जाता है । यह उसका बंध जाना या अधीन होना ही है । संभवत: हीगल का मतव्य कुछ और हो सकता है किन्तु रचना बिल्कुल समान है । हीगल के अनुसार इस स्थिति के

दो कारण है - आवश्यकता और अलगाव । आवश्यकता मनुष्य को प्रकृति पर निर्भर बनाती है और इस संबंध में मनुष्य को अपनी शारीरिक क्षमता की सीमाओं का अनुभव होता है, यह एक दुर्निवार बंधन है ।

अलगाव को समझाते हुए उन्होंने कहा है कि मनुष्य के " स्व " ... द्वय - विभाजन हुआ - कर्ता और वस्तु । कर्ता के रूप में अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करने के लिए एक दुर्दमनीय एषणा जगती है और वह अपने को मुक्त नहीं पाता । कभी समाज का कोई वर्ग इस अधिकार को छीन लेता है और कभी कोई अलौकिक सत्ता उस के कर्ता रूप की सार्थकता को समाप्त कर देती है । वस्तु के रूप में मनुष्य देखता है कि अन्य लोग उसका मन माना उपयोग कर रहे हैं ।

" फ्योर बाख " ने अलगाव की स्थिति का मूल स्रोत धार्मिक अंधविश्वास में माना है । मनुष्य अपने " स्व " से इसलिए विच्छिन्न हो जाता है कि वह अपनी चेतना या संवेदना के सर्वोत्तम अंश को किसी कल्पित या बाह्य वस्तु में प्रक्षेपित कर देता है । इस प्रकार वह देवाधीन हो जाता है । भक्त कवियों ने कर्तृत्व के संबंध में ऐसी उक्तियाँ की है :-

करी गोपाल की सब होय
जो अपनौ पुरूषारथ मानत अति झूठा है सोई ।।

बाख ने धार्मिक अंध विश्वास की बात कही । अंध विश्वास अधीनता की स्थिति को और भी कटु बना देती है । इसीलिए भक्त और संत कवियों ने धर्माडम्बरो धार्मिक रूढ़ियों और पाखण्डों का भरपूर विरोध किया । बाख ने आगे कहा कि इस स्थिति से मुक्त होने का एक ही रास्ता है कि दैविक तत्व फिर से मनुष्य में अधिष्ठित हों । अर्थात वह किसी ईश्वर के कर्म से नियंन्त्रित न हो बल्कि मनुष्य केन्द्रित धर्म और ईश्वर के द्वारा अपने " स्व " को प्राप्त करें । ब्रह्म ज्ञान का स्थान मानव ज्ञान ले ले । इसी स्थिति से मुक्ति पाने के लिए नीत्से ने ईश्वर की मृत्यु की घोषण कर दी थी ।

भक्ति साहित्य और दर्शन ने ईश्वर को मानवीय संदर्भ में प्रतिष्ठित कर दिया । यह वह साधना नहीं है जिसमें मनुष्य केवल ईश्वर तक पहुँच, बल्कि इसके द्वारा ईश्वर मानव रूप में अधिष्ठित होकर मानव की ही पुकार पर मानव के पास आ जाता है और मानव को उसका खोया हुआ कर्तृत्व प्राप्त हो जाता है । गिरिधर कृष्ण ब्रज के ग्वालों से कहता है कि मैं अकेला यह महान कार्य नहीं कर सकता तुम लोगों के सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका । एक लोक गीत पंक्ति दृष्टव्य हैं :-

थोरो देव सहारो
गिर न परै गोवर्धन भारौ ।

4.1.12. बुनो बॉयर :-

मार्क्स के शिक्षक " बुनो बॉयर " ने एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता का अनुभव किया था जो मानवीय संबंधों के सत्य को उजागर कर सके । इस संसार में कुछ यथास्थिति वादी वर्ग है जो संसार को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं । संसार के किसी परिवर्तन को अशुभ मानते हैं । ये लोग निर्णायक न बन कर सारे निर्णय परंपरा या समाज के आधार पर लेते हैं । दूसरी ओर उन प्रगति चेता लोगों का वर्ग है जो अपने कर्तृत्व के द्वारा समाज के संबंधों और अपने संबंधों में परिवर्तन लाते हैं । परंपरा ने जो आस्थाएँ मान्यताएँ दी उनका तर्कपूर्ण विवेचन और मूल्यांकन करना उनको अभीष्ट नहीं होता । यह आधुनिकता के विरोध में पड़ता है । हिन्दी भक्त कवियों ने परंपरा को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया उनकी आचार्य मानस ने पुर्नव्याख्या की और भक्त कवि ने उनको सृजन का सौन्दर्य प्रदान किया । हीगल ने यद्यपि दार्शनिक मोक्ष का खंडन करके कर्म का सिद्धांत दिया था और आश्चर्य की बात है कि ज्ञान और योग की साधनाओं से प्राप्त मोक्ष के प्रति कवि उदासीन है । उसका स्वर यह है कि " कहा करौ वैकुण्ठे जाय " और गोपियाँ उद्धव से कहती हैं --

" मुक्ति आनि मंदे में भील "

इन सूत्रों में परंपरा गत मोक्ष के प्रति अनिच्छा का भाव है । इनमें आधुनिकता के साथ साथ चलने की शक्ति है । एक प्रकार से भक्ति क्षेत्रीय आस्तिकता आधुनिकता का सूत्रपात ही करती है ।

4.1.13 मार्क्स :-

मार्क्सवादीनिरीश्वरवादी है । पूँजीपति वर्ग उसी प्रकार ईश्वर की भावना का भी शोषण करता है, जिस प्रकार धर्म का । ईश्वर सामान्य जन की पहुँच से बाहर होता जाता है । उसके साथ संबंध जोड़ने के लिए पुरोहित वर्ग मध्यस्थ बन जाता है । वह घोषित करता है कि ईश्वर जिस भाषा को समझता है, वह भाषा जन भाषा नहीं है, वह एक दिव्य भाषा है । उस भाषा पर पुरोहित वर्ग अपना आधिपत्य कर लेता है और उसके आधार पर ईश्वर का और जनता का भी शोषण करता है ।

भक्ति की व्यापक मानवीय भूमिका में ईश्वर भी मानव बन गया । वही रूप वही गुण, वही स्वभाव सामान्य मानव की भाँति वह मानव समाज में आ गया । उसके पास पहुँचने के लिए अब न किसी पुरोहित की आवश्यकता थी और न उससे संबंध जोड़ने के लिए किसी दिव्य भाषा की जरूरत थी । उच्च वर्ग ने उसकी प्रतिष्ठा मंदिर की देहरी को दुर्लंघ्य बना दिया । किसी भाव जीवी भक्त के लिए भगवान मंदिर तक सीमित नहीं है । साथ ही ऐसी किवंदंतियाँ भी प्रचलित हुई कि निम्न वर्ग के भक्त जब मंदिर में जाने से रोक दिये गये तो भगवान स्वयं बाहर आये रोकनेवालों के उस व्यवहार के प्रति असन्तोष प्रकट किया ।

भगवान को प्राप्त करने के लिए न ऐसी मूल्यवान सामग्री ही चाहिए जो एक धनी ही जुटा सकता है और न कोई ऐसा आचार, अनुष्ठान साधना ही, जो सामान्य जन के लिए शक्य नहीं है । सामग्री के नाम पर " पत्र पुष्पं फलं तोयं " पर्याप्त है और साधना के नाम पर प्रेम :

लोकहुं वेद सुसाईण रीति
विनय सुनत यह चानत प्रीति । ॥ मानस: बालकाण्ड ॥

4.1.14 कांट :-

आधुनिक युग के विख्यात नैतिक दार्शनिक काण्ट ने तीन मान्यताओं को आधारभूत रूप में स्वीकार किया, संकल्प का स्वातन्त्र्य आत्मा का अमरत्व और ईश्वर का अस्तित्व । इन तीनों आधारों को उसने नैतिकता की समग्र कल्पना के लिए आवश्यक माना । इन तीनों को उन्होंने व्यावहारिक जीवन के लिए भी आवश्यक माना । उनकी विचार धारा भारतीय विचार धारा से बहुत कुछ मिलती है । जब कर्मवाद स्वीकार किया जाता है तो काण्ट को यह आवश्यक लगता है कि हम एक ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी ईश्वर के अतिस्तत्व को स्वीकार करें जिसकी आज्ञा के अनुसार सबको कर्मों का फल मिलता है । ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किए बिना ही कर्म तथा उसकी प्राप्ति अथात धर्म तथा उससे संबंधित दण्ड की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता । चाहे ईश्वर संबंधी तत्वात्मक प्रमाणों को काण्ट स्वीकार न करते हों किन्तु वह नैतिक आवश्यकता को ईश्वर के अस्तित्व का एक मात्र प्रमाण मानता है ।

काण्ट का यह ईश्वर संबंधी दृष्टकोण ईसाई धर्म के दृष्टकोण से प्रभावित था । वे केवल व्यावहारिक आवश्यकता के लिए ईश्वर के व्यक्तिगत स्वरूप को मान्यता देते हैं । तत्व की अपेक्षा उपयोगिता, वास्तविकता की अपेक्षा व्यवहार और ईश्वर के अन्तर्यामी होने की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत स्वरूप पर और उसकी कार्यकुशलता पर काण्ट अधिक बल देते हैं । मनुष्य में उपस्थित होने के कारण उसकी प्राप्ति भी सहज मानी

गई है । इससे मनुष्य की श्रेष्ठता को आघात नहीं पहुँचता और ईश्वर उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन बन जाता है । इसके विपरीत वे मनुष्य को लक्ष्य मानते हैं । उनका कहना है कि मनुष्य को कभी भी साधन मत समझो, अपितु उसे स्वयं ही अपना लक्ष्य स्वीकार करो ।[1] इस प्रकार ईश्वर की परंपरा गत प्रतिष्ठा को उन्होंने गौण स्थान दिया । इसके विपरीत भारत में ईश्वर को भौतिक जगत का अव्यक्त कारण माना और ईश्वर को उसकी भौतिक अभिव्यक्ति कहा गया । फिर भी ईश्वर का अस्तित्व काण्ट को स्वीकार्य है । एक बात उल्लेखनीय है कि काण्ट ईश्वर को व्यावहारिक दृष्टि से सगुण और व्यक्तिगत मानता है ।

4.1.2 द्वन्द्व :-

संसार में सदा से नास्तिक, आस्तिक वर्ग और विचार धाराएँ चली आ रही हैं । भारत भी इसका अपवाद नहीं है । चार्वाक या लोकायत वेद और ईश्वर को नहीं मानते । कुछ सीमा तक बौद्ध धर्म और जैन धर्म में भी ऐसे विचार व्याप्त हैं । जो आस्तिक है वे भौतिकवादी जीवन दर्शन को लेकर चलते हैं । मिथकीय दृष्टि से असुर, दानव और राक्षस नामों से जो समूह पुकारे जाते थे उनको नास्तिक घोषित करने का प्रयत्न किया गया है और आस्तिक नास्तिक परंस्पर संघर्ष शील रहे । संभवतः शास्त्र युद्ध भी इनके बीच चले । जो आस्तिक हैं वे किसी भौतिकेतर, मानवेतर और पराप्राकृतिक सत्ता में विश्वास करते रए हैं । मनुष्य और परमानंदीय शक्ति के बीच संबंध की स्थापना एक समस्या रही है । ऐसी साधनाओं का विकास भी हुआ है जो मानव और अलौकिक सत्ता के बीच संबंध स्थापित कर सके । भारत में तीन प्रकार की साधनाएँ मान्य रही - कर्म, ज्ञान और उपासना । कुछ अन्तर के साथ इसकी

---

1. Never treat a man either in time in person or in that of others as a means but always as an end in himself.

पश्चिमी विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन : पृ. 65. : डा. ईश्वर चन्द्र जेल्ली

साधनाएँ संसार में सर्वत्र मिल सकती हैं । सामाजिक वर्गों के अनुसार भी साधनाओं का रूपान्तरण होता रहा और आस्तिकता को वर्ग हित तक सीमित करने का प्रयत्न भी होता रहा । एक पुरोहित वर्ग भी विकसित हुआ जो उच्च वर्गों के समान ही परोपजीवी और शोषक बन गया । ईश्वर तक पहुंचनें के लिए इस वर्ग ने अनेक पद्धतियों का आविष्कार भी किया जो प्रधानतः उच्च वर्गों तक ही सीमित रह गई ।

ईश्वर और धर्म के नाम पर आचार संहिताएँ भी बनीं और पुरोहित वर्ग इनका भी अधीक्षक और रक्षक बन बैठा । जैसे शोषण के लिए उसे एक और मार्ग मिल गया । इस प्रकार आस्तिकता का चरित्र वर्गीय बन गया और प्रतिक्रियाएँ आरंभ हो गई । आंदोलन, ईश्वर, उसकी प्राप्ति के साधन, पुरोहित वर्ग, आचार्य संहिता, सबके विरोध में हुआ । यह सब सारे संसार में ही हुआ और भारत उसका अपवाद नहीं । इस सारी व्यवस्था के प्रति जो आंदोलन हुए वे अपने समय में सभी आधुनिक माने गए और आज भी जो विचार धाराएँ रूढ़ आस्तिकता का विरोध करती जा रही हैं आधुनिक मानी जाती हैं । इस दृष्टि से आस्तिकता पर आधारित भक्ति आंदोलन आधुनिक नहीं ठहरता

आधुनिकता का संबंध आस्तिकता को हटाने से नहीं माना जाना चाहिए । बल्कि आधुनिकता वह भी है जो परंपराओं का आधुनिकी करण करे । एक क्रान्तिकारी रूपान्तरण के द्वारा उसके चरित्र और स्वरूप को भी बदल दे, यह भी आधुनिकता है । इसकी चर्चा कुछ आधुनिक विचारकों ने की है ।

विश्लेषण के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति आंदोलन मध्य काल में आधुनिकता का घोष लेकर आया और उसके साहित्य में इसकी अनुगूंज सुनाई पड़ रही है । आधुनिक सुधारवाद और पुनर्जागरण को इस आंदोलन से जोड़कर देखना कठिन बात नहीं ।

### 4·1·3 आस्तिकता का आधुनिक रूप :-

वर्गीय हित से जुड़ जानेवाली आस्तिकता को जनहित से जोड़ देना इसका आधुनिकीकरण ही है । इस आस्तिकता का प्रतिमान बना " लोक मंगल ", इसका साध्य है " मंगल-भवन ", इसका अभियान है अमंगलहारी होना । साध्य मानव रूप हो गया । उसकी नर लीला समाज की लड़ाई से जुड़ गई है । उसको प्रिय है - गरीब, दु:खी और खिन्न, " बंदौ सीता राम पद जिन्हही परमप्रिय खिन्न " इसके नाम हैं दीन बंधु, गरीब निवाज और पतित पावन । इस आस्तिकता की स्थापना एक आंदोलन ने की । इसकी परंपरा ई·पू· तक जाती है । यह आंदोलन सभी जातियों और सभी वर्गों को लेकर चला है और सभी का इसमें योगदान है । यह अपने चरित्र में एक राष्ट्रीय आंदोलन तथा सूफी और ईसाई मार्गीयों से प्रत्यक्ष अप-रोक्ष रूप में जुड़कर इसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय संभावनाएँ पैदा की हैं । बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की परिणतियाँ भी इसको विरासत में मिलीं । इसीलिए यह साध्य को जन-वादी और लोक ग्राह्य रूप दे सका । यह दूसरी बात है कि सामंतवादी वर्ग अपनी पुरानी मनोवृत्तिको लेकर मंदिर में घुस गया हो । यही भक्त और भक्ति साहित्य के साध्य का आधुनिककीकरण है ।

### 4·2 साध्य के विकास की स्थितियाँ :-

साध्य के विकास की दृष्टि से मुख्य रूप से दो स्थितियाँ सामने आती है - वैदिक और औपनिषदिक । भक्तिकालीन साध्य इन दोनों ही स्थितियों से संबंध रखता हैं । इन दोनों स्थितियों को सामने रखकर भक्ति साहित्य के साध्य पर विचार करना समीचीन होगा । वैदिक देववाद की भी दो स्थितियाँ है, पहली स्थिति में इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि की भी प्रधानता थी । दूसरी स्थिति में विष्णु की प्रधानता हो गई ।

आधुनिकता परंपरा का विलोम नहीं है । परंपरा आधुनिक मानस के लिए वह सामग्री प्रस्तुत करती है जिसमें से वह सजग सचेतन चुनाव करता है और यह भी देखा जाता है कि आधुनिक अर्थों और अभिप्रायों को वहन करने की शक्ति किन परंपराओं में है । वे परंपराएँ आधुनिक जीवन के लिए उपजीव्य हो सकती हैं । परंपराएँ और उनसे संबंधित मिथक कवि और ग्राहक के नये संबंधों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं ।

भक्ति साहित्य का साध्य किसी बंधे बंधाए साँचे में ढला हुआ नहीं । जो प्रगति शील विचार प्रतीक और विचार धाराएँ आती गई और जिन्हें तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में आधुनिक कहा जा सकता है, उनका योगदान भक्ति के साध्य की रचना में हुआ । इस संदर्भ में आधुनिक वह कही जाएगी जो परंपरा से चले आए हुए तत्व के परवर्ती रूपों को नया संस्कार देती है और आधुनिक अर्थों के अनुरूप उसकी क्षमताओं की तलाश करती है । वैदिक कालीन देवमण्डल विविध था और विविधता में एक सूत्र भी न्यस्त था ।उसके प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण था जो लोकजीवन से देवताओं को जोड़ता था । इस देवमण्डल के प्रति औपनिषदिक ब्रह्मवाद की प्रतिक्रिया हुई । पुराणवाद ने इन सभी पूर्व सूत्रों का संक्रमण एक केन्द्र पर कर दिया और पीछे उसका भावात्मक विकेन्द्रीकरण भी हुआ । भक्ति साहित्य के साध्य में यह सब एक नए चरित्र और प्रतीकत्व के साथ उपस्थित हैं ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति साहित्य के साध्य की प्रकृति संयोजनात्मक, गत्यात्मक और समन्वयात्मक रही है ।

## 2·1 वैदिक स्थिति :-

वैदिक देवताओं को देखने से यह प्रतीत होता है कि उन का संबंध आरंभ में प्रकृति से था । प्रकृति का विस्तार भूलोक, देवलोक और आकाश सभी जगह है । ऋषि अपने जीवन पर प्रकृति के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के प्रभावों को व्यक्त करता है । प्रकृति की विभिन्न घटनाओं और घटकों पर दिव्यता का आरोप करके

अपने जीवन के साथ उनका रागात्मक संबंध भी स्थापित करता हैं । साथ ही समाज - वादी दृष्टि से समाज का मूल ढांचा अर्थ और तत्संबंधी क्रिया कलापों पर निर्भर रहता हैं । संस्कृति भी इसी मूल संरचना के आधार पर विकसित होती है । परंपराएँ और मिथक भी इसी संस्कृति के वाहक बनते हैं । वैदिक देवताओं के प्रमुख इन्द्र हो जाते हैं । इन्द्र के संबंध में जितनी स्तुतियाँ वैदिक साहित्य में मिलती हैं उतनी और किसी देवता के संबंध में नहीं मिलतीं ।

वैदिक युग में देवता की व्याख्या भी भौतिक संस्कृति के संदर्भ में की जाती थी । इन्द्र इसलिए महान देवता था कि वह अपनी जाति के लाभ के लिए दूसरों के गोत्र लूट लेता था ।[1] इस संदर्भ में भी गोत्र शब्द का प्रयोग हुआ है । इन्द्र वैदिक जनों का नेता और सेनानायक था । इन्द्र का यह रूप पशुपालन और अर्थ व्यवस्था की उन्नति का प्रतीक हैं । संभवतः इन्द्र से पहले यह स्थान वरूण को मिला था । वरूण का संबंध जल की शक्ति से भी था । पीछे इन्द्र वर्षा का देवता हो गया । अन्य आदिम जातियों में भी वरूण की कोटि के देवता हैं ।[2]

**(क) इन्द्रप्रधान**

**4.2.11 वैदिक देववाद :**

देवता दो प्रकार के माने गये है : प्राणवान और प्राणरहित । इन्द्र, वरूण, विष्णु अश्विनी कुमार आदि प्राणवान देवता है । प्राणहीन देवताओं में अग्नि, वायु आदि आते हैं ।[3] निरूक्त में स्थान के अनुसार देवताओं के तीन वर्ग किए गए

---

1. ऋग्वेद : 3. 36. 4, 3. 43. 7
2. ई. आर. ई. 4. 707.
3. मनु स्मृति : मेघातिथि भाष्य, पृ. 29.

हैं, पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय । पृथ्वी स्थानीय देवताओं में अग्नि का सर्व श्रेष्ठ स्थान है । इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में आते है । द्युस्थानीय देवों में सूर्य और विष्णु प्रमुख हैं । [1]

देवताओं के राजा इन्द्र हैं । इन्द्र भी कई हो चुके हैं, विश्व भुज, भूतकावन, शिवि, शान्ति देवराज आदि । [2] इन्द्र का संघर्ष असुरों से रहता था असुरों को मारकर इन्द्र ने अपने राज्य को निष्कंटक बनाया था । [3] असुरों के नगरों का भी इन्द्र ने विध्वंस किया ।[4] इसीलिए इन्द्र का एक नाम " दस्यु हन्ता " भी है । असुरों और दस्युओं का विनाश करके ही इन्द्र अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी का राजा हुआ । विजयी इन्द्र के गौरव और ऐश्वर्य का पता उसके इन नामों से चलता है - विश्वजित, धनंजित, स्वर्णजित, नृजित, उर्वराजित, अश्वजित, गोजित, जलजित, इन्द्र स्तुतियों में कहा गया है कि इसके अधिकार में घोड़े, गायें, ग्राम तथा रथ थे । [5]

जहाँ इन्द्र की वीरता कथन करनेवाली स्तुतियाँ हैं, वहाँ उसके विलास के चित्र भी मिलते हैं । अप्सराएँ तथा गंधर्व संगीत, नृत्य, वाद्य, और विविध हास्यों के द्वारा इन्द्र का मनोरंजन करती थी । [6] अनेक वस्त्राभूषणों से देव सुसज्जित रहते थे । इन्द्र की अंग सज्जा का वर्णन किया गया है । इन्द्र के मस्तक पर किरीट, भुजाओं में लालरंग के बावजूद स्वच्छ वस्त्र तथा कंठ में विचित्र मालाएँ रहती थीं । [7]

---

1. आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ॰ 47-48। ऋ॰वेद, 1॰139॰17 अनुसार इन देवों की संख्या 33 है । प्रत्येक स्थान से संबधित ग्यारह देवता है । ऋ॰ [3॰9॰9] मे ही पीछे संख्या 3339 कही गई है । पुराणों में तैंतीस करोड तक संख्या पहुँच गई है । पद्म पुराण उत्तर खण्ड5,9 शतपथ ब्राम्हण, 11, 6, 35 के अनुसार तैंतीस के नाम में है, वसु =8, * रूद्र = 11 + आदित्य = 12 + इन्द्र = 1, + प्रजापति * 1 = 33॰
2. प्राचीन भारतीय परंपरा का इतिहास, पृ॰ 64॰
3. वृष, बल, शुष्ण, अहि, शंबर, रोहिण आदि पर इन्द्र में विजय प्राप्त की थी । ऋ॰ 1॰52॰2, 1॰11॰5, 1॰11-7, 2-12-12, 2॰12, 1-32-1॰
4. ऋ॰ 1॰52॰13॰ शैव परंपरा में भी त्रिपुर दर्शन का अभिप्राय मिलता है ।
5. ऋ॰ 2॰12॰7 6॰ महाभारत, सभा पर्व, 8॰32
7. महा॰सभा 7॰5॰

देवों के भोजन, विलास का वर्णन भी मिलता है । शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार की सामग्री का सेवन देव लोग करते थे । एक स्थान पर इन्द्र कहता हुआ मिलता है कि मेरे लिए बीस बैल मारो, उनको खाकर मैं पुष्ट हूंगा । इन्द्र सोमपान का विशेष प्रेमी था । देवांगनाएँ भी देवों के साथ सोमपान करती थी ।[2] इस संदर्भ में इंद्राणी का उल्लेख भी हुआ है ।[3] सोम के साथ सुरापान भी चलता था ।

देवता लोग नारी विलास में भी डूबे रहते थे । उनके साथ अनेक देवांग-नाएँ रहती थीं । इन्द्र की अनेक पत्नियों का उल्लेख मिलता है । इनमें पृथ्वी, अनुमती, शंका, शची, उर्वरी आदि 24 पत्नियाँ मुख्य थीं ।[4] इन्द्र अनेक अप्सराओं एवं देवांगनाओं से घिरा रहता था ।[5]

इन्द्र असुरों से विजय प्राप्त करने के बाद देवों के सम्राट हो गए ।[6] सत्ता एवं शक्ति का मद भी इन्द्र को चढ़ा । वह स्वयं को भी मनु, सूर्य, ऋषि, विप्र, शुक्राचार्य, भूमि - जल वृष्टि आदि कहने लगा ।[7] इन्द्र का आत्म स्तुति परक सूक्त भी मिलता है ।[8] इस प्रकार इन्द्र बहुत अहंवादी हो गया । देवताओं का विभा-जन भी हुआ । कुछ वरूण के अनुयायी हो गए और कुछ इन्द्र के ।

---

1. नर. 17. 86. 14.
2. महाभारत. सभा पर्व. 3.6.9
3. - वही - 1.22.12.
4. वृहद्देवता 1.1.28. 129.
5. महाभारत ( सभा पर्व ) 7. 24.
6. ऋग्वेद. 1.99. 1.
7. - वही - 4. 26 - 1-2.
8. - वही - 10. 48.

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि इन्द्र में जहाँ उत्कर्ष की संभावनाएँ थीं वहीं उसके पतन की संभावनाँ भी कम नहीं थीं । उसके विलास का वर्णन एक प्रकार से सामंत वर्ग की जीवन चर्या से मिलता हैं । यह संभावना दृढ़ अवश्य होने लगी कि इन्द्र के प्रति दृष्टि बदल रही है । किन्तु आरंभ में इन्द्र को वीर रूप में या युद्ध के देवता के रूप में देखा गया । जहाँ उसने दस्युओं और असुरों का विनाश किया वहाँ अनेक वन्य देवताओं या जन जातीय देवताओं से भी संघर्ष हुआ उन पर उसने विजय प्राप्त की ।

इन्द्र को संघर्ष उन जातियों के देवों से भी करना पड़ा । ये आर्येतर जातियाँ थीं । ये नदियों के पूजक थे ।[1] कुछ इनमें से आश्वत्थ वृक्ष के पूजक थे ।[2] बहुत से दैत्य जिन से इन्द्र ने युद्ध किया था, वन्य जातियों के देवता थे । इनमें वृक्ष एवं सर्प मुख्य रूप से आते हैं ।[3] कृष्ण भी इन्द्र का शत्रु था । वह वन्य जातियों का देवता स्वरूप वीर नायक था ।[4] द्वन्द्व का भाव यह है, फुर्तीला कृष्ण अंशुमती ﴾यमुना﴿ के किनारे अपनी इस सहस्त्र सेनाओं के साथ रहता था । इन्द्र ने अपनी बुद्धि से ऊँचे स्वर में चीत्कार करने वाले इस नायक का पता लगाया । उसने हमारे लाभ के लिए इस लूटमार करने वाले शत्रुका विनाश किया ।[5] परवर्ती कृष्ण वार्ता के इस सूत्र का स्थान बना । पौराणिक परंपरा में इन्द्र-कृष्ण द्वन्द्व का अनेक विध विस्तार हुआ । यह हो सकता है कि कृष्ण जो चरवाहों की जाति का देवता है और जिसे ऋग्वेद काल में इन्द्र ने परास्त किया था, भगवद् गीता काल में उसने अपनी खोई हुई भूमि फिर से प्राप्त कर ली हो और भगवतों के वासुदेव और वैष्णवों के विष्णु के रूप में फिर से अत्यधिक बल प्राप्त कर लिया हो । इस विविध प्रकार के उद्भव एवं इतिहास ने उसे गीता

---

1. ऋ. 10 - 9 - 1 - 3.
2. - वही - 1. - 135 - 8.
3. - वही - 9. 33. 2., 9.29.9
4. डा.राधा कृष्णन, भारतीय दर्शन पृ. 78.
5. ऋ. 8 -85-13-15.

के रचयिता एवं परब्रह्म के अवतार और यमुना के किनारे बंसी बजानेवाले ग्वाले का रूप दिया ।[1] आगे चलकर कृष्णोपासक इन्द्रोपासकों से उच्चतर बन गए । इस संबंध में भगिनी निवेदिता का मत दृष्टव्य है - कृष्ण कालिय सर्प का दमन करता है और अपने पांव का चिन्ह उसके सिरपर अंकित कर देता है । यहाँ भी वही संघर्ष है जो नागेश्वर शिव के व्यक्तित्व में मिलता है - अर्थात् नये भक्ति परक विश्वास एवं पुराने परंपरागत सर्प पूजा के बीच संघर्ष । कृष्ण ग्वालों को प्रेरणा देता है कि वे इन्द्र की पूजा छोड़ दें । यहाँ वह उन पुराने देवताओं से ऊपर उठने को कहता है ।[2]

4.2.13 वरुण :-

वरुण आकाश का देवता है । इसकी व्युत्पत्ति " वर " धातु से हुई है । इसका अर्थ है घेरना, ढकलेना या पूर्ण करना । वह एक लम्बे चौड़े से समस्त जीव जन्तुओं को उनके निवास स्थानों सहित आच्छादित करता है ।[3] वेदों का सदाचारी देवता है । वह समस्त विश्व की नैतिक व्यवस्था का निरीक्षण करता है । एक ओर तो पापियों को दंड देता है, दूसरी ओर प्रार्थना करने पर वह उनको क्षमा भी कर देता है । वह दृढ संकल्पवाला है । वह परम ईश्वर और देवों का देवता है । वह अपराधियों के लिए कठोर और पश्चाताप करनेवालों के लिए दयालु है । अपने दयालु स्वभाव के कारण ही वह अपराधियों को भी क्षमा कर देता है । वह पापी के प्रति भी कृपालु है ।[4] वरुण से संबंधित प्रायः सभी सूक्तों में हम पापों के लिए

---

1. डा. राधाकृष्ण, भारतीय दर्शन, पृ. 79.
2. पुट काल्स आफइण्डियन हिस्ट्री पृ. 212 ( अनुवाद )
3. ऋग्वेद 8. 41.
4. ऋग्वेद 7. 87. 7.

क्षमा की प्रार्थना ही पाते हैं । अपराधों की स्वीकृति और पश्चाताप करने वालों को वह क्षमा करता है । वैष्णव भक्त की भावना और विश्वास भी इसी प्रकार का है " ....." अर्थ जाति के कविगण पाप की बोझ के भाव एवं उससे छुटकारा पाने की प्रार्थना से अभिज्ञ थे । वैष्णवों एवं भागवतों को अतिक्य क्षम्य जिसमें भक्ति पर बल दिया गया है, वैदिक वरुण की पूजा का ही रूप प्रतीत होता है, जिसमें पाप संबंधी ज्ञान एवं उसके लिए दैवीय क्षमा पर विश्वास प्रकट किया गया है ।"[2] मित्र और वरुण संयुक्त रूप से ऋत के संरक्षक है और पाप को क्षमा करने वाले हैं । वरुण और मित्र को आदित्य भी कहा जाता है ।

## (ख) विष्णु प्रधान :

### 2·14 वैदिक विष्णु :

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक देवमंडल में प्रमुख स्थान इन्द्र, अग्नि और वरुण का था । इनका सामाजिक संदर्भ भी स्तोत्य था और इनका भौतिक समृद्धि हेतु आह्वान भी किया जाता था । किन्तु कुछ ऐसे कारण भी घटित हुए जिनके कारण इन्द्र का संक्रमण विष्णु में हो गया । इन्द्र में जितने गुण और क्षमताएँ थीं वे सब विष्णु में रूपांतरित हो गईं । इन्द्र विष्णु हो गई । इन्द्र विष्णु प्रतियोगिता में विष्णु विजयी हो गया और इन्द्र निस्तेज । इस सूत्र पर इसीलिए विचार करना आवश्यक है कि विष्णु अधिकांश वैष्णव साहित्य का साध्य है ।

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है । कीथ के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति विश धातु से हुई है ।[3] इसका अर्थ है सक्रिया होना । यह व्युत्पत्ति अधिक मान्य रही । यह एक ओर देवता के रूप में मान्य है ।[4] विष्णु को अलग से

---

1· प्यारे, ओरियंटल संस्कृत टेक्स्ट्स, खंड - 5 पृ·, 64, अथर्व· 4·16-1-5·

2· डा·राधा कृष्णन, भारतीय दर्शन, पृ· 70·

3· रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेदा, पृ· 109·

4· ललता प्रसाद पाण्डे सन् वरशिप इन एश्येंट इंडिया पृ· 16-17·

बहुत कम स्तुतियाँ निवेदित हुई है । अन्य देवों के साथ वह स्तुत्य बना है ।

विष्णु का प्रमुख नाम त्रिविक्रम मिलता है । इस विशेषण से स्मरणीय घटना है तीन पाद विक्षेपों से समग्र ब्रह्माण्ड ( तीन लोक ) को नापना ।[1] विष्णु के इस पराक्रम का वर्णन बड़े सबल शब्दों में किया गया है ।[2] पहले वैदिक साहित्य में अग्नि, इन्द्र, वरूण का महत्वपूर्ण स्थान था । कालान्तर में इन्द्र का स्थान विष्णु को प्राप्त हुआ । वे वीर्यवान और शक्तिशाली बन गए । वैदिक साहित्य में विष्णु के तीन कार्यों का उल्लेख मिलता है - पृथ्वी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण, ऊर्ध्व लोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाना और तीन डगों में विश्व को नापना ।[3] अंतिम रूप त्रिविक्रम का है । विष्णु का संबंध गायों से जोड़ा गया - विष्णु गोपा अदाभ्य: ।"[4] पुराण काल तक आते आते विष्णुका महत्व सर्वाधिक हो गया । विष्णु का एक वैदिक विशेषण " उरुगाय " है - विस्तृत डग रखने वाला । एक और विशेषण है - एमा, या एयावन ( गति से पूर्ण ) इस प्रकार के अन्य विशेषण भी विष्णु के मिलते हैं, जिनसे उसकी गति, और क्रिया प्रकट होती है ।

विष्णु को युवा, विशाल शरीरवाला तथा अनेक रूप धारण करने वाला भी कहा गया है ।[5] उसको एक भयावह, उद्धत वन्य पशु भी कहा गया है । विष्णु के अनेक वीर कार्यों का उल्लेख भी हुआ है । वह आनंद दायक है, वह रक्षक-पोषक है, वह अन्न पूर्ण है - और अनेक प्रकार से प्राप्य है ।[6] किन्तु उसके दो पराक्रम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं - उसने वृत्रविनाश में इन्द्र की सहायता की और उसने तीन डग भरे ।

---

1. विष्णु के इस पराक्रम का वर्णन ऋग्वेद2/154 में हुआ है ।
2. इदं विष्णु र्विचक्र में त्रेधा निदेधे पदम ( समूढस्य पांसुरे ) ऋ. 1.21.17.
3. डा.बलदेव उपाध्याय, भागवत संप्रदाय, पृ. 78.
4. ऋ . 1.22. 18.
5. ऋ . 1. 22. 16 - 6.
6. ऋ . 1. 21. - 17- 1.

4.2. 141 वीर इन्द्र से वीर विष्णु :

वैदिक विष्णु की स्थीति युद्ध स्थल में भी है ।[1] प्रकृतित: विष्णु योद्धा नहीं है, फिर भी इनके अनेक वीरता पूर्ण कार्यों की ओर संकेत मिलता है । "वीर्याणि" शब्द से इन्हीं कार्यों की सूचना मिलती है । उनके वीर कार्यों का संबद्ध विशेष रूप से त्रिविक्रम से है । इनकी प्रशस्ति भी गाई गई है ।[2] विष्णु के पौंस्य का भी आवाहन किया गया है ।[3] त्रिपद विन्यास करते हुए विष्णु को "नर्म" कहा गया है ।[4] वीर्येर वीरात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग विष्णु के लिए हुआ है ।[5]

वैदिक साहित्य में विष्णु का त्रिविक्रम रूप वीरता की दृष्टि से बहुत भास्वर है । वह अपने तीन पदों से त्रिलोक को नाप लेता है ।[6] यह विष्णु की त्रिलोक विजय ही है ।[7] विष्णु पद सबको क्रान्त करने वाले हैं ।[8] विष्णु तीनों लोकों में भ्रमण करता है ।[9] यही विष्णु के वामनावतार का बीज है ।

त्रिपाद भ्रमण का उद्देश्य आर्तों का कल्याण और उद्धार कहा गया है ।[10] विष्णु की इस त्रिविक्रम क्रिया से अशुभ-प्रभावों और नृशंसता की समाप्ति होती है ।[11]

---

1. ऋग्वेद 7. 10 - 6.
2. ऋ . 1. 154 - 2. ऋ 1.22.19. अथर्व 7.26.2.7. 26.8.
3. ऋ . 1. 155. 4.
4. - वही - 7. 100. 1.
5. अथर्व 7. 29. 1.
6. ऐतरेय ब्राम्हण. 9. 15.11.
7. मैक्डॉनल, वैदिक माइथालाजी, पृ. 37.
8. शतपथ ब्राम्हण 5.4.2.6
9. महा. 12. 227. 8
10. ऋग्वेद. 7.49.13.
11. तैत्तिरीय ब्राम्हण संहिता 1-6-5-2, 4.2.11, 5-2-1.1. 7.6.4

विष्णु की वीरता को जन कल्याण का संदर्भ प्रदान किया गया है । वह प्रताड़ित जन के लिए डग भरता है ।[1] विष्णु की दयालुता इन्द्र से भी बढ़कर है ।[2] इस दयालुता के कारण ही विष्णु की वीरता रक्षक-पालक अभिप्रायों से उत्तेजित होती है । वह गोपा है ।[3] वह यज्ञ रक्षक है ।[4] वह गर्भ रक्षक है ।[5] पौराणिक साहित्य में इन्ही उद्देश्य से प्रेरित वीरता और तत्संबंधी कार्यों का विस्तार है । वह भक्त और संतों की सुरक्षा के लिए रूप धारण करता है ।[6] वह धर्म रक्षक है । ब्रंह्माण्ड में उसी की शक्ति का संचार है ।[7] जो कुछ विश्व में है, वह विष्णु की ऊर्जा की अभिव्यक्ति है ।[8] विष्णु अप्रतिहत और अपराजेय है । विष्णु का संक्रमण कृष्ण में हुआ और वीर कृष्ण की वैदिक पृष्ठ भूमि सवाक् हो उठी ।

2·142 सूर्य से विष्णु :

सूर्य देव संसार को प्रकाश देता है । मानव मन में सूर्य के प्रति पूजा भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है । प्लेटों ने अपने " रिपब्लिक " में सूर्य पूजा को आदर्श बताया है । उनके अनुसार सूर्य धर्म का प्रतीक है । फारस में सूर्य पूजा का विधान मिलता है । वह संसार के जीवन का कर्ता है । वह जड़-चेतन का जीवन है । वह सर्व दृष्टा है । ऊपर से सारे जगत का पर्यवेक्षण करता है । वह मनुष्यों को अपने कर्मों

---

1· ऋग्वेद, 6·49· 13, 7· 100, 4·
2· – वही – 1· 156· 5·
3· ऋ · 3·55·10·
4· ऐतरेय ब्रा· 3·38·3·
5· ऋ · 7·36· 9·
6· महा· 12·47· 88· § शक्ति = विक्रम §
7· ब्राह्मण पुराण 2·3·121 वायु पुराण, 66–140, भगवद् गीता 10·41·
8· ऋ · 6·49· 13·

में प्रवत्त होने के लिए जगाता है । वह अच्छे बुरे कर्मों का साक्षी है ।[1] वह जगत का शासक और रचयिता है । सवितृ भी उसी का एक रूप है ।[2] पापी लोग अपने पाप के मार्जन के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं, जो भी अपराध हमने स्वर्ग के देवताओं के प्रति किया है, विचार की निर्बलता के कारण अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण अथवा गर्व के कारण अथवा मनुष्य स्वभाव के कारण है सविता हमसे उस पाप को दूर करो ।[3] मंगल के लिए भी उससे प्रार्थना की जाती है : हे सविता, सबके सृष्टा, बाधाओं को दूर करके, हमें जो कुछ कल्याणकारी है उसकी प्राप्ति कराओ ।[4] विष्णु में सूर्य के गुणों का संक्रमण हुआ । विष्णु पृथ्वी द्युलोक और अन्यान्य ऊँचे लोकों को आच्छादित करता है । प्रार्थना की जाती है, हे विष्णु हम इस पृथ्वी से तेरे दो ही लोकों को जान सकते हैं, किन्तु तेरा अपना जो सबसे ऊँचा स्थान है उसे केवल तू ही जान सकता है ।[5]

2·143· यज्ञ : विष्णु :

ब्राह्मण साहित्य में यज्ञानुष्ठान सर्व प्रमुख है ।[6] साथ ही विष्णु की कल्पना यज्ञ के रूप में बनी और यज्ञकर्ता को विष्णु रूप माना गया ।[7] दूसरी ओर ब्राह्मण साहित्य में सृष्टि कार्य से संबद्ध ब्रह्मा - प्रजा - पति को भी महत्व दिया

---

1· ऋग्वेद 7· 8
2· - वही - 7·8·3·
3· - वही - 4·54·3·
4· राधा कृष्णन, भारतीय दर्शन, पृ· 73·
5· ऋ · 1·22· 18·, 7·59· 1-2·
6· शतपथ 14 / 3 / 2 / 1, 1/x/1/22 : बाजसनेयीसंहिता 33/32·
7· शतपथ 3/2/1/17, बाजसनेयी, 4/10·

गया । [1] महाभारत में भी ब्रम्हा को सृष्टि से संबंधित अवयवों का देव कहा गया है । [2] इसी से सभी की उत्पत्ति हुई है । [3] इस क्रम में ब्रह्मा का ही प्रतिरूप यज्ञ माना गया । [4] ब्रह्मा और विष्णु के गुणों में साम्य है ।.[5] इन सूत्रों से ब्रह्मा के निस्तेज होकर कृष्ण में संक्रमित हो जाने के संकेत मिलते हैं । वैदिक साहित्य में प्रजापति और विष्णु का संबंध भी मिलता है । [6] वराह और कूर्म के रूप में प्रजापति के प्रकट होने का उल्लेख भी मिलता है । [7] इस प्रकार अवतार कल्पना में भी विष्णु और प्रजापति ( = ब्रह्मा ) साथ-साथ मिलते हैं । आगे चलकर यज्ञ और अवतार कल्पनाओं में ब्रह्मा का स्थान कृष्ण ने लिया । महाभारत ने इस संक्रमण का उल्लेख किया है । [8] प्रतिस्पर्धा भी मिलती है ।

विष्णु यज्ञ रूप ही नहीं उसका रक्षक भी है । अवैध यज्ञों से वह रक्षा करता है । [9] असुर शक्तियों से यज्ञ रक्षा भी एक प्रमुख वैष्णव अभिप्राय बन गया है । [10] विष्णु परक मन्त्रों वैष्णव यज्ञों के महत्व में भी वृद्धि होती गई । [11] आगे विष्णु का महत्व यज्ञ के ऊपर भी स्थापित किया गया जो यज्ञ से भी संभव नहीं है, वह विष्णु के द्वारा संभव है । [12]

---

1. शतपथ 8 / 4 / 3 / 20, 5 / 1 / 3 / 9.
2. महाभारत, 12/3X3/3, 141/42/27
3. शतपथ, 10/4/2/2.
4. - वही - 11 / 1 / 8 / 3.
5. जे. गोर पृ. 78.
6. मैक्डानल, वैदिक माइथोलजी पृ. 138. ऋ. 10/184/1 तैत्तरीय. 5/6/9. शतपथ, 6/2/3
7. जे.गोर. पृ.78. 8. जे.गोंव पृ. 78.
9. तैतरीय, 1/1/3, शतपथ 4/2/2/10. 10. तैत्तरीय 6/2/9/2.
11. तैत्तरीय 1/7/4/4. 12. पंच विंश ब्रा. 13/5/5 यहाँ पर ब्रह्म और यज्ञ संबंधी सूत्रों का आधार देना भी समीचीन ही होगा जो प्रमुखत: ब्रह्मा वत्स हरण प्रसंग और यज्ञ पत्नी प्रसंग से जुड़ता है ।

## 2·144 : इन्द्र : विष्णु : ( लक्ष्मीपति ) :

अनेक प्राकृतिक शक्तियों के अधिपति होने के कारण इन्द्र, विष्णु और कृष्ण " बहुप्रिया " प्रतीक में ढलते गये । जब रूपक ने स्त्री पुरूष रूप धारण करना आरंभ किया, तब संभावित एक निष्ठता का आग्रह समाज संदर्भ में जगा । सभी शक्तियों को " श्री " ( लक्ष्मी ) में प्रतीकायित कर दिया गया ।

वेद में कई देवियों की स्तुतियाँ भी है ।[1] इला = दूध, नवनीत आदि की देवी, भारती, सरस्वती ( = नदी देवी " आदि देवियाँ है । " श्री "का सामान्य अर्थ था - " सम्पदा । " देवी-देवता " श्री " के निवास भी है और वे श्रीदान भी करते है ।[2] श्री शब्द से चमत्कार शक्ति ओज जैसे अर्थ श्री सम्बद्ध हो गए ।[3] शुभ और सुन्दर भी श्री से द्योतित होता है ।[4] पैतृक सम्पत्ति ( = रेक्नस ) राधस, वसु ( सम्पत्ति ) रति = आनन्द ) जैसे उदात्त अर्थों से भी वह शब्द गर्भित हुआ है ।[5] वाद्य, दीप्ति, भव्यता, सुन्दरता, महिमा जैसे अर्थ प्रबल होने लगें ।[6] श्री देवी बन गई जो " सम्पद " का दान करती है ।[7] दूसरी ओर सौन्दर्यपरक अर्थ प्रमुख होने लगा ।[8] श्री देवी के संबंध में स्तुतियाँ भी रची गयीं ।[9] दिव्य शक्ति का प्रकट रूप ही " श्री " बन गई ।[10] शिव और सुन्दर से सम्बन्धित दिव्य शक्तियों की अभिव्यक्ति ही " श्री " हो गई ।

---

1· ऋ · 1/188/8·

2· सरस्वती समृद्धिदान करती है ( मैक्डानल वैदिक माइथालॉजी पृ· 83 ) अग्नि श्रीदान करती है । ( श्रीणाम् उदारो धरूणों रयीणाम् ( ऋ·10/45/5 ) 5 पर्वू और श्री का संबंध है ( श्री 6/48/19 ) आश्विन + श्री ( ऋ·1/139/5) सोम + श्री ( वही 9/94/4 )

3· ऋ · 1/166 / 101 5/57/6·

4· ऋ · 7/72/1·

5· - वही - 5/61/12, 7/15/5·

6· ऋ · 1/46/14,4/24/2, 5/28/4/6/66/4·

7· मैक्डानल, वैदिक माइथालीजी पृ· 48·

8· ऋ · 4/10/5,8/7/25,10/110/16·

9· ऋ · 4 / 36 / 7·

10· श्री शब्द जिन स्तुतियों में आया है, वहाँ " श्री " धातु सेव्युतपन्न शब्द आये है । इससे प्रकट-प्रकाशित होने का भाव सिद्ध है । ( ऋ·7/15/5,2/11/12,1/122/2) ।·

अथर्ववेद तक आते-आते श्री का अर्थ विकास भौतिक या लौकिक समृद्धि तथा ऐश्वर्य तक हो गया, श्री = भूति ।[1] अनेक शक्ति सारों[2] के साथ इस शब्द का प्रयोग मिलता है ।

इस प्रकार एक व्यापक प्रतीक बना । अनेकत्व एकत्व में समाविष्ट हो गया । इस प्रतीक की सीमाओं में व्यापकता को बांधने का प्रयास हुआ । व्यापकता की अभिव्यक्ति इस तालिका से होती है ।

श्री = अन्न,[3] श्री = दूध[4] श्री = रस[5] श्री = पशुधन[6] श्री = संतति[7] श्री = पत्नी[8] श्री = सोम[9] श्री - पृथ्वी[10] श्री = समृद्धि[11] सम्पत्ति, श्री=वर्षा[12]

---

1• अथर्व 12 / 1 / 63

2• ऊर्ज {पौष्टिक भोजन} आज्य {= या घृत} बल, वर्चस् {लस्टर} भूति, वानिज, आदि {अथर्व, 10/6/17} दुग्ध, रस, स्फाति, पुजा, पशु, कीर्ति, यश तथा संविद के साथ भी {वही• 9/6/36} ।

3• शतपथ 1-2-2-3, झन्न विधान ब्र• 3-2-6 जैमनीय ब्र• 1-117, गोपथ• 1-5-41

4• शतपथ• 12-7-3, 13,8-1-20•

5• शतपथ• 6-1-1-4,• 9-2-3-51,5-5-3-1,6, ऐतरीय 8-5-4, शतपथ 2-6-3-2•

6• श्री = गाय {शतपथ 1-8-1-36} श्री गाय, घोंडा {ऐतरेय आरण्यक 5-1-3} श्री = लोमश {तैत्तरीय उपनिषद = मोनियर विलियम्स, सं•इग. डिक्श}

7• शतपथ• 12-4-1-12•

8• अश्वमेध से पूर्व घोडे का लेपन यज्ञकर्ता की पत्नियाँ भी करती थी, क्योंकि वे श्री के रूप हैं । शपतथ, 13-2-6-7•

9• शतपथ• 4/1/3/9•

10• शतपथ 11/1/6/23•

11• शतपथ 1/4/36•

12• शतपथ 1•

श्री = उर्जा [1] श्री = राष्ट्र [2] श्री = यश [3] श्री = वाणी [4] श्री = वीणा-ध्वनि [5] ।

इस प्रकार ब्राह्मण आरण्यक साहित्य ने जो कुछ शुभ, सुन्दर, शक्ति शाली और वांछनीय है, उसके प्रतीक रूप में श्री की प्रतिष्ठा कर दी । अनेकत्व का समाहार भारतीय मेधा एकत्व में करती आई है । वही प्रक्रिया श्री के प्रतीकायन में घटित हुई है ।

आगे के विकास में लक्ष्मी सौभाग्य समृद्धि और सौन्दर्य की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी ।[6] श्री सूक्त की देवी " आर्द्रा "[7] गंध द्वारा ( = सुगन्ध के द्वाराबोध गम्य ) और नित्य पुष्ट हैं । उसका संबंध कमल से है और वह हाथियों की चिंघाड से प्रसन्न होती है ।[8] यह देवी सभी प्रकार की समृद्धि का दान करती है । यह आनन्द स्वरूपिणी और देवों की भी देवी है ।[9] इसका आह्वान कमल या स्वर्ण में किया जाता है ।[10]

---

1· शतपथ 12-4-1-11 जैमनीय ब्राह· 1-177·
2· शतपथ 9-7-3-7, 13-2-9-1·
3· शतपथ 2-3-2-11. में दोनों साथ-साथ उल्लिखित हैं ।
4· जे· गोंद· पृ· 186·
5· शतपथ 13-1-5-1, तैत्तिरीय ब्रा· 3-9-14-1·
6· Dowson, A class. dict. of Hindu Mythology (London 1928) P.176.
7· इससे सघता, हरीतिमा, सजीवताका द्योतन होता है । गंध द्वारा " में " पृथ्वी का प्रतिकत्व है ।
8· श्री सूक्त, 17। हाथियों की चिंघाड़ को कड़कते बादलों का प्रतीक माना जाता है ।
9· - वही - 28·
10· ऋग· विधान, 2/17/6·

संभवत: पहले श्री और लक्ष्मी [1] अलग-अलग देवियाँ थीं । कालान्तर में दोनों एक हो गई । [2] विष्णु प्रिया दोनों ही नामों से अभिहित है । यद्यपि कृषि और भूमि की शक्तियों का भी अभिनिवेश श्री लक्ष्मी में हो गया था, तथापि " भू " देवी का अलग अस्तित्व भी बना रहा । श्री सूक्त में श्री को कृषक रक्षकदेवी कहा गया और जहाँ उसे गंध द्वारा कहा गया है, वहाँ उसे " मृत्तिका भिमानिनी " देवता भी कहा गया । [3] फिर भी " पृथ्वी सूक्त " में भू देवी की स्थिति स्पष्ट है । विष्णु को " श्री " मही -युक्त कहकर उनकी दो प्रियाओं की ओर संकेत किया गया । [4] भूमि सम्पत्ति की देवी भूदेवी और शेष समस्त की प्रतीक लक्ष्मी है । लक्ष्मी का संबंध पक्वान्न, पीले धान और हरे अंकुरों से जोड़कर उसके अन्नपूर्णा रूप को अभिव्यक्ति दी गई । [5]

विष्णु प्रिया बनने से पूर्व वह अन्य देव शक्तियों की प्रिया भी बन चुकी थी ।[6] इन्द्र के साथ भी इसका संबंध रहा । इन्द्र ने लक्ष्मी को खो दिया । [7] समुद्र मंथन से उसकी पुन: प्राप्ति हुई । इसकी प्राप्ति के लिए असुरों ने संघर्ष भी किया, पर अन्तत:

---

1· लक्ष्मी की व्युत्पत्ति " लक्ष " से मानी जाती है : अर्थ, देखना समझना, लक्षण बतलाकर बोध कराना ।

2· जे·गोउ अर्ली आस्पेक्ट आफविष्णुज्म, पृ· 214, ऐतिरीय ब्रा·8/5/4, शतपथ 13/2/6/16·

3· तैत्तरीय आरण्यक, 10 / 1 / 43·

4· अत्रि संहिता, 2 / 37, 4 / 22, देवस्य दक्षिणे पार्श्वे श्रीयमावा में मही तथा ।

5· भविष्य पुराण, 28 / 58·

6· लक्ष्मी + अग्नि जातवेद ॥ श्रीसूक्त 1/13 ॥ पुरूष-प्रिया ॥ वाजसोयी संहिता, 31/22॥ पुरूष = प्रजापति, ब्रह्मा, सूर्य । कुबेर प्रिया ॥ महा· 12/228/88, 12·225· । ॥ असुरों को छोड़कर और बलि को छोडकर वह इन्द्र के पास आती है ।

7· रामायण 6 / 50 / 25·

वह विष्णु की हो गई । इन्द्र के संबंध में कहा गया कि लक्ष्मी पांच इन्द्रों की पत्नी थी । इन्हीं पांच इन्द्रों के अवतरित रूप पांच पाण्डव और लक्ष्मी का अवतरित रूप द्रौपदी है ।[1] इन्द्र आदि देवों से विछिन्न होकर विष्णु प्रिया बनने की विधि में ही कहीं बहु प्रियात्व एवं जारत्व या परकीयात्व का बीज सन्निहित है ।

1·145 विष्णु ( = मंगल का देवता )

विष्णु भक्तों पर समृद्धि और कृपा की वर्षा करते हैं । इसी की उनसे प्रार्थना की गई है ।[2] विष्णु से कामना और आशा की जाती है कि वह कल्याण करें ।[3] विश्व कल्याण की ओर संकेत ऋग्वेद में भी है ।[4] भूति और संतति की प्राप्ति के लिए विष्णु प्रार्थनीय है ।[5] विष्णु-याग सम्पत्ति, स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए ही किये जाते थे ।[6] विष्णु ( अग्नि भी ) समृद्धि और सम्पत्ति से अभिन्न है ।[7] वह सात निधि देनेवाला है ।[8] ये सूत्र विष्णु को कल्याण और मंगल का देवता बना देते हैं -- मंगल भगवान विष्णु । कृपा और उदारता इस रूप में उसके गुण हो जाते हैं । पुराण में इन्हीं गुणों को गाथाओं से प्रमाणित किया गया है । " सुरक्षा " के संदर्भ में वह " गोप " है ।[9] यह अभिप्राय अवतार कल्पना में प्रतिफलित होता है ।

---

1· महा· 1/197/2 मार्कण्डेय पुराण ( 5/24 ) में भी इन्द्र पत्नी के द्रौपदी बनने की बात मिलती है ।
2· अथर्व· 7/26/8·वाज सनेयी सं·5/19, तैतरीय सं·1·2·13·21·
3· अथर्व· 7/29-यह यह यहां प्रजापति के लिए निवेदित है । पीछे विष्णु के लिए अभिप्रेत हो गया । विष्णु और त्वष्टा से "द्रविर्ण" की याचना की जाती है । अथर्व 6/17/7·
4· 7/100/2 सुमति विश्व जन्याम् ।
5· ऋ सूक्त 97, 99 तथा सूक्त 100 में इसकी प्रतिध्वनि है । कुछ मंत्रों में इन्द्र भी अभीष्ट है ।
6· तैतरीय सं· 1/6/4/1·
7· - वही - 5/7/2/2·
8· जे·गोंद पृ· 201·
9· ऋ · 1/22 / 8·

इनकों विष्णु के कुछ नाम प्रतीक भी व्यक्त करते हैं : "वसुद" ( = सम्पत्ति देने वाला ) वसुप्रद, महाधन, जैसे नाम प्रसिद्ध हो गए ।[1] नाम साम्य के आधार पर विष्णु और वासुदेव एक हो गए ।[2] श्री ( = वृद्धिपूर्ति और त्रीद्ध ) के पति हैं । विष्णु[3] मनुष्यों को ही नहीं, देवताओं को भी वह शक्ति और आनन्द देता है ।[4] आनन्द से संबंधित नाम "नंद नंदन ( आनंद देने वाला ) और "नंदीक्नू" है, जिसमें सारा आनंद निहित है ।[5]

## 2.146 विष्णु : नारायण :

आरंभ में विष्णु दैव अथवा भाग्य विधान है । वेदों में यही तीन पादों-वाला देवता है । उसका निवास प्रकाश के लोक में है । वहाँ आकाश में उड़ने वोले पक्षी भी उड़ने का साहस नहीं कर सकते ।[6] उपनिषद के अनुसार विष्णु के इस उच्चतम लोक में पहुँचना ही मनुष्य का उद्देश्य है ।[7] विष्णु मनुष्य को विपत्तियों से छुड़ाता है ।[8] मनुष्य को भी विष्णु रूप बतलाने का संकेत मिलता है ।[9] आसुरों के विरुद्ध

---

1. महाभारत 13 / 149.
2. - वही - 13 - 149 - 87.
3. विष्णु पुराण, 1 / 8 / 25.
4. महाभारत 13 / 149 / 109 "स्वस्ति कृत" भी कहा गया है ।
5. महाभारत 13 / 149.
6. ऋ. 1. 155. 5
7. कठोपनिषद. 1-3-9.
8. ऋ. वेद. 6 - 49 - 23.
9. शतपथ ब्रा. 1-2-5-2-3.

विष्णु देवताओं का सहायक है । देवताओं के लिए आसुरों से भूमि प्राप्त करने के लिए उसने वामन अवतार धारण किया ।[1] शतपथ में ही सबसे पहले नारायण नाम मिलता है ।[2] पर यह विष्णु नायक नहीं है ।

तैत्तरीय आरण्यक में नारायण नित्य, सनातन, सर्वोपरि एवं स्वामी के अर्थ में आता है, वहाँ उसका नाम हरि है ।[3] महा भारत में नारायण एक प्राचीन ऋषि का नाम है ।[4] ब्राम्हण ग्रंथों में नारायण सार्वभौम रूप धारण कर लेता है । माहभारत में वह विष्णु रूप हो जाता है । उसमें वासुदेव, नारायण और विष्णु पर्यायवाची हैं ।[5]

## 2·147 उर्वरी शक्ति के देव : विष्णु :

दूसरी ओर विष्णु गर्भ का रक्षक माना गया है ।[6] सूत्र साहित्य में " विष्णुर्योनि कल्पयतु "[7] कहा गया है । गर्भ संबंधी अनुष्ठान में विष्णु साथ रहता है ।[8] इस प्रकार विष्णु उर्वरा शक्ति के देव ठहरते हैं । अन्य देवताओं के

---

1· शतपथ ब्रा· 1-2-5-5, तैत्तरीय ब्रा· 1-6-1, 5·

2· शतपथ, 12-3-4, 1·

3· तैत्तरीय आरण्यक 10·11·1

4· महा· 5-49, 5·20, 7·200-57, और भी दृष्टव्य 1090·

5· महा· भीष्म पर्व, अध्याय 65 और 66·

6. Keith; Religion and Philosophy of the Veda, P.100; Dandekar A Volume of Studies in Indology, presented to Kane(1941) P.103 Vishnu in the Vedas.

7. S.G.Sutra 1-22-13.

8· - वही - 10· 184 - 11·

साथ वाली स्तुतियों में विष्णु को गर्भ वृद्धि करनेवाले के रूप में स्तुत्य माना गया है । विष्णु को "शिपिविष्ट "[2] भी कहा गया है । यह भी उर्वरक शक्ति से विष्णु का संबंध स्पष्ट करता है ।[3]

2·1.48 वेद में विष्णु पूजा :

विष्णु आदित्यों में से एक है ।[4] विष्णु सूर्य का ही रूप है ।[5] वह त्रिविक्रम है ।[6] यह भी सूर्य वार्ता की ओर संकेत करता है । तीन पद सूर्य की तीन स्थितियाँ हैं - उदय, मध्याहन तथा अस्त ।[7] विष्णु को बीज ( ऋतस्य गर्भम् ) कहा गया है ।[8] विष्णु को रणवीर या सेनापति के रूप में भी देखा गया है । विष्णु और इन्द्र को जगत के अतिपति के रूप में देखा गया है ।[9] विष्णु के सखा है ।[10] आरंभ में विष्णु एक महान वैदिक देवता था किन्तु एक मात्र देव या सर्वोच्च देव नहीं था । उसका स्थान इन्द्र से नीचा ही था । किन्तु विष्णु आगे के साहित्य में महत्वपूर्ण होता गया । इस महत्व का बीज त्रिविक्रम रूप में अन्तर्निहित है । इस मिथक

---

1· ऋ· 36 - 1 - 10 - 184
2· - वही - 7· 17 - 7, 7 - 1005 - 6·
3· शेष ( = लिंग से इस शब्द का संबंध है । यह मूल वाची शब्द भी है ।
4· Wilson's introduction to Rigveda Samhita P.20, Geeta 10-21.
5· Hong's Translation of the Aitareya Brahmana P.1
6· ऋ. 1· 22· 18·
7· विल्सन, 25 - 26·
8· ऋ · 1· 156 - 3·
9· - वही - 6· 69; 7· 99·
10· इन्द्रस्य युज्य: सखा ( ऋ· 1·22· 19 )

का विस्तार शतपथ में मिलता है । यहाँ विष्णु को यज्ञ रूप माना गया है । इसमें " विक्रम " तत्व पर अधिक बल दिया गया है । विष्णु ने देवों के लिए, महाशक्ति ( = विक्रान्ति ) प्राप्त की । शतपथ के चौदहवें कांड के आरंभिक खंड के शुरू में देवताओं के द्वारा विजयी विष्णु की मान्यता से संबंधित मिथक है । यहीं विष्णु को श्रेष्ठ कहा गया ।

नारायण शब्द सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में मिलता है । पर इसका संबंध विष्णु से नहीं है । तैत्तरीय आरण्यक में इसका संबंध विष्णु से जोड़ा गया है ,। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु के सर्वोच्च स्थान की चर्चा है । विष्णु यज्ञ दोषों का निवारक है । वह यज्ञ के फल का रक्षक है । असुरों के विरुद्ध अभियान में विष्णु ने इन्द्र की सहायता की थी ।

2. 149 विष्णु भक्त वत्सल :

ऋग्वेद में विष्णु को गौण स्थान प्राप्त है । किन्तु उसकी भावी संभावनाएँ प्रकट हैं । वैष्णव धर्म का मूल ऋग्वेद में पाया जाता है । ऋग्वेद में विष्णु को " बृहत्-शरीर " ( = विशाल शरीरवाला ) कहा गया है । संसार मात्र उसी का शरीर है । भक्तों के आवाहन करने पर वह आकर उपस्थित हो जाता है । प्रत्येक महावम् [1] विपद ग्रस्त मनुष्य के लिए उसने पृथ्वी को तीन वर्गों में नाप लिया - " मनावेवांछिताय । " [2]

---

1. ऋग्वेद 1-155-6.

2. ऋ . 4. 6.

त्रिविक्रम के रूप में वराह अवतार का संकेत श्रुतियों में मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में भी इसका बीज दिखलाई पड़ता है ।[1] तैत्तिरीय संहिता में भी इसका संकेत है ।[2] वामनावतार का बीज तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है ।[3] शतपथ ब्राह्मण में कच्छप अवतार की भी चर्चा है ।

## (ग) देव और मानव : संबंध भावना :

वैदिक देव भावना कुछ इस प्रकार विकसित हुई है कि उसके साथ मानवीय संस्पर्श बने रहे । यह दिव्य भावना उपनिषद के दर्शन में प्राय: समाप्त हो गई थी । किन्तु हमारे आलोच्य भक्ति में साध्य की कल्पना मानव केन्द्रित हो गई । मनुष्य या भक्त ने इष्ट देव के साथ विविध प्रकार के रागात्मक संबंध स्थापित किए । तुलसी ने स्पष्ट कहा - " मोहि तोहि नाते अनेक " ।

मनुष्य और देवता के परस्पर संबंध के कथन वैदिकसाहित्य में ही मिलते हैं जो बहुविध हैं । एक प्रकार से सभी प्रमुख मानवीय संबंधों की भावना देवता के संदर्भ में की गई है । अश्विनों का आह्वान इस रूप में किया गया है, हे अश्विनों हमारे पूर्वजों के समय से ही तुम्हारे साथ हमारी मैत्री चली आ रही है । मैत्री में आप और हम समान स्तर के हैं ।[4] इन्द्र भी स्वर्ग लोक से आकर मनुष्य को मित्र बनाता था और इससे मित्र गौरवान्वित अनुभव करता था ।[5] मित्र की भांति वह हितकारी और रक्षक भी था ।[6]

---

1. शतपथ ब्राह्मण 14-22-11.
2. तैत्तिरीय सं. 27-1-5-1.
3. - वही - 2.1-3-1.
4. युवोहिन : सक्ष्य पितृयाणि समान : बंधु : उततस्य वित्तम ऋग्वेद - 7-72.2.
5. (3 - 31 - 8) ऋ.
6. ऋ. 1. 63. 4.

आधुनिक देवता एक पिता के समान है जिसके साथ मैत्री का संबंध भावित किया जाता है ।[1] वह मित्र के समान सद्भाव पूर्ण है और सत्परामर्श देता है ।[2] विश्व देवों को भी मित्र कह कर संबोधित किया गया है ।[3] साथ ही इस मैत्री की पैतृक परंपरा की ओर भी संकेत किया गया है ।[4] जिस प्रकार दो मित्र इकट्ठे बैठकर मधुपान करते हैं उसी प्रकार देवता के साथ मधुपान करने की इच्छा वैदिक ऋषि की है ।[5] वरूण भी अपने आराधक के साथ मैत्री संबंध रखता था ।[6] इस मैत्री को भी प्राचीन काल से चला आता हुआ बतलाया गया है ।

आराधक आराध्य संबंध की स्पष्ट सूचना तो नहीं मिलती किन्तु उसके संकेत वैदिक साहित्य में लक्ष्य किए गए है । भक्ति के लिए आराधना शब्द प्रचलित है और भक्त के लिए आराधक वेद में वरूण के साथ उसके आराधक के संबंध का उल्लेख मिलता है ।[7] यह शब्द संबंध वाचक ही है । इसके संबंध में अभी अध्ययन शेष है ।

जहाँ वैदिक ऋषि देवता से अपनी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामग्री की याचना करता है, वहाँ वह यह भी याचना करता है कि देव उसके शत्रुओं का नाश करें । इस आशय की एक ऋचा ऋग्वेद में मिलती है जो अग्नि के संबंध में है, हे अग्नि देवता हमारे पास कृपा दृष्टि लेकर आओ तुम एक मित्र, माता, पिता की भाँति हमारी इच्छाओं की पूर्ति करते हो तुम हमारे शत्रुओं को भस्म कर दो ।[8]

---

1· सखा सख्ये देख्या : ( 1·26·3· )

2· ऋ · 3·14·1·

3· ऋ · 3· 29· 4·

4· ऋ · 3·54· 9·

5· पुन: पुराणम् साख्यम् कृण्वान : साख्य मध्व मदेन सह : नु : समान :

6· ए·ए· मैक्डोनेल वैदिक माइथालॉजी

7· मेक्डानेल ( वैदिक मैथालॉजी ) पृ· 27·

8· ऋ · 3· 18· 1

इन्द्र मित्र हितकारी और रक्षक था ।[1] अग्नि को पिता के समान कहा गया जिसके साथ श्रेष्ठ मैत्री भाव रहता था ।[2] पिता, माता की तरह देवता मनुष्य की इच्छा पूर्ण करता है ।[3] तात्पर्य यह है कि अग्नि और इन्द्र के साथ मैत्री संबंध वैदिक ऋषि ने माना । इसका आधार है - समता । देवता भी अपने आराधक के साथ मैत्री भाव रखता था । मित्र के विभिन्न पर्याय और उसकी विभिन्न परिभाषाएँ वैदिक साहित्य में मिलती हैं । इस मैत्री संबंध की भावना का संबंध आदिम जातियों या आदिम मानव से सम्बद्ध देवताओं से भी जोड़ा गया है ।

जो शब्द भौतिक वादी अर्थ देते थे उनका आध्यात्मिक या भावात्मक अर्थ ऋषि भी दिया करते थे, यज्ञानुष्ठान के अवसर पर भी भावात्मकता छलक आती थी । साहित्य के विविध रूप इसी वातावरण में जन्म लेते थे और प्रयुक्त होते थे । श्रद्धा वैदिक राग का प्रतीक है । यही रागात्मक रहस्यवाद का सोपान भी है । इस भावात्मकता को आधुनिक संदर्भ कामायनी में प्रसाद जी ने दिया है । जिसको भौतिक वाद कहा जाता है, वह एक अर्थ मूलक विचार व्यवस्था है । " काम " भावात्मकता का बीज है । " अर्थ " और " काम " के सामंजस्य की बात आज भी की जाती है और प्राचीन काल में भी की जाती थी । एक ओर भावात्मकता सामाजिक संबंधों में प्रतिफलित होती है और दूसरी ओर आध्यात्मिक संबंधों में । यदि एकता का आधार आर्थिक अभिप्राय होते हैं तो भावात्मकता भी एकता को पुष्ट करती है -- चाहे वह कौटुम्बिक एकता हो या सामाजिक । जन जाति की एकता बहुत कुछ भावात्मक कारणों से होती थी । यदि जन जाति का एक सदस्य दु:ख का अनुभव करता है, तो अन्य सदस्य भी खिन्न होते हैं । कबीले के जीवन की यह एक बड़ी विशेषता है । इसी भावात्मकता से प्रेरित होकर वैदिक मानस देवता से सामूहिक हित या उपयोगिता को

---

1. ऋग्वेद. 1 - 63.4, 1.53.2.
2. सखा सख्ये देख्या : ऋ . 1. 26. 3.
3. - वही - 3. 18. 1.

ध्यान में रखकर याचना करता था । इस संदर्भ में " हम " सर्वनाम का प्रयोग ही हुआ है " मै " का प्रयोग बहुत कम हुंआ है । " मै " का हम में विलय एक गहरी भावुकता का ही प्रतीक है ।

यह बात सही है कि वैदिक साहित्य में वैराग्य की भावना प्रमुख नहीं है । भावात्मकता का वृहत्तम विकास विश्व को एक परिवार मानने के रूप में हुआ । डा· राधाकृष्णन ने स्पष्ट रूप से वैदिक भावात्मकता के संबंध में कथन किया है - " किन्तु ( ऋग्वेद ) में तपस्या और वैराग्य के भाव का प्राबल्य नहीं है । हम देखते है कि ऋचाओं में प्रकृति के सौन्दर्य, उसकी महत्ता, वैभव का रसास्वादन है, उसके कारूण्य की अभिव्यक्ति है । यज्ञों का प्रेरक उद्देश्य है इस संसार की सुखकारी वस्तुओं के प्रति लगाव । इन ऋचाओं में हमें नैराश्य की भावना से मुक्त जीवन और संसार का आनंद भोगने का भाव मिलता है ।[1]

भाववाद का आधार तो भौतिक होता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भौतिक वाद आत्मवाद या भाववाद से महत्व पूर्ण ही हो जाता है । भाव के परम और आत्मा के स्वरूप का निर्वचन और उसकी प्रतीति भौतिक आधार से ही होती है अर्थात् भाववाद के भौतिकीकरण या भौतिक के अध्यात्मीकरण की प्रक्रिया भाववादी दर्शन से बाहर की नहीं है । प्रवृत्ति मार्ग भौतिक जगत् के प्रति राग युक्त तो होता है किन्तु भौतिकवाद की सत्ता को आत्मा से द्वैतीयिक ही मानता है । निवृत्ति - मार्ग भौतिक संसार को अस्वीकृत करके ही चलता है । भक्ति दर्शन में यद्यपि आत्मा का स्थान ही महत्त्वपूर्ण है तथापि परिवेश की अस्वीकृति नहीं है ।

---

1· लोकायत -- 475· पर उद्धृत

वैदिक देवता भी हमारी आवश्यकताओं के अनुसार दान देनेवाला होता है । ये आवश्यकताएँ प्राय: भौतिकजीवन से संबंधित होती हैं । इन्द्र हमारे पास आकर अन्न देता है ।[1] इन्द्र बादलों को फैलाकर वर्षादान करता है ।[2] अन्न की व्यवस्था करने के कारण ही इन्द्र सभी पुरूषों में श्रेष्ठ है । वैदिक ऋषि इन्द्र की दाता के रूप में प्रशस्ति गाते हुए कहता है, हे इन्द्र तुम, घोड़ो, जौ सम्पदा आदि के दाता हो जिस प्रकार तुम अतीत में हमारी इच्छाएँ पूर्ण करते थे । तुम हमारे ऐसे ही सखा हो हमसे बात करो ।[3] वरूण को अन्न का भण्डार कहा गया है ।[4]

पुरानी परंपरा के परिशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य भी देवत्व को प्राप्त हो सकता है । ऋग्वेद के अनुसार ऋभु मूलत: मनुष्य थे और अन्त में देवत्व को प्राप्त हुए ।[5] वास्तव में ये मर्त्यव थे जो अमरत्व प्राप्त कर सकें ।[6] यही बात वह्नियों के संबंध में भी कही जाती है ।[7] अश्विनों का स्थान तो देव-मण्डल में बहुत ऊँचा है इनको भी देव का दर्जा दिया गया है ।[8] आश्विन मनुष्यों के साथ मैत्री संबंध रखते थे ।

---

1· ऋग्वेद : 10· 28· 13·

2· " 4· 22· 2·

3· " 1· 53· 2·

4· " 7· 88· 5·

5· सायण ऑन ऋग्वेद, 1· 20· 8·

6· ऋ · 1· 110· 4·

7· सायण ऑन ऋ · 1· 20· 8·

8· देवा : भवथ 3· 3· 54· 17·

वैदिक साहित्य के विवरणों स्थितियों के आधार पर हम जन साधारण की भौतिक स्थितियों का पुनर्निर्माण कर सकते हैं । गाय, पृथ्वी, जल जैसे तत्व एक ओर भौतिक परिस्थितियों के संरक्षक हैं वहाँ दूसरी ओर ये दिव्यता के वहन करने-वाले भी हैं । प्रार्थना और स्तोत्र की मूल संरचना भौतिकवादी ही है । किन्तु ये भावात्मक स्पर्शों से भी सजल हैं । पशु-पालक स्थिति जहाँ आर्थिक क्रियाओं का पुंज बनती है वहाँ मानवीय और मानवेतर संबंधों की भावात्मक आवृत्तियों भी तैर कर उभर आ जा सकती हैं । देव रक्षक देवमंडल भौतिकवादी आर्यों के लिए भी पूज्य और स्तुत्य बन जाते हैं । देवताओं की कल्पना मानवाकार रूप में भी की गई है । आरंभिक देव कल्पना नितांत पराप्राकृतिक नहीं है । उनके प्रति भावना किसी न किसी रूप में उमडती ही है । इन्द्र का आह्वान मनुष्य के रूप में किया गया है । आह्वान उस इन्द्र का किया गया है जो जन साधारण की इच्छाओं को पूर्ण करता है । अग्नि को मानव के मित्र के रूप में देखा गया है -- नृवत् सखा सभावान [2] अग्नि को मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा गया है । - " नृणाम् नृताम् [3] इन सबसे जो प्रार्थना की गई है वह भौतिक अभिप्रायों से ही सम्बद्ध है -- हमें सम्पत्ति दो और हमारे पुत्रों पौत्रों को पशुधन दो । [4] किन्तु इच्छा पूर्ण होने के पश्चात कृतज्ञता का स्वर विकसित हो जाता है और यहीं पर समर्पण और पूजा की पद्धति विकसित होती है । देवत्व का विकास इस स्थिति की अग्रगामी पहचान है । मनुष्य भी देवता के रूप में परिकल्पित हुए । इनको मरुत कहा जाता था । रक्षित और रक्षक संबंध के साथ-साथ मैत्री या बराबरी का संबंध भी मनुष्य देवता के साथ मानता था । अश्विनों के साथ मनुष्य मैत्री संबंध रखते थे । [5]

---

1· ऋग्वेद 1· 109·

2· - वही - 4·2·5·

3· - वही - 1· 77· 4·

4· - वही - 7· 1· 12·

5· - वही - 7· 72· 2·

## ‌(घ) मानव रूप देवता :

वैदिक जन देवता को मनुष्य के रूप में ही देखता है । इन्द्र का आह्वान वह मनुष्य के रूप में करता है, मैं मनुष्य (नरम:) इन्द्र का आह्वान करता हूँ जो जन की उसी प्रकार पूर्ति करता है जिस प्रकार अतीत में हमारे पूर्वज करते थे ।[1] अग्नि के संबंध में यह कल्पना की गई कि वह मानव का मित्र है और जन जातीय सभा का सदस्य भी है ।[2] और अग्नि जैसे वैदिक देवता कार्यकुशल और देव सखा ऋषियों से भी परिचित थे । कण्व अत्रि, मनु[3] इस प्रकार ऋषि और देव का आनन्द पूर्वक एक साथ रहना उल्लेखित है । इन्द्र की प्रार्थना पुरूषों के प्रमुख रूप (नृताम्) के रूप में भी की गई है और मानव के साथ रहने वाले के रूप में भी ।[4] मानव प्राणियों के साथ वह सम्पत्ति का विभाजन भी करता है वह सबको सबका भाग बांटता है ।

इसी प्रकार अग्नि को मनुष्यों में श्रेष्ठतम मनुष्य कह कर संबोधित किया गया -- " नृणाम नृताम: । "[5] वह पुरूषों में प्रमुख भी है ।[6]

ऋषि मित्र और वरूण का आह्वान करते हुए कहता है कि मनुष्यों के साथ बैठकर सोमपान करे ।[7] इन्द्र मनुष्य के साथ मिलकर युद्ध विजय करता है । यजमान को यह आदेश दिया जाता है कि वह उस इन्द्र को पिण्ड दे जो मनुष्यों में सबसे अधिक

---

1. ऋग्वेद : 1. 30. 9.
2. " नृवत सखा सभावान, " ऋग्वेद 4. 2. 5.
3. ऋग्वेद 1. 139. 1.
4. - वही - 4. 17. 11.
5. - वही - 1. 77. 4.
6. ऋग्वेद 2. 1. 1. (नृणाम् नृपते)
7. - वही - 1. 137. 3.

शूरवीर है ।[1] इस प्रकार इन्द्र को मनुष्यों में सर्व श्रेष्ठ कहा गया है ।[2] इन्द्र का आवास उसी प्रकार का है जैसा अन्य मनुष्यों का होता है ।[3] वह मनुष्यों की तरह ही बोलता है ।[4]

वैदिक काल में ऋषियों को देव कहा गया ।[5] ब्राह्मण[6] और राजा[7] भी देवों के समकक्ष हो गए । माता, पिता और अतिथि भी देव हैं ।[8] जहाँ व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य को दिव्य स्तर प्रदान किया जाता रहा, वहाँ देव को मानव या महामानव के रूप में अवतरित करने की प्रवृत्ति भी चलती रही ।[9] यह, अवतारवाद साहित्य और दर्शन के क्षेत्र की एक व्यापक प्रवृत्ति है । अवतारवादी तत्व सभी साहित्यों में, किसी न किसी रूप में मिल जाते हैं ।

निर्गुणिया संतों ने संत और राम में अभेद माना ।[10] यदि सगुण की उपासना करनी है तो संत की सेवा करो । संत और गोविन्द की एकता सिद्ध करने वाले अनेक पद्य मिल सकते हैं ।[11] सुन्दरदास ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्वयं कृष्ण संतों का अनुगमन करने के लिए आते हैं ।[12] संत की महिमा वेद भी नहीं

---

1. ऋग्वेद 3· 52· 8·
2. - वही - 4· 55· 4·
3. - वही - 4· 18· 7·
4. - वही - 10·28· 13·
5. शतपथ 3· 7· 10· विद्वांसों हि देवा: । ऋ · 4· 34· 3·
6. शतपथ 2· 2· 2·6·
7. अथर्व· स· 6· 84· 2·
8. तै· उप· शिक्षावल्ली, 11 अनुवाक्य
9. ऋ · 10 / 90 ( पुरूष सूक्त )
10. साधू प्रतापि देव है, नहि पाथर सूं काम । ( क·ग्र·44· साखी 5 )
11. दादू दयाल की बानी भाग 2· पृ· 62·
12. सुंदर कृष्ण प्रकट कहै मैं धारी यह देह, संतन के पीछे फिरौ सुद्ध करन को येह ।
सू·ग्र·भाग 2 पृ· 745 साखी 45·

जानते ।[1] साधु त्रिगुणातीत है । [2] नानक के अनुसार ब्रह्म ज्ञानी स्वयं परमेश्वर है ।[3] साधु ज्योति का अवतार है ।[4] इस प्रकार संतसाहित्य में संत का अवतारी रूप सिद्ध हो जाता है । यहाँ तक कि कलियुग में उपकार के लिए इनका अवतारी रूप सिद्ध हो जाता है । कलियुग में उपकार के लिए इनका आविर्भाव कहा गया है ।[5] और अवतार तो निर्गुण से युक्त रहते हैं, पर संत अवतार इससे भी मुक्त हैं ।[6] इस प्रकार – "संत रूप अवतार लियौ परमारथ काजा ।[7]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साध्य के विकास की वैदिक स्थिति में इन्द्र सबसे प्रधान देवता है । वरूण और अग्नि भी इन्द्र के साथ स्तुत्य है, किन्तु धीरे-धीरे इन्द्र की सारी शक्तियों और गुणों का स्थानांतरण विष्णु में हो गया । विष्णु ब्राह्मण साहित्य तक आते-आते सर्व प्रमुख हो गया । इसका कारण यह था कि विष्णु में मानवोचित गुणों का विकास सर्वाधिक दिखलाई पड़ने लगा । इससे विष्णु की भारी संभावनाएँ भी बढ़ी । वत्सलता जैसे मानवीय गुण विष्णु के अवतार की कल्पना को अनुप्राणित करने लगे । त्रिविक्रम के रूप में भी विष्णु के अवतार का बीज सन्निहित है । साध्य की आधुनिक संधारणा के अनुसार विष्णु का मानव से घनिष्ठ संबंध हो गया ।

वैसे वैदिक देववाद की यह विशेषता थी कि देवता को मानव के समकक्ष रखा गया । मानव और देव के बीच विभिन्न संबंध स्थापित हुए । उदात्त गुणों के कारण स्वयं मानव को देव का दर्जा प्राप्त हुआ । देव का मानवीय संदर्भ आधुनिक दृष्टि के अनुकूल पड़ता है ।

---

1· गुरू ग्रंथ साहिब पृ· 272 गुरू अर्जन का पद 10 वहीं ।

2· गु·ग्र· सा· पृ· 263 पद 6·

3· रज्जवजी की बानी, पृ· 76 अंक 31, सारथी 3·

4· दादू दयाल की बानी भा – 1 पृ· 166 (साखी 70)

5· – वही – पृ· 162 (साखी 51)

6· पलटू साहिब की बानी, भाग – 1 पृ· 15·

7· – वही – पृ· 3·

## 2·2 औपनिषदिक स्थिति : संत का साध्य :

ऊपर यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि विष्णु किस प्रकार वैदिक साहित्य में मुख्य होते गए और अन्य वैदिक देवता कृष्ण के सामने निस्तेज हो गए । वैष्णव भक्ति साहित्य का प्रमुख साध्य विष्णु ही है । यहाँ तक कि अनगुणिया संतों ने भी अपने को वैष्णव कहा है । वैष्णव को ही कबीर ने अपना साथी कहा है । साथ ही राम का नाम निर्गुणियाँ साहित्य में सबसे अधिक प्रतीकत्व ग्रहण करता है, किन्तु संत मानस वैष्णव होते हुए भी कहीं न कहीं औपनिषदिक अद्वैत और योग के साध्य से जुड़ा है । इस रूप में संत के साध्य का स्रोत ज्ञानवादी दर्शन की परंपरा में निश्चित हो जाता है ।

शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण ब्रह्म विश्व की आधार भूत सत्ता है जिसके विशेषण है सत्य, ज्ञान, अनन्त । इस रूप में ईश्वर सभी द्वन्द्वों से दिक् काल से परे विश्वातीत है । इसी रूप का अंश प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में उपस्थित है उस सत्ता का सगुण स्वरूप वही ईश्वर है जो विश्व का सृष्टा, नियंता और संहारकर्ता है ।

शंकर की विचार धारा का स्रोत उपनिषद में ही है । यद्यपि यह कहा जाता है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया संतों का साध्य बिल्कुल अद्वैत और निर्गुण है । किन्तु इस कथन को प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि संत काव्य में जो साध्य प्रतिष्ठित हुआ है वह कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं रही ।

## 2·21 ब्रह्म : अद्वैत (भावात्मक परिणति) :

भाववाद बुद्धिवाद का विलोम शब्द है । बुद्धिवाद के संबंध में जो सामान्य विचार चला आ रहा है वह यह कि बुद्धिवाद अन्ततः भौतिक प्रतियोगिताओं और द्वन्द्वों को बढ़ाता है । इसके विपरीत भाववाद वैश्विकसंबंधों को रागारुण करता है । भाव-

वादी चिंतन और साधना की परंपरा अतीत के सुदूर अंचलों का स्पर्श कर लेती है । यह भी ध्यातव्य है कि भाववाद और भौतिक वाद का द्वन्द्व भी मानव के प्रागैतिहासिक काल से ही चला आ रहा है । यह विश्वास निर्मूल है कि भाववाद यथार्थ दर्शन को बाधित करता है । सत्य यह है कि वह यथार्थ के उपेक्षित पक्ष का उद्घाटन करता है । उपनिषदों ब्रह्म सूत्र और गीता की वैचारिक बनावट में भावात्मक चिंतन के सूत्र अन्त: स्यूत है । इन्ही सूत्रों का विशदीकरण भक्ति के आचार्यों के भाष्यों में लक्षित किया जा सकता है । वास्तव में भौतिक हमारे जीवन को आरंभ से ही घेरे हुए चलाआ रहा है । इन भौतिकवादी तत्वों के कुछ ऐसे रूप उभरते हैं जो प्रकृतित: भाववादी हो जाते हैं । वास्तव में भौतिववाद का भाववाद से कोई मौलिकविरोध नहीं है बल्कि भौतिकवाद की एक सूक्ष्म सरणी अथवा एक मनोभौतिक विकास ही भाववाद के रूप में आकार ग्रहण करता है । भौतिकवाद और भाववाद की सह स्थिति आरंभ से ही मिलती है । जो वास्तविक या व्यावसायिक स्थितियाँ घटित होती हैं उनमें एक पराप्राकृतिक तत्व भी सम्मिलित रहता है । जिसके साथ भौतिकवादी संबंध भी बनता है और रागात्मक संबंध भी ।

भक्ति साहित्य के साध्य की एक सरंचना उपर्युक्त वैदिक सूत्रों के आधार पर भी बनी है और यह संरचना आधुनिक आस्तिकता से बिल्कुल मिलती जुलती है । देवता की नराकार कल्पना उपनिषद पूर्व के भौतिक जीवन से संबंधित वैदिकदेव कल्पना में मूर्तिमान हुई है । वेद पर विचार करनेवाले समाज-शास्त्रीय विचारक इस रूप में ही इस सरंचना की व्याख्या करते हैं ।

यद्यपि भक्त और संत कवि की साध्य के प्रति संबंध भावना बहुत कुछ वैदिक पद्धति की है तथापि सगुण रूप साध्य की रूप रेखा तो बिल्कुल इसी प्रकार की है । सूर की " गौ " गोएँ, गोपी, गोपाल पर केन्द्रित काव्य वस्तु एक प्रकार से वैदिक गोकेन्द्रित संस्कृति की अग्रगामी उद्धरणी हो गई है ।

## 2.22 अद्वैत तत्व : भावाद्वैतवादी परिणति :

ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण संतों का ब्रह्म विचार शंकर अद्वैत की जटिल दार्शनिक ऊहापोह से युक्त है । किन्तु कबीर के तत्व संबंधी विचार " तात्त्विक विवेचन के रूप में प्रस्तुत नहीं होते । उनकी वाणी में जो यत्रतत्र विवेचन मिलता है वह भक्ति साधना की अभिव्यक्ति के आधार के रूप में आया है । उनके लिए परम सत्ता चिंतन और तर्क का विषय नहीं, बल्कि साधना का लक्ष्य है । " परम सत्ता का ज्ञान कबीर की स्वानुभूति के माध्यम से प्राप्त होता है यद्यपि कबीर तत्संबंधी सत् के प्रतिपादन में कभी-कभी तर्क का आश्रय लेते हैं । अतः उनकी अभिव्यक्ति व्यक्ति परक और भाव पूर्ण है । " [1] और कदाचित् यह कहना अधिक उचित होगा कि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कबीर ने अद्वैत की शब्दावली तथा रूपकादि विधान को उपयुक्त समझा होगा । अद्वैतवादी दर्शन का पूरा ढांचा कबीर ने आत्मसात् नहीं कर लिया था और न कबीर जैसे भक्तवादी के लिए यह आवश्यक ही था ।

इसमें संदेह नहीं कि कबीर को सारा ज्ञान मौखिक गुरु-परंपरा से मिला था । इस मौखिक परंपरा मे गहन दार्शनिक चिंतन नहीं था : रूपक, प्रतीक, उदाहरण आदि के माध्यम से तत्व का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाना ही संभव था । कबीर ने उसको ग्रहण करके भाव-साधना के लक्ष्य के रूप में परिभाषित कर दिया । कबीर का ब्रह्म न तो पारिभाषिक अद्वैतवाद से निरूपित ही है और न ज्ञानवादी वैराग्य मूलक साधना से साध्य ही । वह तो भक्तिभाव का आलंबन है । कबीर ने स्पष्ट घोषणा भी कर दी है - " विद्वान पढ़ऊ वाद न हि जानौं । " (पद - 190 - 3) शायद कबीर अद्वैत वेदांत को अक्षरशः अनुकरणीय भी नहीं मानते थे ।

---

1. विलियम डायर : कबीर की भक्ति भावना पृ. 7.

यही बात उनके योग के संबंध में कही जा सकती है । उनके काव्य में शून्य समाधि, तथा हठयोग से संबंधित अन्य पारिभाषिक शब्दावली भी मिल जाती है । किन्तु इसका यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि वे योगी थे या योग साधना को अनुकरणीय मानते थे । उनका अद्वैत न तो जनवादी अद्वैत है और न योगवादी अद्वैत । वह तो भावात्मक अद्वैत है । भावात्मक अद्वैत से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है । भावाद्वैत को वे ज्ञान और योग की शब्दावली और न्यायों से सिद्ध और बलिष्ठ करते हैं । सघन भावाविष्ट क्षणों में सर्वत्र उस प्रिय का ही दर्शन होता है । - " जित देखो तित तू " ‖ सा. 3.6 ‖ यही अहं का विर्सजन " ते " में हो जाता है । यह स्थिति प्रेम मिलन के क्षणों के अद्वैत की है

## 2.23 ब्रह्म : निर्गुण और सगुण :

संत का साध्य औपनिषदिक प्रकृति का भी है । एक निरपेक्ष तत्व के रूप में संत ने उसका निरूपण भी किया है अद्वैत, अनादि, अनंत, निरंजन, अविनाशी आदि । वह निर्गुण है । फिर भी औपनिषदिक निषेधात्मक विशेषणों पर कम बल दिया गया है । वह घट-घट वासी है । सभी रूप उसके रूप हैं । [1] वह हर प्रकार के द्वैत से अमर है । वह सिरजनहार है । भक्ति काव्य और समाज के लिए भी यह ब्रह्म उपयुक्त नहीं । भक्ति के आचार्य कहते हैं कि उस परात्पर की मन और इन्द्रियों के द्वारा सेवा ही भक्ति है । [2] शैव दर्शन में भी ब्रह्म के प्रति भक्ति की बात कही गई है । भक्ति के लिए उस अद्वैत तत्व की द्वैत कल्पना की जाती है । [3]

---

1. जाति सरूप बरण नहि जाके घटि घटि रह्यौ समाई । ‖ क.ग्र.ना.पद.280 ‖
2. भक्ति रसामृत सिंधु 1.12, सा परानुरक्तिरीश्वरे, ‖ शांडिल्या भ.सू. 1-2 ‖
3. भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतदपि सुन्दरम् । मित्रयोरिव दम्पत्यों जीवात्मा परमात्मना ‖ बोध सार ‖

द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर हो जाता है । यह द्वैत वैसा ही है जैसे दो-मित्र, पति - पत्नी । जीव और परमात्मा भी इसी प्रकार है । इस प्रकार संत शांकर मत का विपथन करता है ।

दूसरी ओर सगुण भक्तों के अवतार वाद को भी संत ने अस्वीकार कर दिया । अवतरित रूप जातिगत हो गया । परशुराम ब्राह्मण राम और कृष्ण क्षत्रिय, राम-दशरथ-सुत और कृष्ण देवकी सुत । व्याध के एक तीर से कृष्ण मर गए । राम और परशुराम एक साथ कैसे हुए ।[2] सभी अवतार पैदा हुए और मरे । इसलिए ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ।[3] ईश्वर इन सबसे परे है ।[4] इस प्रकार संतो का ब्रह्म यदि शंकर ब्रह्म नहीं है, तो वह सगुण भक्तों का भगवान या अवतार भी नहीं है ।

वह अद्वैत होते हुए भक्ति प्रेम का विषय है । वह दयार्द है । भक्त की पीड़ा को जानता है ।[5] भक्त उसके साथ पिता, पुत्र, स्वामी सेवक, पति-पत्नी-कोई भी संबंध रख सकता है । वह प्रेम की पीड़ा का दाता भी है और हर्ता भी ।

वह चतुराई से नहीं, भक्ति भाव से रीझता है -- " चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाव ( कबीर ) वह सबकी चिंता रखता है । पर यह सब करने के लिए उसको कोई रूप धारण करना नहीं पड़ता । वह स्वयं प्रेम स्वरूप है । यदि संतो ने

---

1. दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना । राम नाम का मरम है आना । ( कबीर, बीजक )
2. परसुराम और रामचन्द्र भस्सु एकै बार । तौ रज्जन है देखि के, क्यों कहिए करतार ( रज्जब = सर्वांगी, 42 साखा 26 )
3. दस चौदह औतार काल के बसि में होई, पलट आगे मरि रह्यो आखिर मरना भूल ( बानी )
4. क॰ग्र॰ ( तिवारी ) रमैनी 2॰
5. जन की पीर हो राजा राम भल जाने ( कबीर )

सगुण नामों का प्रयोग भी किया है तो वे शब्द भी ब्रह्म वाचक है, विष्णु = विश्व में व्याप्त, कृष्ण = संसार का निर्माता, गोविन्द = ब्रह्माण्ड का धर्त्ता । राम = सनातन तत्व । अल्लाह = जो जननी के रूप में सभी को जानता है । खुदा जो दसों दरवाजों को खोलता है, रब = जो चौरासी लाख योनियों का पालन कर्त्ता है । करीम = जो सब कुछ कर रहा है । गोरख = ज्ञान से गम्य । महादेव = मन का ज्ञाता । नाथ = त्रिभुवन पति ।

नाम और रूप - ये दोनों ब्रह्म की उपाधियाँ हैं । इनमें से नाम को संत ने दृढ़ता से स्वीकार किया है । संत राम नाम रस के प्यासे हैं । गुरू नाम-मंत्र भी अपने शिष्य को देता है ।[1] नाम ही संत की पूँजी है । बिना नाम के मन को शाँति नहीं मिलती । नाम की महिमा के संबंध में सगुणवादी और निर्गुण-वादी दोनों एक स्वर हैं । इसके संबंध में निगम और आगम दोनों ही परंपराएँ एक हैं । नाम जप की साधना का भक्ति में केन्द्रीय स्थान है । बौद्धों नाथों और सिद्धों की साधना में भी नाम जप का महत्व है । संतों ने राम नाम की प्रतिष्ठा की ।

किन्तु सगुणवादी भक्तों ने पहले नाम और रूप को समान महत्त्व दिया । पीछे उनकी ध्यान-पद्धति राम के रूप पर केन्द्रित होती चली गई । निर्गुण सम्प्रदाय में राम के नाम को मंत्र की प्र-ष्ठिा प्राप्त हुई । संतों ने निर्गुण राम को शंकर के अद्वैत के संदर्भ में ही देखा । पुराण आदि में भी राम का निरूपण निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में हुआ है । स्तोत्र आदि में अद्वैतवादी शब्दावली राम-कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त मिलती है । संभवत: यह माना गया है कि सगुण मार्ग से भी निर्गुण को प्राप्त किया जा सकता है । कुछ शैव संप्रदायों में ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण दोनों

---

1. राम नाम के पटतरै देवे को कुछ नाहि । क्या लै गुरू संतों सिए हौंस रही मन मांहि । (कबीर, ग्र० (ग्र) 135.1)

की स्थीति मिलती थी । पराभक्ति में भी द्वैताद्वैत साथ रहते हैं । यही परंपरा निर्गुणियों तक चली आई है ।

संतो को निर्गुणोपासक कहा जाता है । संत का साध्य न तो ज्ञानियों का अद्वैत ब्रह्म है और न भक्तों का सगुण ब्रह्म । वैसे तो वह एक अद्वैत सत्ता है, पर प्रेम का वश्य भी है । दया, माया, ममता जैसे गुणों का वह आकर है । वह अपने भक्त के दुख दर्द को समझता है ।[1] राम का भक्त निःस्वार्थ है ।[2] भक्त का एक मात्र आश्रय राम ही है ।[3] वह चतुराई से प्रसन्न नहीं होता, प्रेम से ही प्रसन्न होता है ।[4] असहाय का वह दीनानाथ है ।[5]

संतो का अद्वैत इसलिए सहज है क्योंकि वह भक्ति का विषय है । भक्ति दर्शन में ब्रह्म को भक्ति के संदर्भ में ही देखा है । वह तत्वतः सर्वोणीध विनिर्मुक्त है । किन्तु वह भक्ति से सेव्य है ।[6] शैवों का भक्ति-मार्ग न शुष्क ज्ञान-मार्ग है और न ज्ञानहीन भक्ति-मार्ग । यही मार्ग निर्गुणिया संतो का है ।

---

1. जन की पीर हो राजा राम भल जानै । भगत का दुख राम जानै कहै दास कबीर ।
   ( क॰ ग्रंथावली, पृ॰ 125-286 ) तिवारी
2. बिन स्वारथ आदर करै सो हरि की प्रीति पिछानि । ( वही॰ 159-42 )
3. हरि बिन अपना को नही देखै तोकिबजाह । वही : 61 - 10॰
4. चतुराई रीझै नही, रीझै मन के भाव । ( वही 245-29 )
5. निस प्रेही निरधार का ग्राहक दीनानाथ । ( वही 225-17 )
6. सर्वोपाधि निर्मुक्त तत्पर त्वेन निर्मलम् ।
   हृषिकेश हृषिकेश सेवन भक्तिरुच्यते । ( भक्ति रसामृत सिंधु 1:12 )

सगुणवादियों में सहज दर्शन का पूर्णतः वैष्णवीकरण हो जाता है । शाक्त, नाथ तान्त्रिक प्रतीकों का भी वैष्णव प्रकृति में रूपान्तरण हो जाता है । इसकी भूमिका में सहजिया वैष्णव मत है ।

संतों ने निर्गुण राम के गुणों का वर्णन भी किया है । वह गुण निधान है । साध्य को सामाजिक संदर्भ में लाते हुए उसे दीनदयाल कहा । अर्थात् उसको उच्च वर्ग की परिधि से निकाल कर निम्न वर्ग का पक्षधर बना दिया । दीन का भयभीत रूप वह सहन नहीं कर पाता ।[1] भक्त के लिए वह नृसिंह हुआ । अनेक बार उसने प्रहलाद जैसे आर्त्त भक्तों का उद्धार किया ।[2] वही सब कुछ करता है और कर सकता है । चाहे तो दरिद्र को राजा बना दे और चाहे राजा को भिखारी बना दे ।[3] रैदास का साध्य करूणामय कृष्ण है ।[4] सहजो बाई का ब्रह्म अरूप होकर सरूप है, निराकार होता हुआ भी सर्वाकार, निर्गुण होकर भी गुणमय है ।[5] दयाबाई का ब्रह्म भयमोचन, व्यापक और दयासिंधु है ।[6] इस प्रकार अधम उधारन दयासिंधु, भयहरण, दाता, दुख निवारक जैसे विशेषण उस निर्गुण के गुणों का वर्णन करते हैं । वह निर्धन और निर्बल का एक मात्र हितैषी है जहाज के पंछी की तरह गरीब उसी के पास बार-बार आता है :

---

1. गोविंद हम ऐसे अपराधी, जिन प्रभु जीड पिंड थादीया, तिनकी भाव भगति नहिं साधी । दीन दयालु पिल दमोदर भक्तवंछल भय हारी । (क.ग्र. तिवारी पद 40)

2. - वही - पद. 263.

3. रंग निवाज करे राजेसु, भूपति करे भिखारी ।

4. वह रैदास कृष्ण करूणामय जै जै जगत अधारा । (संत वाणी, संग्रह, भाग-2 पृ 34

5. निराकार आकार सब निर्गुण औ गुनवन्त ।
है नरही सू रहित है, सहजो यो भगवन्त । (संत वाणी संग्रह : भाग - 1
पृ. 165 )

6. भयमोचन अरू सर्वमय व्यापक अचल अखण्ड ।
दयासिंधु भगवान जू, ताके सब ब्रह्माण्ड । (वही. पृ. 173.)

दूलन एक गरीब के हरि से हितू न और ।
ज्यों जहाज के काग कोसूझे और न ठौर ।[1]

और अंत में कह दिया गया है कि वह प्रेम मय है । उसकी जाती प्रेम है प्रेम उसका अंग है । प्रेम उसका अस्तित्व है । प्रेम ही उसका वर्ण है :-

इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग ।[2]

इस प्रकार संत का साध्य जीवन के सर्वोच्च मूल्यों से मंडित है ।

2·24 निर्गुण : प्रेमावलंबन :

भक्ति साहित्य की निर्गुण और सगुण धाराओं का भेद साध्यगत है । साध्य तक पहुँचने का मार्ग तो एक ही है -- भक्ति । पर साध्य का रूप एक नहीं है । साध्य के संदर्भ में द्वैत और अद्वैत शब्द चले आ रहे है । संत की प्रकृति द्वैत की स्वीकृति नहीं कर सकती । जो " दो " मानते हैं वे नरकगामी होते हैं ।[3] द्वैत की मान्यता अज्ञान से पैदा होती है । तत्व तो एक एक ही है ।[4] एकही तत्व अनेक में प्रतिभासित है जैसे कुम्हार एक ही मिट्टी से कई रूप गढ़ता है ।[5] जगत में जो कुछ है वह सब एक ज्योति की सृष्टि है ।[6] नाम की भिन्नता तत्व की भिन्नता

---

1· संत वाणी संग्रह : भाग - । पृ· 138
2· - वही - पृ· 63·
3· दो कहै तिनही कौ दो जग जिन नाहिन पहिचाना ।
4· हम हो एक एक करि जानौ ‖ वही, पद 76 - । ‖
5· एकै खाक गढ़े सब भांडे एकै को हरा ··· ‖ वही 76 - 4 ‖
6· एक नूर से सब कीआ ‖ पद 258·4 ‖

को सिद्ध नहीं करती - " कोई कहै कबीर कोई कहौ राई हो । " ‖ पद 53-12‖ मूल तत्व की सर्वव्यापकता में संत मानस का विश्वास है ।[1] इस मूल तत्व से मिलन के क्षण में भक्त वही हो जाता है और इस बात को कीट भृंग न्याय से प्रकट किया गया है । भक्ति साधना का लक्ष्य है - " अहंकार से मुक्त होकर " उस " में लीन हो जाना --

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा माहि
‖ सा॰ १॰2 ‖

इन सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि संत कवि अद्वैतवादी है साधना के रूप में योगियों की सहज समाधि की ओर भी संकेत मिलता है, किन्तु संत की साधना का रूपान्तरण प्रेम और भक्ति में हो गया है । इसीलिए " संत " वैष्णव है । भाव समाधि भी द्वैत की स्थिति से साधक को मुक्त कर देती है । यह भावात्मक अद्वैत की स्थिति ही प्रेम मिलन है । इससे पूर्व विरह की स्थिति है । ये दोनों ही स्थितियाँ संत कवि की भावात्मक सर्जना में रूपायित हुई है ।

इन भावात्मक स्थितियों में ही साहित्य और भक्ति साधना की संभावनाएँ छुपी हुई हैं । शुद्ध अद्वैत तत्व साहित्य सृजन की प्रक्रिया में नहीं आ सकता और भाव का आलंबन भी नहीं बन सकता । इसमें कोई भी संदेह नही है कि कबीर आदि से अंत तक भक्त हैं और उनका कवि व्यक्तित्व उनके भक्त व्यक्तित्व का ही दूसरा पक्ष है । कबीर ने भक्त के कई पर्यायों का प्रयोग किया है, हरिजन, हरि का दास, संत साधु, हरि भगत आदि । भक्त के लिए उन्होंने " जन " शब्द का भी प्रयोग किया है । " पिने जन, सोई जन तेरा, तेरा जन, राम जन, और हरि जन जैसे पदबंधों का उदाहरण देकर विलियम डायर ने यह माना है कि " वह राम के साथ विशेष आत्मीयता का सूचक

---

1॰ माहै पाती, मांहि जल माहै पूजन हार । ‖ सा॰१॰14 ‖

भी है । .... यह निष्कर्ष निकालना उचित है कि कबीर के हृदय में "जन शब्द के प्रति विशेष अनुराग था ।[1] परमात्मा के साथ आत्मीयता का अनुभव करना भक्त का एक लक्षण है । यह भक्त का रागात्मक विस्तार है ।. कबीर जन या भक्त को हरि का भावता कहते हैं । उसके लक्षणों का भी कथन करते हैं --

कबीर हरि या भावता दूरहि तै दी संत ।
तन खीना मन उनमुना, जगि रूहडा फिरंत ।
§ सा.4.26 §

भक्त कोई बाध्य लक्षण § = भेख § नहीं होता । भक्त का मन राम रस से लबालब होता है "जिहि घट राम रहा भरपूरि ।[2] दूसरी ओर भगवान भी भक्त वत्सल - कहैं कबीर हरि भगत वच्छल है, सौ संतन के माहीं ।[3] हरि की सेवा का उल्लेख करके भी कवि ने भक्ति भाव का महत्व ज्ञापित किया है ।[4] नारद की भाव प्रवण भक्ति का समर्थन कवि करते हैं ।[5] परम भागवत और ज्ञानी शुकदेव के भी कबीर प्रशंसक हैं ।[6] ये भागवत के वक्ता थे । शुकदेव का साक्ष्य देखकर कबीर ने यह सिद्धांत प्रकट किया --

काम मिलावै राम कौं : जो कोई जाने राखि ।
कबीर बिचारा क्या क्या करै, सुख देऊ बोले साखि ।
§ सा. 4. 40 §

---

1. कबीर की भक्ति भावना - पृ. 110.
2. कबीर पद. 30. 1. 4. § 3 § पद. 33.
3. पद. 33.
4. जिहि घट साधन पूजिव हरि की सेवा नाहि । से घर मरहट सारिखे, भूत बसै तिन माहिं । § सा. 4-6 §
5. भगति नारदी रिदै न आई, § काहि कीछ तनु दीना । § कबीर पद 867 §
6. कबीर पद 48.6-75-7.

शुकदेवजी गोपी कृष्ण की प्रेमलीला का अनुमोदन करते हैं । असंगति वहाँ नजर आती है जब कबीर काम और नारी-भोग की पूरी शक्ति के साद निंदा करते है । इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संत मानस विकृत काम और नारी संबंध के साथ कोई समझौता नहीं करना चाहता । किन्तु भक्ति साधना में काम और नारी दोनों की स्थिति से कबीर का परिचय है । साथ ही साधना की परंपराएँ भी उनके ध्यान में हैं, जिनके केन्द्र में काम और नारी है । प्रेम के कुछ प्राकृतिक प्रतीक भी उनकी कल्पना में तैर आते हैं :

कमोदिनी जल हरि बसै, चंदा बसै अकास ।
जो है जाका भावता, सो ताही के पास । ‖ सा॰226 ‖

इसके दूरी को प्रेम साधना का बाधक नहीं माना गया है । भक्त और भगवान के बीच की दूरी भी भक्ति साधना में बाधक नहीं होती । भक्ति के पर्याय भी संत साहित्य में मिलते हैं । स्नेह इनमें प्रमुख है । भक्त ही नहीं कबीर के राम भी " सनेही " ‖ = स्नेहमय ‖ हैं ।

काल सिरहानै है खड़ा जागि पियारे मित ।
राम सनेही बाहिरा, तूं क्यों सोवे निचिंत । ‖ सा॰15॰1 ‖

एक और शब्द प्रेम है । प्रेम के बिना जीव यमपुर में बंध जाता है । कबीर ने प्रेम का विस्तृत निरूपण किया है । " कहै कबीर प्रेम नहिं उपजै तौ बांधे जमपुर जासी " ‖ पद॰ 179-10 ‖ भक्ति का एक और पर्याय है । " प्रीति " रामु से " प्रीति " जोड़ने की बात कबीर ने कही है - " प्रीति न जोड़ी राम सौं, रहनि कहाँ ले होई । " इसी प्रीति के संदर्भ में कबीर के भीतर चिरंतन नारी भाव जग जाता है और लौकिक शब्दावली में प्रकट होता है । कबीर को सभी "उसकी" नारी कहते है । किन्तु शैया पर एकमेक होना आवश्यक है --

सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको यह अंदेह रे
एकमेक ह्वै सेजन सोवै तक लागि के साने हरे ।

यह विरह संदर्भ की अनुभूति है । अभिलाषा जगती है -- " अवि-नासी दुल्हा कब मिलि है " § कबीर पद 15. 1-5 § दास्य वात्सल्य जैसे भाव संबंध भी घटित होते हैं, किन्तु दाम्पत्य भाव में संत का मानस तल्लीन या " लौलीन हो जाता है और निर्गुण का " शून्य " रस से भर जाता है ।

कबीर आदि संतों ने अपने साध्य को मूलतः निराकार और सूक्ष्म ही माना ।[1] अंततः निराकारा ब्रह्म एक दार्शनिक उपचार के रूप में रह गया । संत की आत्मा विरहिणी होकर अपने प्रियतम के प्रति उत्कंठित हो उठी है ।[2] वह रागात्मक संबंध भावना भक्ति की देन है, ज्ञानवादी तत्व ज्ञान की नहीं । इसमें भक्ति की तरलता और प्रेम का आवेग ही है । उनका निर्गुण साध्य किन्हीं अज्ञात प्रेरणाओं के कारण भक्ति और प्रेम का आलंबन बन गया है । " निर्गुण उपा-सना का अधिकांश संबंन्ध ज्ञान मार्ग से है । किन्तु जब भक्ति अथवा प्रेम का उद्रेक हृदय में होता है तब सगुण उपासना ही सामने आती है । ... निर्गुणवादी होकर कबीर साहब को इस पथ का पथिक होना पड़ा ।[3]

संत का सगुण भक्त के सगुण से भिन्न है । संत भक्ति क्षेत्रीय लीलावाद और अवतार से समझौता नहीं कर पाता ।[4] इनकी मान्यता में योग मार्गीय वैराग्य

---

1. जाके मुँह माथा नहीं, नाही रूप कुरूप । पुहुपवास ते पातला, ऐसा तत्व अनूप ।
§ क.ग्र. 60 §
2. है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि सूँ कहै सुनाई रे ।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिनु देखे जिय जाइ रे ।
3. हरि-औध, रसकलस पृ. 177.
4. नां दसरथ धरि औतरि आवा । ना लंका का राव सतावा ।
नहीं देवकी गर्भहि आवा । नाहि जसोदा गोद खेलावा । ना वो ग्वालन के,
संग फिरिया । गोवर्धन लेजाकर धरिया । बावन होय नहीं बलि छलिया ।
धरनी वेद लेन अवतरिया । गंडक सालिग्राम न कोला । मच्छ कच्छ है न लहि न होला
§ क.ग्र.पृ. 242/3 §

भावना और मूर्तिपूजा का इस्लामी विरोध आड़े आ जाते हैं । इवतारी विष्णु की मान्यता संत मानस में नहीं है । उनका गोविन्द वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया : उनका राम वह है जो सनातन तत्व है ... महादेव वह है जो मन को जानता है ।[1] वेदांत का विकास दो धाराओं में हुआ 1. निर्गुणपरक वैष्णववाद तथा 2. अवतार लीलावादी वैष्णववाद । पहली धारा एक दर्शन का पुराण निरपेक्ष विकास है : ज्ञान + योग + भक्ति + प्रेम निर्गुणिया वैष्णववाद । दूसरी धारा पौराणिक संबल को लेकर चली, जिसमें " अवतार " सिद्धांत और " लीला " तत्व दृढ़ता से गृहीत हैं । इस दूसरी धारा में ज्ञान योग के स्वीकृत होने का प्रश्न ही नहीं । उनका पर्यवसान या विलय समग्र रूप से भक्ति में हो गया है । निर्गुणिया वैष्णव धारा में ज्ञान और योग के तत्व विलसित तो है, पर उनका अस्तित्व शेष रूप से पर्यवसित नहीं हो जाता है । इसीलिए उनका साध्य भावालंबन भी है और इन्द्रियों से अतीत भी है।। सगुणियों का साध्य मात्र भावालंबन है । लीला के झिलमिल आवरण में निर्गुण निराकार तत्व अन्तर्निहित रहता है । ध्यान में केवल सगुण रह जाता है । भक्ति रस शास्त्र निर्गुण ब्रह्म को कोई स्थान प्राप्त नहीं है । भाव (स्थायी) और विभाव (आलंबन) के रूप में श्रीकृष्ण या राम की प्रतिष्ठा है । राम भक्ति शाखा की रागानुगा भक्ति का मूल उत्स भी श्रीकृष्ण परक रागानुगा भक्ति में ही हैं ।[2] यह मर्यादावादी वैष्णववाद का मधुर संक्रमण ही है । इस विवाद में " गुण " शब्द विचारणीय है । भारतीय चिंतन परंपरा में इसके अनेक अर्थ मिलते हैं । सांख्य के अनुसार सत्, रज, तम् ये तीन गुण हैं और इनके संघात का परिणाम ही सृष्टि है । " पुरुष " इनसे परे है । एक दृष्टि यह भी मिलती है कि जीव में गुण हैं और ईश्वर गुणी है । प्राकृतिक गुणों के न होने पर ईश्वर "निर्गुण" है ।[4] प्राकृतिक गुणों के अतिरिक्त कुछ अन्य गुण भी हैं । " माया " इस गुण

---

1. द्विवेदी, कबीर, पृ. 116 (क.ग्र. पृ. 242/3)
2. डा. भगवती प्रसाद सिंह, राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय (पृ. 151)
3. रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया । (क.पद. 32.5)
4. रज गुण, तमगुन, सतगुन कहिए यह सब तेरा माया ।

पाश में जीव को उलझा लेती है और परम फल बाधित हो जाता है ।[1] इसीलिए कबीर ने माया को महा ठगिनि कहा है — " माया महा ठगिनि हम जानी । " इस अर्थ में संत निर्गुणातीत या निर्गुण के उपासक हैं ।[2] सृष्टि के साथ इस निर्गुण का कोई तात्विक प्रयोजन नहीं है, फिर भी सृष्टि को वह अनुशासित करता है । यह कार्य " नट " के समान है जो स्वयं खेल से निर्लिप्त होते हुए भी खेल करता है ।[3] कबीर निर्गुण को नाम रूप आदि उपाधियों से भी परे मानते हैं ।[4] यही कबीर की निर्गुण कथा, है जिसे समझना दुष्कर है ।[5] जो त्रिगुण मय है, वह नश्वर है । ब्रह्म, विष्णु और महेश में भी इसी लिए कबीर का विश्वास जम नहीं पाता ।[6] द्वन्द्व तब प्रकट होता है जब कबीर कहते हैं -- " हरि के गुण अनन्त ।[7] साथ ही ये गुण बिलक्षण और अनोखे हैं ।[8] इन गुणों का गान केवल जिव्हा के द्वारा संभव नहीं है --- बिन जिभ्या गावै गुण रसाल ( पद॰ 148॰ 2॰3 ) क्योंकि राम के गुण प्राकृतिक नहीं है । गुण इतने अनन्त है कि इनका कथन या लेखन संभव ही नहीं है ।

सात समुद की मसि करौ, लेखन सब बन राई ।
धरती सब कागद करौ, हरिगुन लिखा न जाई ।।
( सा॰ 8॰2 )

---

1॰ निरगुन कांसि लिए कर डोले कोले मधुरी बानी ।

2॰ निरगुन राम जपहु रे भाई । ( पद॰ 253॰ 1॰ )

3॰ कबीर रमैनी, 16-3-4॰

4॰ त्रगुन बिहून का पेखिए, का कहि धरिए लाऊँ । ( र॰ 4-7 )

5॰ तेरी निरगुन कथा कवन सौ कहिऔ कोई चतुर विवेकी । ( पद॰ 134॰7 )

6॰ कबीर पद॰ 103॰ 5॰

7॰ साखी॰ 8॰ 2॰

8॰ राम गुन न्यारो न्यारो । ( बीजक, शबद॰ 18॰1 )

ये गुण तो छदय पर अंकित है -- " साई केरे बहुत गुण लिखे जो हिरदे मांहि ( सा॰ 244 ) गुणों की एक सूची भी दी गई है -- गियानी ( = ज्ञानी ), दयालु, उदार, समरथ, दाता सुख सिंधु, रहीम, सुखसागर, मूरत, परमानंद आदि । अन्य प्रेमपरक नाम भी है : सनेही, रचनहार, सिरजनहार, । इस प्रकार राम क्रियाशील भी है । यह पद्धति शांकर अद्वैत के विपरीत पड़ती है । अपनी इस अदभुत सगुणता के कारण निर्गुण राम उपास्य बन जाता है । भागवत और पांचरात्र पद्धति में ईश्वर की कल्पना सगुणता मूलक है । पांचरात्र में वासुदेव छ: गुणों से युक्त है : ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज ।[1] रामानुज ने परम तत्व के असंख्य गुणों की ओर संकेत किया है ।[2] शंकर के परब्रह्म को तो गुणातीत कहा किन्तु अमर ब्रह्म में गुण माने । रामानुज ने कल्याणादि सामाजोन्मुख गुणों की ओर संकेत किया । कबीर आदि संत रामानुजाचार्य के समीप मालूम पड़ते हैं ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि संतों की सगुणात्मक उक्तियाँ मात्र भावोद्रेक हैं । इनका संबंध तत्व की सगुर्णता से नहीं है ।[3] निरंजन पर गुणों का आरोप भक्ति-जन्य भावावेश का परिणाम है । भक्त के भावों में गुण है, भगवान में नहीं । गुण कल्पना राम के पास पहुँचने की सीढ़ी है । किन्तु यह भी निश्चित है कि पुराणोक्त सगुण तत्व कबीर को स्वीकार्य नहीं हैं ।[4] और यह भी कि निर्गुण पूर्णत: निषेधात्मक अर्थवाला शब्द नहीं है क्योंकि कबीर सत्व, रज और तम इन गुणों के अतिरिक्त राम के सामर्थ्य, सौन्दर्य और प्रेम आदि गुणों का निरंतर गायन करते हैं ।[5] ये गुण मनोसामाजिक संदर्भ में " नाम " ग्रहण करते हैं । कबीर के निर्गुण ब्रह्म उनके कृतित्व में मनो-सामाजिक परिणति प्राप्त करते हैं ।

---

1. विष्णु पुराण 6·5·85·
2. ब्रह्मणोडनन्तेन कल्याणभंजेन, विशिष्टं सिद्द । ( श्री भाष्यम् 3·2·25 )
3. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परंपरा इलाहाबाद· ( 1964 पृ· 192 )
4. डा· सत्ताम सिंह, कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त ( पृ· 427 )
5. बिलियम डायर : कबीर की भक्ति भावना । पृ· 34-35·

अद्वैतवादी परम तत्व सर्व निरपेक्ष है । वह भाव साधना का लक्ष्य और लोक मानस का काम्य नहीं हो सकता । कबीर लोक के व्यापक परिवेश के प्रति सजग- और सचेत है । उनकी राग साधना और सौन्दर्य तात्त्विक सृजन-दृष्टि अद्वैतवाद और लोक संग्रह के सामंजस्य पर केन्द्रित रहती है । कबीर अंतत: भाव जीवी हैं : उनकी बुद्धि भी उनकी लोक भावना से नियन्त्रित है । भक्ति आंदोलन और भक्तों की आध्यात्मिकता लोक-संग्रह से परिपुष्ट होकर चलती है । आंदोलन के सामाजिक प्रकार्य है, व्यक्तिगत नहीं । कबीर " राम " " गोविन्द " जैसे व्यक्तिवाचक नाम प्रतीकों को पसंद करते हैं, चाहे वे दशरथ सुत और वसुदेव सुत न हों । वे राम पूर्ण परात्पर, अन्तर्यामी, अविनाशी, इसके चुनाव के संबंध में कबीर ने अपना मत इस प्रकार दिया, है -

अविगत, अपरंपार ब्रह्म ग्यान रूप सब ठाम ।<br>
बहु विचार करि देखिया कोई न सारिख राम ।। ॥ र•2•5•6॥

अर्थात् कबीर ने बहुत सोच विचार कर " राम " प्रतीक को चुना है । कबीर ही क्यों समस्त निर्गुणिया संत-मानस इस प्रतीक की शीतल छाया में विश्राम पाता है । इसमें लोक संग्रह की सूक्ष्म भावना संलग्न है । इसी भावना ने " राम " प्रतीक को बहु आयामी बनाया है । एक ओर यह अद्वैत से जुड़ता है तो दूसरी ओर लोक से । लोक मानस का भी इस नाम प्रतीक से पूर्ण तादात्म्य है । इसीलिए यह गहन तत्व को प्रेषणीय बनाने की संभावना से युक्त है । " राम नाम " के व्यापक " मरम " ॥ = मर्म ॥ को संत मानस ने पहचान लिया । इसमें तत्व की निरपेक्षता और सापेक्षता दोनों का संगम है ।

## 2•25 ज्योति रूप :

प्रश्न है - निर्गुण के " रूप " का । निर्गुणियों ने परमतत्व को ज्योति स्वरूप माना है । यह उपमान के रूप में ही चाहे आया हो, किन्तु उसके रूप को यह उपमान अनुभूत बनाता है । इस प्रतीकात्मक उपमान की स्थिति श्रौत परंपरा में भी

मिलती है ।[1] प्रकाश से भारतीय देवत्व का घनिष्ट संबंध है । दिव्य, देव,जैसे शब्द इसके प्रमाण हैं । संत का ध्येय तत्व ज्योति स्वरूप है । यह अद्वैत का प्रतीक है । ज्योति का वाचक शब्द तेज है । इसके आधार पर कृष्ण अपने को निरूपित करते हैं । - " तेजस्तेजस्विनामहम् "[2] और तेजो राशि सर्वतोदीप्तमन्त दीप्तानलीक द्युतिम । "[3] यहाँ तेज के साथ दीप्ति, अनल, द्युति जैसे शब्द भी आए हैं । कबीर का साध्य भी " तेज " रूप है जो चर्म चक्षुओं से नहीं अनुभव से साक्षात्कृत होता है --

पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान ।
कहिनों की सीमा नहीं, देखैं ही परवाना ।[4]

इसके माध्यम से संत की रूपानुभूति व्यक्त होती है । परम ज्योति का साक्षात्कार समाधि के क्षणों में ही होता है ।[5] घट-घट में इसी ज्योति की व्याप्ति है ।[6] सूफियों की वाणी में यही " नूर " है । कबीर का ब्रह्म जब सृष्टि संदर्भ करता है तो " नूर " के रूप में ही उसकी प्रक्रिया चलती है । साधक इसी ज्योति में ध्यानस्थ होता है । साधक के मन में तत्व का प्रकाश फैल जाता है - "अन्तर जोतिराम पर गासै " ( पद. 112. 2 ) साधना का लक्ष्य इस ज्योति में स्थित हो जाना ही है । कबीर ने तत्व को जोति अखण्ड जोति, परम जोति, अनंत जोति कहा है । ज्योति के विशेषण ब्रह्मवाची हैं । अंतिम अवस्था में भक्त इसी ज्योति में लीन हो जाता है - मटुकी फुटी जोति समाजी । ( पद. 127.4 )

---

1. ऋग्वेद : 6.9.5-6, में अग्नि को ज्योति : स्वरूप माना है ।
2. गीता ( 7.10 )
3. - वही - 11. 17.
4. साखी 9. 2.
5. दसवाँ द्वारा दे हुए तामैं ज्योति पिछानि ( सा. 26.21 )
6. एकहि ज्योति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई । ( पद. 105.9. )

साध्य के रूप निर्धारण में सन्त एक मानसिक द्वन्द्व की स्थिति से गुजर रहा था । उसका संबंध ज्ञान और योग की परंपरा से है, और यह संबंध शास्त्रीय आधार पर नहीं गुरू-मुख ज्ञान के आधार पर है । तात्त्विक गहराई में न जाकर संत को अनुभव, ज्ञान और व्यवहार के आधार पर साध्य को अंतिम रूप देना था । औपचारिक रूप से संत अद्वैत और निर्गुण को पकड़े रहा किन्तु युग धर्म के रूप में उसनें भक्ति और प्रेम के दर्शन से अपना संबंध जोड़ा । निर्गुण और निराकार भक्ति से अपना संबंध जोड़ा । निर्गुण और निराकार भक्ति और प्रेम का आलंबन नहीं बन सकता । इसलिए उसने अपनी साधना के अनुसार ब्रह्म के साथ प्रेम का संबंध जोड़ा । प्रेम का आलंबन बनने पर निर्गुण और निराकार सगुण और साकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से छवियाँ ग्रहण करने लगा । उसकी समाजोन्मुख चेतना ने ब्रह्म की मानव रूप कल्पना भी किसी न किसी रूप में करके उसको मानवीय रूप में लाने का प्रयास भी संत ने किया । इस प्रकार संत ने हर प्रकार के आग्रह या दुराग्रह छोड़कर सहज रूप से साध्य की परिकल्पना को अपने काव्य में पुष्ट किया । संत और भक्त का साध्य इस विचार के द्वारा समान धरातल पर आ गया कि सगुण और निर्गुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं रहा ।

संत का राम ज्योतिमर्य है । यह साधक के मन को प्रकाशित करने वाली ज्योति है ।[1] इस ज्योति की अनुभूति संत करता है । साथ ही राम दयालु हैं । उन दयालु राम के दर्शन संत करता है ।[2] अर्थात् दृश्य और दर्शन करनेवाले की स्थिति परस्पर पृथक है । जिस मनुष्य में दया जैसे समाज सापेक्ष गुण मिलते है उनके हृदय में दयालु राम निवास करते है । मानव धर्म की पहचान भी दया ही है । कबीर की पृथकता की अनुभूति इस से भी प्रकट होती है कि वे प्रिय से मिलते समय अपनी अपात्रता का अनुभव करते हैं -- " धनि मैली पिंड ऊजला जारि सकै नहिं पाई ।[3] इसी प्रकार

---

1· अंतरि जोति राम परकां से, गुरमुखि विरलै जानी (क·पद· 112·2)

2· तब दयालु कौ दरसन कीजै । चौ· र· 23

3· सा· 9· 29·

जहाँ भावात्मक अद्वैतता संत की अनुभूति में आती है । वहाँ भावात्मक द्वैत की सात्विक पीड़ा का भी वह अनुभव करता है । इसी प्रकार सारी साधना विरह से भर उठती है यही द्वैत का आध्यात्मिक सौन्दर्य बोध है । ज्ञानात्मक अद्वैत सौन्दर्य मूलक संभावनाओं और भाव साधनाओं की अनुभूति से परे है । कबीर तो उसका दर्शन भी करता है -- " तब दयाल का दरसन कीजै । " ( चौ० र० 23 ) वास्तव में कबीर का किसी सुनिश्चित दर्शन प्रणाली के सैद्धान्तिक पक्ष से घनिष्ठ परिचय नहीं है । सामान्य ज्ञान की व्यावहारिक परिणति ही उनके साहित्य में मिलती है । यह ईश्वर और उपासक के बीच के भेद का ही परिणाम हो सकता है ।

उपनिषदों में भी इस अवस्था के प्रमाण मिल जाते हैं । ईश्वर और जीवात्मा पृथक सत्ता रखते हैं ।[1] एक वृक्ष की डाल पर बैठे हुए दो सखा सुपर्ण का रूपक भी इस स्थिति को स्पष्ट करता है ।[2] उपनिषद की यह धारा ही निर्गुणियों की तात्विक कल्पना को प्रभावित करती रही । इसी में ब्रह्म की मानव सापेक्ष भावना की संभावना अंतर्निहित है । ईश्वर का समान व्यक्तित्व इनके सृजन में झांक - झांक उठता है ।

## 2·26 आधुनिक विचारक संत का साध्य :

भक्त कवियों के साध्य की अवधारणा का जो विकास और स्वरूप देखा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि भक्त मानस किसी निरपेक्ष (Exclusive) आदि दैविक सत्ता को साध्य मानकर नहीं चलता । उसका साध्य समाज की सापेक्षता में व्यक्तित्व के गुणों से युक्त होकर प्रकट होता है या इस रूप में उसकी व्याख्या की जाती है । समाजोन्मुख और मानवपरक ईश्वर की यह कल्पना बहुत पुराने समय से ही मिलती है । एक बिंदु वह आता है जब ईश्वर और मानव में अभेद हो जाता है । यह स्थिति औपनिषदिक ब्रह्मात्मैक्य की स्थिति से सर्वथा भिन्न है । यह मनुष्य की एक भावात्मक या

---

1· श्वेताश्वतरोपनिषद 1·8, 1·9·

2· - वही - 4· 9· 7·

बुद्धिपरक प्रक्रिया का परिणाम है । साथ ही निरपेक्ष ब्रह्म की स्थिति से सामान्य जन इसलिए संतुष्ट नहीं होता कि वह उसकी पहुँच से बाहर होता है । इस स्थिति को निर्विकार निराकार, निर्गुण जैसे औपनिषदिक विशेषणों से बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है । इस पीड़ा का परिणाम ही साध्य सत्ता का मानवाकार है । स्वयं उपनिषद भी तात्विक अद्वैतता और निराकारता के कथन के साथ-साथ सगुणवादी कथन भी कर देता है । इस पर विचार हो चुका है । वेद, पुराण और साहित्य में मानवाकार ईश्वर की परिकल्पना ही मिलती है । इसका तत्वज्ञ विरोध भी करते हैं किन्तु एक बड़ा जन समुदाय मानवीय गुणों से उदात्त और मानवीय व्यक्तित्व से युक्त ईश्वर में विश्वास करता है । इस जन समुदाय की भावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती । आज बहुमत इसी भाव से भावित जन समुदाय का ।

आधुनिक युग में हमारे देश के प्राय: सभी अग्रदूतों की दृष्टि इसी प्रकार दिखाई पड़ती है । इन विचारकों के विचार केन्द्र में जन सभा और समाज है । इन्ही सूत्रों पर ईश्वर की परिकल्पना ठहरी हुई है । जब राजा राम मोहन राय के पश्चात् ब्रह्म समाज का कार्य भार देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने संभाला । उन्होंने इस अवसर पर अपने मन्तव्यों को व्यक्त किया था । आधुनिक युग के युग धर्म को देखते हुए उन्होंने रूढ़िबद्ध शास्त्रीय ज्ञान के स्थान पर तर्क पर अधिक बल दिया था । ईश्वर के संबंध में ब्रह्म समाज के प्रतिज्ञा पत्र में उन्होंने ये धारणाएँ व्यक्त की थीं " ईश्वर एक वैयक्तिक सत्ता है जो श्रेष्ठतम नैतिक गुणों से विभूषित है । ईश्वर ने कभी कोई अवतार नहीं, लिया । ईश्वर प्रार्थनाएँ सुनता है और उनका उत्तर भी देता है । मंदिर तथा पूजा पाठ के निश्चित स्थान अनावश्यक हैं । सभी जातियों और सभी नस्लों के व्यक्तियों को ईश्वर की आराधना का अधिकार है । प्रकृति और अन्त: प्रज्ञा ईश्वर ज्ञान के स्रोत है । कोई भी ग्रंथ प्रामाणिक नहीं है ।[1]

---

1. श्री के. दामोदरन के द्वारा भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 369 पर उद्धृत ।

यदि विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाय, कि साध्य परिकल्पना से मिलती हुई है । अंतर इतना है कि कभी सामान्य भक्ति बोलती है और कभी निर्गुणिया भक्ति । निर्गुणवादी संतों ने अपने को वैष्णव कहते हुए भी विष्णु के अवतारों में विश्वास व्यक्त नहीं किया था, यद्यपि अवतारवाद के कुछ तत्व भी उनकी विचारणा में सिम्मिलत थे । मध्यकालीन भक्त की भाँति देवन्द्र नाथ ठाकुर ने भी शास्त्र ज्ञान की उपेक्षा की । इस प्रकार हम कह सकते है कि ईश्वर संबंधी आधुनिक भावना पूर्णत: आधुनिक है । यह मानव प्रकृति का व्यक्ति रूप भगवान आधुनिक तर्क को निश्चित रूप से संतुष्ट करता है ।

जिस प्रकार आर्य समाज ने ईश्वर के संबंध में सनातन धर्म की मान्यता को अमान्य ठहराया वही ईश्वर देवेन्द्रनाथ ठाकुर का है । सनातनी हिन्दू धर्म से अपने मत की भिन्नता बताते हुए उन्होंने कहा : " हमारे पंथ का एक सकारात्मक पहलू है जिसके अनुसार पूजा आराधना की परिभाषा यह है कि ईश्वर से प्रेम किया जाय और ऐसे कार्य किए जाएँ जो ईश्वर को प्रिय हैं । हमारे पंथ का नकारात्मक तत्व हमें किसी भी मानव सृजित सत्ता अथवा वस्तु की पूजा करने से वर्जितकरता है : वे सनातनी अवतारों में विश्वास करते हैं ये मध्यस्थों, प्रतीकों अथवा किसी भी प्रकार की मूर्तियों की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते अपनी आत्मा तथा परमात्मा के बीच सीधे तादात्म्य के रास्ते में हम किसी भी मनुष्य, ग्रंथ अथवा मूर्ति को खड़े होने की अनुमति नहीं देते । "[1] यह स्पष्टीकरण भी भक्ति कालीन आस्तिकता के नैरन्तर्य की सूचना देता है ।

राजा राम मोहन राय भारतीय आधुनिकता के अग्रदूत कहे जा सकते हैं उनकी आधुनिकता में भी आस्तिकता अनुस्यूत है । संस्थागत धर्म के नामपर जो कर्मकाण्ड चलते हैं उनके साथ उनका कोई समझौता नहीं था । भक्त मानस की भी यही प्रतिक्रिया थी । साथ ही आस्तिकता के नाम पर एक तत्ववाद का वे समर्थन अवश्य करते हैं ।

---

1. भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 369. पर उद्धृत ।

यहाँ तक कि एक शाश्वत सत्ता की ओर उन्मुख होना मनुष्य की वे सहज प्रवृत्ति मानकर चलते हैं ।[1] कट्टर पंथियों से उनको बेहद चिढ़ थी और एक तत्व पर उनकी आस्था थी जिसका प्रयोग वे कट्टर वादियों के विरोध में करते थे । ईश्वर एक है एक ही रहेंगे । किन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे मानवीय मूल्यों का संदर्भ ईश्वर के साथ भी नहीं भुला पाते । जिस विश्व धर्म की कल्पना उनके मन में झूल उठी थी उसके दो ही आधार थे एक ईश्वर-मानवीय मूल्य । उन्होंने जनता का आह्वान किया कि वे मूर्तिपूजा व बहुदेववादी कर्मकाण्डों को त्याग दें और शुद्ध निराकार ब्रह्म की उपासना करें, जिसका अर्थ यह था कि प्रत्येक मानव प्राणी में ईश्वर का साक्षात्कार करें ।[2] इस कथन में मूल सूत्र वे ही हैं जो भक्तों के थे । यद्यपि निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का विधेय है उपासना का नहीं किन्तु राजा राम मोहन राय ने निर्गुण की उपासना की चर्चा उसी प्रकार की जिस प्रकार कबीर ने की थी । साथ ही ईश्वर और मनुष्य को परस्पर एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा । उनका विरोध कदाचित सगुण से था जिसके मंदिर बनते हैं, जिसके साथ कर्मकाण्ड लगे रहते हैं और मंदिर कुछ वर्गों के लिए अगम्य बन जाते हैं । इन प्रगतिशील प्रतिक्रियाओं के साथ राममोहन राय की विचार-धारा मिल नहीं सकती थी । दामोदरन ने स्वीकार किया है राजा राम मोहन राय भक्ति आंदोलन के कबीर, चैतन्य तथा अन्य धार्मिक सन्तों के समृद्ध मानवतावादी परंपरा के जो रामानुज और रामानंद जैसे वेदांतियों द्वारा प्रतिपादित औपनिषदिक एक तत्ववाद पर आधारित थीं उपासक थे । इस अर्थ में राजाराम मोहन राय द्वारा चलाया गया आंदोलन भक्ति आन्दोलन की अगली कड़ी थी ।[3] एकेश्वरवाद मानने में उनकी यह भी दृष्टि थी कि यह ईसाई एकेश्वर वाद के समान धरातल का एकेश्वरवाद और मुस्लिम और निर्गुणिया संतों के एकेश्वरवाद एकतत्ववाद के समीप आ गए थे ।

प्रार्थना समाज के संस्थापक रानाडे ने भी ईश्वर की परिकल्पना इसी प्रकार की । उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार है :-

---

1· दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा पृ· 386·

2· भारतीय चिंतन परंपरा-पृ- 369·

3· - वही - पृ· 363·

1· ईश्वर एक ब्रह्माण्ड का रचयिता है ।

2· ईश्वर की आराधना से ही इस ससांर और दूसरे संसार में सुख प्राप्त हो सकता है ।

3· ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा, उसमें अनन्य आस्था प्रेम, श्रद्धा और आस्था की भावनाओं सहित आध्यात्मिक रूप से उसकी प्रार्थना और उसका कीर्तन, ईश्वर को अच्छे लगनेवाले कार्यों को करना यह ही ईश्वर की सच्ची आराधना है ।

4· मूर्तियों अथवा अन्य मानव सृजित वस्तुओं की पूजा करना, ईश्वर की आराधना का सच्चा मार्ग नहीं है ।

5· ईश्वर अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है : जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा अथवा प्रकाशित किया हो, अथवा जो पूर्णत: दोष रहित हो' ।

6· सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तान है अत: उन्हें बिना किसी भेद भाव के आपस में भाई-भाई की तरह व्यवहार करना चाहिए । इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और यही मनुष्य का कर्तव्य है ।[1] मूर्ति पूजा के साथ इनका भी कोई समझौता नहीं था । वास्तव में एक तत्ववाद या एक ईश्वर की मान्यता इस पृष्ठ भूमि में भी अनेक देवी देवता दिखलाई पड़ते हैं । इसलिए एक ईश्वर की ओर जनता को मोड़ना सुधारवादी नेता का धर्म बन गया । केरल में नारायण गुरू ने नारा दिया सभी मनुष्यों के लिए एक जाति, एक धर्म और एक ईश्र हो । नारायण गुरू के सुधारवादी कार्यक्रम के संबंध में डा·दामोदरन का मत इस प्रकार है । " केरल के निवासी असंख्य देवी देवताओं की पूजा करते थे । नीची जातियों और जाति बहिष्कृत लोगों के स्वयं अपने आदिम देवी देवता थे और उच्च वर्ग के लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे । नारायण गुरू ने इन देवी देवताओं की पूजा को निरूत्साहित किया । उस समय की परिस्थितियों में स्थानीय देवी देवताओं को हटाकर उनके स्थान पर एक ही ईश्वर को प्रतिष्ठित करना, जनता को एक जुट करने में सहायक सिद्ध हुआ ।[2] एक प्रकार से एक ईश्वर का विश्वास आंदोलन की पृष्ठभूमि का प्रमुख तत्व था । किन्तु नारायण गुरू ने मूर्ति पूजा का विरोध नहीं किया । उन्होंने ऐसे नये मंदिरों की स्थापना की जिसमें हर जाति व

---

1· प्रार्थना समाज रिपोर्ट : 1911 - 12 जे·एन·फर्कहार द्वारा मार्डन रिलीजस मूवमेंट्स इन इण्डया में उद्धृत पृ· 60·

2· भातीय चिंतन परंपरा - डा·दामोदरन पृ· 386·

हर वर्ग के लोग बिना किसी भेदभाव के पूजा समर्पित कर सकते थे । एक प्रकार से उन्होंने ब्राह्मण रहित मंदिर की स्थापना की और जनता ने इन मंदिरों का स्वागत किया ।

इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ की ईश्वर संबंधी धारणाओं को देख लेना उचित होगा । रवीन्द्र के दर्शन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य या ईश्वर नहीं स्वयं के प्रति रवीन्द्र की अवधारणा उनके मानवतावाद से प्रभावित थी । उनके लिए ईश्वर मानव की एकता और मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रतीक मात्र था । उन्होंने कहा वह जिसे परम और पूर्ण कहते हैं सर्वोच्च मनुष्य है मानवीकृत रूप है ।[1] रवीन्द्र नाथ ठाकुर आध्यात्मिक आकांक्षाओं और ईश्वर की अवधारणा का मूल स्रोत आदिम मनुष्य द्वारा एकता की भावना को मानते थे । उनके अनुसार ईश्वर का सत्य मानव का सत्य है । एक बार आइन्स्टीन से उन्होंने कहा था " यदि कोई ऐसा सत्य है जो मानवता से पूर्णत: असंबद्ध है तो हमारे लिए वह पूर्णत: अस्तित्वहीन है । "[2] वे यह भी कहते थे कि सत्य का साक्षात्कार मानव समाज में ही किया जा सकता है । उनके अनुसार " सामाजिक साम्यवाद के व्यापक जीवन में मनुष्य एकता के रहस्य की उसी प्रकार अनुभूति से ही अपने ईश्वर की अनुभूति पर पहुँचा । अत: प्रत्येक धर्म का आरंभ स्वयं उसके कबीली ईश्वर से हुआ । "[3] अब वे आगे कहते हैं " हमारा ईश्वर भी मनुष्य है । यदि इस बात को मनुष्यत्वारोपण कहकर इसकी निंदा की जाती है, तो मनुष्य को इस बात का दोष देना होगा कि वह मनुष्य है, प्रेमी को इस बात का दोष देना होगा कि अपनी प्रेमिका से एक मानव के रूप में प्रेम करता है - केवल एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में नहीं ।"[4] इनके विचारों के संबंध में श्री दामोदरन की टिप्पणी दृष्टव्य है " रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने जिस काव्यात्मक शैली को अपनाया वह वैष्णव कवियों की शैली से बहुत मिलती थी । भक्ति काल के कवि तथा अन्य कवियों का प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट रूप से प्रकट है ।

---

1· दि रिलीजन आफ मैन : रवीन्द्रनाथ ठाकुर
2· रवीन्द्र नाथ ठाकुर : रिलीजन पृ· 225·
3· रवीन्द्रनाथ ठाकुर : क्रियेटिव यूनिटी - पृ· 22·
4· पृ· 214 रवीन्द्रनाथ ठाकुर : रिलीजन आफ मैन ।

स्वामी विवेकानन्द ने भी ईश्वर या आस्तिकता की कल्पना आधुनिक दृष्टि से ही की और वह बहुत कुछ भक्त कवियों की उदार दृष्टि का ही परिणाम है । जिस प्रकार भक्त कवियों ने राम, कृष्ण, शिव, शक्ति और अल्लाह सभी को समान रूप से साध्य रूप में देखा और इनके बीच भेद न मानकर अभेद की स्थापना की । उसी प्रकार विवेकानन्द ने कहा कि भगवान कृष्ण और शिव एक ही हैं, बुद्ध, ईसा, अल्लाह सब एक हैं और एक ही राम के सहस्त्र नाम हैं । [1] स्वामी विवेकानन्द ईश्वर संबंधी पृच्छा को लेकर ही रामकृष्ण परमहंस की शरण में गए थे । वह प्रश्न उन्हें बेचैन कर रहा था - " क्या आपने ईश्वर को देखा है ? " और उत्तर मिला " हाँ मैं ईश्वर को देखता हूँ । ईश्वर को देखा जा सकता है पाया जा सकता है, ।" [2] इस प्रकार राम कृष्ण ने आस्तिकता में अपना अटल विश्वास व्यक्त किया और विवेकानन्द की डिगती हुई आस्तिकता को दृढ़ किया । इस नई आस्तिकता ने विवेकानन्द को एक नई सार्थकता प्रदान की । रामकृष्ण परमहंस के निधन के पश्चात इस नई सार्थकता को विवेकानन्द ने रामकृष्णमिशन के रूप में साकार किया । उनकी दृष्टि में अंध विश्वास वर्तमान युग के प्रति सबसे बड़ा अपराध है अनीश्वरवाद से भी अधिक उनकी घोषणा है - मैं आप लोगों को अंध विश्वासी मूर्खों की बजाय पक्के अनीश्वरवादी ज्यादा पसंद करूँगा ।

यह कहीं ज्यादा अच्छा है कि तर्क और युक्ति का अनुसरण करते हुए लोग अनीश्वरवादी बन जाएँ बजाय इसके कि किसी के कहने मात्र से अंधों की तरह बीस करोड़ देवी देवताओं को पूजने लगें । [3] यह लगभग वैसा ही है जैसा कि भक्त कवि कहता है कि शाक्त ब्राह्मण की अपेक्षा चाण्डाल वैष्णव अधिक अच्छा है । क्योंकि वैष्णव का अपना तर्क है और वह पुरोहित वर्ग का नहीं है उसकी साधना पद्धति शाक्तों की भाँति अंध विश्वास पर आधारित और असामाजिक नहीं है । शाक्तों की गुह्य साधना के विरोध में स्वामीजी ने भी कहा गुह्यवाद और रहस्यवाद ने हमें लगभग नष्ट कर दिया है भले ही उनके कितने महान सत्य छिपे हों । वास्तव में गुह्य साधना का केन्द्र पूर्वी भारत और मुख्यत: बंगालही था ।

---

1· के·दामोदरन : भारतीय चिंतन परंपरा पृ· 371 पर उद्धृत ।

2· के·दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा पृ· 372·

3· सेलेक्शन्स फ्रॉम स्वामी विवेकानन्द पृ· 862·

स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म में विश्वास अवश्य करते थे इसके लिए उनके वेदान्तवादी संस्कार उत्तरदायी हैं । किन्तु यह ब्रह्म कोई अलौकिक और अतिमानवीय सत्ता नहीं है । यह पूछने पर कि तुम उस पुराने शब्द ईश्वर का क्यों प्रयोग करते हो कहा कि हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए वही सबसे अच्छा शब्द है । मानवता की समस्त आशाएँ आकांक्षाएँ और सहानुभूतियाँ इस एक शब्द में केन्द्रित हैं, जो कुछ भी महान और पवित्र है इस शब्द से संबद्ध है ।[1] इन शब्दों में स्वामी विवेकानन्द की अडिग आस्तिकता ध्वनित है । उनके ब्रह्म का मूलाधार मानवता ही हो गया है । ब्रह्म एक सत्ता न होकर एक प्रतीक बन गया । यही स्थिति कबीर के राम की है । विवेकानन्द का दृष्टिकेन्द्र मनुष्य ही है । उनकी ईश्वर की खोज मनुष्य की खोज में ही बदल गई । उन्होंने जन समूह का आह्वान किया कि वह मनुष्य में ही ईश्वर को खोजे । संसार से परे कोई ईश्वर नहीं है । उनको संसार की सृष्टि करनेवाला कोई ईश्वर मान्य नहीं है और उन्होंने इस ब्रह्मवादी वाक्य का भी खण्डन किया कि वह हाथों और मस्तिष्क की सहायता से कार्य कर सकता है ।[2] यह ब्रह्माण्ड किसी ईश्वर का बनाया हुआ नहीं है । यह विज्ञान का प्रभाव था ।

जिस प्रकार भक्ति के आचार्यों ने शांकराद्वैत का खण्डन किया उसी प्रकार विवेकानन्द ने शंकराचार्य के अद्वैत में आभूत परिवर्तनशील, शाश्वत और अमूर्त्त था किन्तु विवेकानन्द के लिए अद्वैत निरन्तर सक्रिय और गतिशील था । स्वामी विवेकानन्द दर्शन के क्षेत्र में भक्ति आचार्य और भक्तों की भाँति समन्वय शील थे । वे संकीर्णतावादी नहीं थे और ईश्वर के संबंध में भी उनका विचार उदार एवं सहिष्णु है । अद्वैत के संबंध में उनके विचार दृष्टव्य है – अमूर्त अद्वैत को हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन में सजीव काव्यात्मक शक्ति बन जाना चाहिए ।[4] उन्होंने भक्तिवादी अद्वैत को आज के वैज्ञानिक युग के उपयुक्त माना था । इसी प्रकार गांधी जी की वैष्णवता भी उपनिवेशवादी शोषण परक

---

1. भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 375 पर उद्धृत ।
2. स्वामी विवेकानन्द : दि वेदान्त लाहौर में 1897 का भाषण ।
3. के. दामोदरन भारतीय चिंतन परंपरा पृ. 376.
4. डीवर्ड वि. विद्यालय में दिए हुए भाषण का अंश ।

व्यवस्था में जन्मी थी और विवेकानन्द का अद्वैत बढ़ते हुए पूंजीवाद की व्यवस्था में पैदा हुआ था भक्तों का वैष्णवाद सामन्तवाद के पतनशील युग में पला था ।

किन्तु सामंतवादी प्रभाव से मुक्त भगवान भक्त कवियों के काव्य में विराजमान हैं । भगवान की यह वाणी - " मुझको कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में " सामंतवादी प्रकृति की नहीं है । ऐसा हो सकता है कि सामंत ने भक्ति की पद्धति को भी अपनी सीमाओं में समेटने का प्रयत्न किया है । मंदिर और मठों की व्यवस्था चाहे सामंतीय प्रकृति की हो भी गई हो किन्तु जहाँ तक भक्त के साध्य के सैद्धांतिक स्वरूप का प्रश्न है वह पूर्णत: मानवतावादी है । यही कारण है सामंत के ह्रास के बाद भी भक्त की पद्धति और साध्य की परिकल्पना आज भी हमारे राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक जीवन के साथ चल रही है । आधुनिक युग के नेताओं ने आधुनिक राष्ट्रीयदर्शन में इनको सम्मिलित किया और ज्ञान के पुन: प्रकाश में उसकी नई व्याख्या भी हुई ।

# अवतार : साध्य का लोक संदर्भ

## 5. अवतार : साध्य का लोक संदर्भ

प्रस्तावित

1. अवतार - प्रयोजन : लोकोन्मुख विकास
2. दशावतार परंपरा
3. अवतारी विष्णु
4. रामावतार
5. कृष्णावतार
6. सूर के कृष्ण क्रान्ति के संदर्भ में
7. अवतार कार्य : जन श्रुतियाँ
8. संत संबंध भावना : अवतार का विस्तार
9. गुरु और अवतार भावना

साध्य का स्वभाव और अवतार भावना

# अवतार : साध्य का लोक संदर्भ

## 0· प्रास्ताविक :

पिछले अध्याय में साध्य संबंधी विचार का अन्त विष्णु की एकांत प्रतिष्ठा में हुआ था । आधुनिक दृष्टि से विभिन्न सांस्कृतिक सूत्रों का समीकरण संग्रथन लौकिक संभावनाओं से युक्त अलौकिक बिन्दु पर हुआ । यह सांस्कृतिक संगम तत्कालीन " आधुनिक " प्रेरणाओं का ही प्रतिफलन था । साथ ही विष्णु में विष्णु की नराकार कल्पना ही नहीं हुई उनको उदात्त मानवीय भावों और मूल्यों से भी समन्वित कर दिया गया । इस प्रकार साध्य मानवीय संदर्भों के साथ सभी दृष्टियों से एकाकार हो गया । यद्यपि अवतार भावना को सन्तों के भक्त मानस ने पूर्णत: स्वीकार नहीं किया फिर भी अवतार एक व्यापक परिकल्पना का रूप ले सकी जिसके द्वारा एक ओर तो अलौकिक को लौकिक

प्रामाणिकता मिली और दूसरी ओर लोक मानस को अलौकिक तत्व से जुड़ने के लिए विस्तृत भूमिका प्राप्त हुई । भक्ति भावना का बहु आयामी विस्तार भी हुआ ।

1. अवतार का प्रयोजन : लोकोन्मुख विकास :

अवतार का प्रयोजन आधुनिक दृष्टि से व्याख्येय है । इसका बीज गीता में मिलता है । धर्म की रक्षा, भक्त जनों की रक्षा और दुष्ट बिनाश के लिए विष्णु का अवतार युग में होता है ।[1] अवतार प्रयोजन का यह रूप लगभग सभी सगुण भक्त कवियों ने दिया है । तुलसी ने भी "जब होइ धर्म की हानि" कहकर इसी प्रयोजन की ओर संकेत किया है । सूर ने गाय इत्यादि के बिम्ब के साथ इस प्रयोजन का कथन किया है । धरती गाय का रूप धारण करके विष्णु लोक उद्धार के लिए पुकार करती है ।[2] विष्णु समस्त पृथ्वी को आश्वासन देते हैं कि नराकार अवतार धारण करके असुर बध करूँगा और तेरा रक्षण और उद्धार भी होगा ।[3] प्रयोजन का विस्तार भी सूर ने किया । अभिशाप्त का उद्धार[4] (जयविजय का उद्धार) भावात्मक प्रयोजन - देवकी की साधना कि कृष्ण उनकी कोख से जन्म ले ।[5] तात्कालिक प्रयोजन - देवकी के कृष्ण पूर्व पुत्रों को कंस ने मार दिया था उनकी पुनः प्राप्ति के लिए देवकी ने पुकार की थी ।[6]

---

1. यदा यदा ही धर्मस्य 2 गीता ।
2. धेनु रूप धरी पुहुमी पुकारी (सू.सा.पद 622)
3. उधरौ धरनि असुर कुल मारों, धरि नरतन अवतारा (वही)
4. सू.सा. 620
5. - वही - 622
6. - वही - 622

इन्हीं प्रयोजनों से प्रेरित होकर कृष्ण ने अवतारधारण किया । प्रयोजनों की यही रचना राम के संदर्भ में भी घटित हुई - कुछ ऊपरी अन्तर मिलते हैं । देवकी की कोख से कृष्ण ने जन्म लिया । इस समय वे चतुर्भुज रूप थे देवकी ने उनसे प्राकृतरूप होने के लिए कहा और कौशल्या ने भी नवजात चतुर्भुज शिशु से द्विभुज होने की प्रार्थना की । -- " तजहुं तात यह रूपा " । तात्पर्य यह है कि शुद्ध मनुष्य रूप में विष्णु का जन्म हो गया विष्णु के साथ लगा हुआ ऐश्वर्य और उनका अलौकिकत्व पूर्ण रूप से हटा दिया गया ।

अवतार भावना अनेक रूपों में विकसित होती गयी जिसका संकेत आगे दिया गया है । किन्तु मुख्य रूप से राम और कृष्ण अवतार रूप में साध्य बने और उन्होंने " लीला के माध्यम से विश्व कल्याण की भूमिका बनाई । शील, शक्ति और सौन्दर्य के मानवीय मूल्य अनेक रूपों में प्रतिफलित होकर समाज की पुनर्रचना में प्रवृत्त हुए ।

राम और कृष्ण अन्ततः विष्णु के अवतार ही नहीं ब्रह्म और विराट पुरुष के रूप में भी कल्पित हुए । विष्णु के सारे गुणों का संक्रमण राम और कृष्ण में हुआ ही अन्य दार्शनिक विचार धाराएँ भी इनमें प्रतीकायित हुईं । इस प्रकार सारी विचार धाराएँ राम और कृष्ण में केन्द्रित हो गयीं और उनका लोक मंगल का सिद्धान्त अनेक रूपों में पुष्ट होता चला गया ।

## २. दशावतार : परंपरा :-

अवतारों की विभिन्न संख्याएँ पुराणों में मिलती हैं । [1] पर, आगे चलकर दशावतार की रूढ़ि स्थिर हो गयी । [2] जैन, बौद्ध और वैष्णव साहित्य में भी यही रूढ़ि लोक प्रिय हो गयी थी । [3] विद्यापति ने अपने आश्रय दाता शिवसिंह को एकादश अवतार कहा है । -- " राजा सिवसिंह रूप - नारायण - एकादस अवतारे ।" उससे उनका दशावतार बोध सिद्ध होता है । चंडीदास का भी दशावतार संबंधी पद मिलता है । ये दशावतार उनकी दृष्टि से श्री कृष्ण हरि के हैं । इस प्रकार श्री कृष्ण का स्थान दशावतार कल्पना में महत्वपूर्ण होने लगा । बैजू बावरा की एकादशावतार संबंधी रचनामिलती है । इसमें वासुदेव के अतिरिक्त उनके व्यूह को छोड़कर प्रकाशदश अवतारों का उल्लेख है । इसमें भी कृष्ण का महत्व ज्ञापित है ।

---

1. महाभारत के नारायणी योपाख्यान में चार छ: और दस की संख्या मिलती है । महा० ( 12.226. 103-104 ) में संख्या दस है । फिर नाम और संख्याओं में विषमता मिलती है । ( भंडारकर कलेक्टर वर्क्स, 4 पृ.56 ) वि.पुराण में दशावतार की चर्चा नहीं है । अग्नि, वराह, आदि परवर्ती पुराणों में दशावतार रूढ़ हो गए । श्रीमद् भागवत ( 10.2.40 ) में कृष्ण को छोड़कर नौकी संख्याहै । भाग, 10.40.16-22 ) हयग्रीव और चतुर्व्यूह के अतिरिक्त दशावतार क्रम है ।
2. देव गढ़ में दशावतार मंदिर है । इसका समय ईसा की छठवीं शती है । लक्ष्मण सेन के काल में दशावतार की मूर्तियाँ प्रचलित थीं । (प्रबोध चंद्र बागची, हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ.463 । वासुदेव उपाध्याय ( पूर्व कालीन भारत, पृ. 161 ) ने दशावतार मूर्तियों की चर्चा की है । " पृथ्वीराज विजय " ( पृ. 200, 2, 43 ) में दशावतार तावीज का प्रचलन ज्ञात होता है ।

दशावतार :-

सूरदास ने अवतार-क्रम तो ग्रहण किया है पर दशावतार की संख्या का परिपालन अनिवार्य रूप से नहीं किया । उन्होंने कृष्ण के पूर्व के अवतारों को बतला दिया है ।[1] कृष्ण पूर्व के अवतारों के परिगणन की प्रवृत्ति भागवत में भी दिखलाई पड़ती है ।[2] एक पद में सूर ने दस और चौदह अवतारों का उल्लेख किया है ।[3] सूर रचित, राग कल्पदम में उद्धृत एक पद में दशावतार है । अवतार क्रम कृष्ण के स्थान पर बलभद्र और बुद्ध के स्थान पर जगन्नाथ हैं ।[4] परमानन्ददास जी/का भी एक पद इसमें उद्धृत है ।[5] इसके अनुसार पुरुषोत्तम कृष्ण अवतार ग्रहण करते हैं । तुलसी ने राम की दशावतार परक स्तुति की है ।[6] इसमें राम अवतार लीला विस्तार करने वाले हैं । कृष्ण के स्थान पर " राधारामण " नाम दिया है ।

तुलसी का एक दोहा रूपकला के भक्तमाल में मिलता है ।[7] उसमें दो वन-चर, दो वारिचर, चार विप्र और दो " राउ " के रूप में अवतारों को वर्गीकृत किया गया है ।[8] केशवने " राम-चंद्रिका " में दशावतार गिनाए हैं ।[9] इन्होंने भी

---

1. सूर सागर । पृष्ठ 304, पद 10 127
2. भागवत 10/2/40
3. सू॰सा॰ पृष्ठ 126, पद 36
4. राग कल्पद्रुम जी॰ 1, पृष्ठ 443, पद॰ 2
5. राग क॰जी॰ 2, पृ॰ 88
6. विनय पत्रिका, पद 52॰
7. भक्त माल ( रूपकला ) पृ 48
8. भा॰102॰40 पर सुबोधिनी में वल्लभाचार्य जी ने जलजा, वनजा और लोकजा वर्ग दिये है ।
9. केशव कौमुदी, पूर्वार्ध, पृ॰ 360 - 361॰

राम को ही दशावतारों में अवतरित होने वाला कहा है । कान्हरदास जी की भी विचार धारा इसी प्रकार की है । [1]

निम्बार्की परशुरामाचार्य ने अपने परशुरामसागर में " दस औतारों को जोड़ो " शीर्षक के एक पद दियो है । इसमें बुद्ध के स्थान पर जगन्नाथ है । रीति कालीन देव ने दशावतार वर्णन रीति शैली में किया है । [2]

दशावतार कल्पना में कृष्ण का स्थान महत्व पूर्ण होता मिलता है । चंडीदास ने इनको श्री कृष्ण हरि का अवतार कहा है । इस प्रकार कृष्ण ब्रज भाषा-काव्य में मात्र अवतार नहीं, अवतारी बन जाते हैं ।

## 3·1 विष्णु : नारायण :-

ये दोनों नाम अभिन्न और एक ही देव के वाचक हैं । भागवत, पांच-रात्र, एकान्तिक सारस्वत तथा वैष्णव इन्हें सर्वोच्च देव मानते हैं । महाभारत नारायण का उल्लेख करता है । [3] यह माना जाजा है कि पहले नारायण ही महत्व पूर्ण देव थे । विष्णु की महत्ता पीछे का विकास है । [4] शतपथ में उल्लिखित [5] नारायण अवैदिक देवता है । यज्ञ के आधार पर नारायण ने ऊँचा स्थान पाया है । एक मत के अनुसार " नर " पर आधारित यह एक गोत्र का नाम है ।

---

1· राग कल्पद्रुम जी ।· पृ· 676 पर इनका पद

2· देव ग्रंथावली, पृ· 61 क 44·

3· भंडारकर वी·एस·एम·आरएस· पृ· 49·

4· Swir Jaswal: The origin and development of Vaisnavism, P.32

5· शतपथ ब्रा· 12· 3· 4· 16, 13-6· ।

दूसरे मत के अनुसार, यह देव द्रविड़ क्षेत्र से संबंधित है । और यह शब्द नार अय-अन के से बना है । नार= रीर, अय = रायन करन, अन = पुलिंग प्रत्यय नारायण वह देवता है जो जल में रहता है । " नार " = ( नीर ) का उल्लेख महाभारत में भी है ।[1] एक मत के अनुसार नारायण, नर का शरणं स्थल है ।[2]

नारायण के भक्तों के विषय में श्रीमद् भागवत का कथन है : ताम्रंवर्णी, कृतमाला ( वैगे ) पयस्विनी ( पालार ) कावेरी और महानदी ( पेरियार ) के तटों पर महान भक्त प्रकट होंगे ।[3] आलवारों का उदय दक्षिण की प्रसिद्ध , नदियों के तट पर ही हुआ । भागवत में यह भी संकेत है कि कुछ कवि महाराष्ट्र में भी होंगे । किन्तु अधिकाशं द्रविड़ प्रदेश में होंगे । भागवत महात्म्य के अनुसार नारद के द्वारा परिचय पूछे जाने पर एक देवी ने उनसे कहा : मैं द्रविड़ देश में पैदा हुई कर्नाटक में मेरी वृद्धि हुई और महाराष्ट्र में पुष्ट हुई और गुजरात में आते है ।[4] मैं जीर्णावस्था को प्राप्त हुई । वृंदावन में फिर से यौवन प्राप्त हो गया । मेरे दोनों बच्चों-ज्ञान और वैराग्य की मृत्यु हो गई ।

तमिल भाषा के सबसे प्राचीन ग्रंथ " तोलु काप्पियम् " में विष्णु को " मादोल " कहा गया है । इसका अर्थ है कृष्ण वर्णवाला । मायोन् " मल्ले-प्रदेश ( वन्य प्रदेश ) का उपास्य देव है । इस प्रदेश के लोग प्राय: पशुपालक होते हैं । इनका जीवन उत्तरापथ के ब्रजवासियों के समान मधुर, सरल सरस एवं विनोद पूर्ण होता है ।[5] तमिल कवि कपिलर ने अपनी रचनाओं में विष्णु का उल्लेख -

---

1. महा. 12-328. 35.
2. महा. 5 - 68 - 10.
3. भागवत, 11. 5. 38- 47
4. क्वचित् क्वचित्, महाराष्ट्रे, द्रविडेषु च भूरिक्ष ( वही )
5. डा. चन्द्रकान्त मुदालियर, तमिल और हिन्दी भक्ति साहित्य, पृ. 222.

( तोलगमीरयम् ) ( अग. 5 ) मायोन मेय काडुरेयुगगमृ )

" शिशुपाल " के नाम से किया है । तैत्तरीय आरण्यक में विष्णु और नारायण समान मानकर चला गया है ।[1] एक मिथक नारायण के संबंध में मिलता है : एकबार नारायण ऋषि यज्ञ के द्वारा और अपनी साधना से पर देव हो गए ।[2] नारायणोपाख्यानम् में नारायण की ब्रह्मोपासना का उल्लेख है । नारद ने नारायण के दर्शन श्वेत द्वीप में किए हैं । नारायण ने उन्हें वासुदेव की महिमा का बोध कराया ।

### 3•2 विष्णु : अन्य रूप :-

विष्णु का एक रूप धन्वतरि है ।[3] इनका संबंध आयुर्वेद से है । समुद्र मंथन के समय इनका उदय हुआ ।[4] समुद्र से निकलते ही इन्होंने विष्णु से अपने निवास के स्थान के संबंध में पूछा । विष्णु ने इनका स्थान यज्ञ के देवों में निर्दिष्ट किया ।[5] विष्णु के एक वरदान के फलस्वरूप बनारस के राजा के रूप में इन्होंने जन्म लिया और ये आयुर्वेद को धरती पर लाए ।[6] इस प्रकार वेद-परिवेश में भी इनको स्थान मिला और पंचम वेद के ये प्रणेता हुए ।

---

1• तैत्तरीय आरण्यक 212•

2• महाभारत, शांति पर्व, अध्याय 334•

3• विवरण : ब्रह्मपुराण, अध्याय 11, वायु पुराण, अध्याय 62, ब्रह्मवैवर्त्त 4•51, मत्स पुराण अध्याय• 251, महाभारत 1•18 भागवत पुराण 8•8

4• महाभारत 1• 18 – 53

5• वायु पुराण : 63 – 9 – 22•

6• मत्स पुराण, अध्याय 251•

विष्णु का अन्य रूप पृथु है । इनका विवरण पुराणों में तो मिलता ही है,[1] वेदों में भी है । पृथ्वी दोहन तथा कृषि कर्म से इनका संबंध माना गया है ।[2] शतपथ के अनुसार ये प्रथम राजा थे ।[3] मनुष्य समाज का विभाजन इन्होंने किया । इन्होंने कृषि का आविष्कार किया । प्रथम कुआँ भी इन्होंने ही खोदा । इन्होंने धरती की संपत्ति का आविष्कार किया । साथ ही औषधियों की भी खोज की । वेणु से पृथु का जन्म एक पौराणिक गाथा है ।[4]

भक्तपरक रूप का आरंभ गजेन्द्र मोक्ष की वार्ता में परिलक्षित होता है ।[5] मोहिनी नारी के रूप प्रभाव का प्रतीक अवतार है ।[6] इस प्रकार विष्णु के गौण अवतार बड़े व्यापक विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

## 4· विष्णु से अवतार तक :-

हमारे आलोच्य काल में और आलोच्य साहित्य में वैष्णव शब्द सर्वमान्य रहा - निर्गुणियों के द्वारा भी और सगुण वादियों के द्वारा भी । किन्तु साध्य के रूप में लक्ष्मीपति विष्णु की मान्यता देश और काल की दृष्टि से सीमित ही रही । दक्षिण भारत में विष्णु के मंदिर भी बने ﴾ श्रीरंगम का मंदिर ﴿ और विष्णु से संबंधित

---

1· विवरण : महा 12· 107, भागवत पुराण 4· 13· 15, वा·पु·अध्याय 62, मत्स पु· अध्याय 10, पद्म पु· 1·17, हरिवंश 1·2, ब्रम्हपु· अध्याय 74 आदि ।

2· अथर्व वेद 8· 10· 22· 23 ·

3· शतपथ, 5·3·5·4

4· विष्णु· पु· 1·13·

5· विष्णु· धर्मोत्तर पुराण 1· 109 - 10·

6· भागवत पु· ﴾8·2-3﴿वामन पु·﴾अ·85﴿ विष्णुधर्मोत्तर पुराण 1·94· विष्णु पु· 2·11-12·

7· महाभारत 1·18-19 भागवत पुराण 8·9·10, 12 रामायण ﴾ 1·45 ﴿ पद्म पुराण ﴾ 3·10 ﴿ आदि ।

साहित्य रचना भी हुई । किन्तु हिन्दी क्षेत्र में विष्णु मंदिर भी प्राय: नहीं बने और विष्णु से संबंधित रचना भी प्राय: नहीं हुई । आनुषंगिक रूप से शेष-शायी, वैकुण्ठाधिपति और लक्ष्मीकांत विष्णु के उल्लेख साहित्य में आते रहे । मुख्य रूप से उनके अवतारों की ही देवालयों में और साहित्य में प्रतिष्ठा हुई और सारी भक्ति भावना राम और कृष्ण पर केन्द्रित हो गयी । दशावतार की पौराणिक रूढ़ि तो चली किन्तु भावालंबन के रूप में राम और कृष्ण को ही लिया गया । सामान्य जनमानस तो लगभग यह भी भूल गया कि ये दोनों के अवतार हैं । राम और कृष्ण के आसपास एक व्यापक सांस्कृतिक मिथकीय और दार्शनिक बुनावट हुई जिसके कारण ये मात्र अवतार ही नहीं रह गए, समस्त भारतीय दर्शन और संस्कृति के पुंजीभूत रूप ही हो गए ।

## 4.1 अवतार :-

अवतार का तत्व तो भक्ति साहित्य के प्रत्येक रूप में छाया हुआ है । अवतार कल्पना बौद्ध जैन और हिन्दू तीनों ही धर्मों में किसी न किसी रूप में मिल जाती है । इसका आरंभिक सूत्र वेद में मिल जाता है । वैदिक साहित्य में, मूल सत्ता की एकता, अखंडता, और पूर्णता के द्योतक दो प्रतीक मिलते है, पुरूष और ब्रह्म मूल एकता सृष्टि मूलक अनेकता को लेकर " विराट " में परिणत होती है । इसी परिणति में अवतार, कल्पना का बीज भी अंकुरित होता है । इसी का सम्मूर्त्तन पांचरात्र साहित्य में " परवासुदेव " की कल्पना में किया है और पुराण ने " पूर्णावतार " की शैली में कृष्ण सम्बद्ध से ब्रजभाषा साहित्य ने इन सूत्रों के आधार पर अवतार संदर्भ की रचना की है ।

पौराणिक साहित्य में पूर्णावतार, दशावतार रूढ़, क्षीरशायी विष्णु के अवतार की धारणा, स्थान-काल-कार्य की दृष्टि से अवतार, विधार, अवतरित शक्ति की परिकर योजना तथा अवतार के प्रयोजनों का ही विशेष विस्तार हुआ है । विष्णु की अनेक रूपता और उसकी अवतार कल्पना के बीज प्राचीन साहित्य में मिलते है । इन्द्र भी अनेक रूपों में विचारण करता था ।[1] यह विशेषता उर्वरता, से संबंद्ध देवताओं को मिलती है । अग्नि और रूद्र भी रूप धर सकते हैं । एक आदिम विश्वास यह है कि देव पृथ्वी पर आता है ।[2] देव का अवतरण एक निश्चित उद्देश्य से होता है ।म मुख्य उद्देश्य अधर्म नाश और धर्म की रक्षा का है ।[3] इस प्रकार अवतार कथाओं की संरचना अनेक तत्वों से हुई है । इनमें कुछ का संबंध अन्य देवताओं से भी था ।

उदाहरण के लिए हंसावतार का संबंध सूर्य ( = पक्षी ) से प्रतीत होता है । मत्स्यावतार के पीछे मत्स्य के द्वारा मनु की रक्षा [4] का अभिप्राय कार्य कर रहा है । कृष्णावतार भी इसी प्रकार की एक जटिल कल्पना है ।

## 4.2 निर्गुणिया संत और अवतार :-

जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है संत अवतार भावना और मूर्ति पूजा से समझौता नहीं कर पाता । संभवत: इसका कारण यह है कि अवतार का संबंध एक वर्ग विशेष से जन्म के अनुसार हो जाता है । साथ ही मंदिर की संस्था पुरोहित वर्ग क हाथ में आकर निम्न वर्ग के लिए दुर्गम हो जाती है फिर भी संतों की प्रतिक्रिया इस संबंध में एक सी नहीं रही ।

---

1. ऋ. 6/47/18, इन्द्र मेष, वृषभ आदि बन सकता है । ( ऋ.1/55/4:1/9/4 ) वरूण भी वृषभ बना ( महा.4/34/101 ), विष्णु स्वयं दंउ बना । ( महा. 12/122/24. )
2. W.Ruhan, Krishna (Istanbul, 1943, P.48)
3. भ. गीता. 4/7.
4. शत पथ 1/8/1/1.

## 4.2.1 अवतार वाद की आलोचना :-

अवतार वाद के मूल तत्व को तो संत-मानस ने ग्रहण किया । पर, उसके औपचारिक और स्थूल रूप का खंडन भी किया गया है । पहला विरोध इस बात को लेकर था कि सगुण वादी माया को प्रभु की शक्ति मानकर अवतार को मायामय कह देते थे । संत मानस विरोधी था ।[1] उनका समझौता उनसे नहीं है, जो माया रूप राम का भजन करते है ।[2] कबीर उस तत्व को देखते है, जो न ग्वालिनों के साथ फिरा, न गोवर्धन धारण किया, न द्वारिका में शरीर त्यागा, और न जगन्नाथ पुरी में उसका पिंड रखा गया ।[3] साथ ही अवतार की पूजा के साथ संत का समझौता नहीं था । नानक के धर्म की यही मान्यता रही ।[4] एक आधार यह भी रहा कि अवतार को भी अंत में मृत्यु का वरण करना पड़ा । कृष्ण गोपी सभी को साधारण मनुष्य की भाँति शरीर त्यागना पड़ा ।[5]

तात्विक विरोध ने व्यंग्य का रूप धारण किया । रज्जब ने कहा कि कृष्ण ने गोवर्धन धारण किया, हनुमान द्रोण गिरि लयो, शेष ने सारी पृथ्वी को उठा रखा है, फिर इनमें भगवान कौन है ।[6] अवतारवाद की गतिशील विचार-धारा को विकृत करने का दोष कबीर की दृष्टि से ब्राह्मण को है । अत: ब्राह्मण पर व्यंग्य है ।[7] ब्राह्मण ने अवतार वाद को अर्चापूजा और आचार में ढाल दिया । अर्चावतार

---

1. माया के रूप में विरोध के लिए दृष्टव्य कबीर ग्र.पृ.103, दादू दयाल की बानी, भाग - 2, साखी 141-142, पृ. 126.
2. माया रूपी राम कू सब कोह ध्यापै । अलख आदि अनादि है सो दादू गावै ।। बानी. भा. । साखी, 143 पृ. 129.
3. क.ग्र.पृ. 243.
4. दी सिख रिलीजन, मैकलिफ, पृ. 168, 305, 306, 362.
5. नानक गुरू. ग्र. साहिब पृ. 465.
6. रज्जब जी की बानी, साखी 5-6, पृ. 127.
7. कबीर बीजक, पृ. 6 (रमैनी)

की पूजा पाषड विधि का संत ने घोर विरोध किया ।[1] दादू ने स्पष्ट कहा कि मैं उस भगवान की पूजा करता हूँ जिसको टांकी छैनी से गढ़ा नहीं गया और आचार के स्थान पर उन्हें भाव भक्ति प्रिय है ।[2] इस प्रकार अवतार वाद के तत्व को तो संत मानस सहन न कर सकता था । उसकी स्थूल परिणतिऔर तद्गत सामाजिक विकृतियों के प्रति वह सशंक हो उठा ।

4•2•2 संत साध्य और अवतारवाद :-

वैष्णव अवतार कथाओं का आरोपण संत के इष्ट देव पर कहीं कहीं मिलता है । ब्रह्म और शिव संबंधी पौराणिक तत्व का संत साहित्य में नितांत अभाव मिलता है । विष्णु के अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग इस साहित्य में मिलता है । राम के अतिरिक्त कृष्ण, हरि, गोविन्द, नारायण, माधव, गोपाल आदि नामों का प्रयोग भी मिलता है ।

जयदेव ने विष्णु भजन की प्रेरणा दी है ।[3] श्रीकृष्ण के अवतार पंढरपुर के विट्ठल भगवान नामदेव के इष्ट देव थे ।[4] नामदेव ने इनको सांवलिया और माधव नाम से ही संबोधित नहीं किया, इनको विष्णु रूप भी कहा है ।[5] महाराष्ट्र

---

1• क•ग•पृ• 245•

2• सोह देव पूजा जे टांकी की नहि बजिया । दादू•बानी भाग 2, पृ• 132, पद 311•

3• परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य पृ• 135•

4• डा•वि•मि•कोलते, मराठी संतों का सामाजिक कार्य पृ• 49–50•

5• मेरो बाप माधो तू धनकेसा, सावलियों विट्ठल तह । कर धरे चक्रबैकंठ ते आयों, तूरे गत्र के प्रान उधारयौ । वियोगी हरि, संत सुधाकर, पृ• 50 पद 1•

के वारकरी संत संप्रदाय में पिट्ठल को कृष्णावतार का बाल रूप माना जाता है । [1] कबीर ने विष्णु के अवतारी नामों का प्रयोग किया है । [2] कबीर की ध्यान - दृष्टि में वह विष्णु भी है जिसकी नाभि से ब्रह्म और जिसके चरण से गंगा निकली है । [3] सुदामा, ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर, आदि इन्हीं का नाम लेकर पार हो गये । [4] राजा उग्रसेन की मुक्ति की बात भी है । [5] विष्णु के पौराणिक रूप का कहीं-कहीं विस्तृत वर्णन भी मिलता है । [6] गुरु अर्जुन के पद में कृष्णपरक नाम अधिक आए है । [7] गुरु अर्जुन और गुरु गोविन्द सिंह की अवतार कल्पना में निष्ठा प्रकट होती है । [8]. संभवतः अर्जुनदेव ने अकबर के सामने यह घोषणा की थी कि गुरु ग्रंथ साहिब में कोई पद विष्णु विरोधी नहीं है । [9] वास्तव में नामोपासना का विस्तार विष्णु के नामों की ओर होता रहा । इसके साथ विष्णु का रूप भी झलक उठता है, जो गज, द्रौपदी आदि का रक्षक है । [10] वास्तव में आडम्बर पूर्ण अवतार वाद और उसके प्रचारक का कटु विरोध संतों ने किया है । साथ ही अवतारवादी मूर्ति पूजा से भी उनका विरोध था । भक्तों की वैष्णव उद्धार कथाएँ संत को प्रिय और मान्य हैं । [11] संत त्रिलोचन पीताम्बरधारी विष्णु/कृष्ण को भी नहीं भुलाते । [12] भक्त रक्षक भगवान की सक्रियता संत को मान्य है । उनका इष्ट निष्क्रिय नहीं है । सक्रियता के साथ-साथ शंख-चक्रधारी और पीताम्बर धारी विष्णु के रूप में अनजान में संत साहित्य में प्रविष्ट हो जाता है ।

---

1. आचार्य विनय मोहन शर्मा हिन्दी को मराठी संतों की देन पृ. 60.
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 16.
3. जाकै नाभि पद्मसु उदित ब्रह्म चरण संग तरंग रे । क.ग्र.पद.390, पृ.217-18.
4. गु. रामदास, गु.ग्र.सा. पृ. 995.
5. - वही -
6. गुरु अर्जुन, गु.ग्र.सा.पृ. 1083 (28 पंक्तियों का पद)
7. रिखी केस, गोवरधंन धारी, मुरली मनोहर हरि रंगा । मोहन, माधव, कृष्ण मरारे- वही
8. गुरुगोविन्द सिंह के विचित्तर नाटक में 24 अवतारों का वर्णन है ।
9. संत सुधा सार (वियोगी हरि) पृ. 342.
10. नामदेव, संत सुधासार, पद 9 पृ. 50.
11. नामदेव ने अंबरिष, विभिषण, सुदाम, ध्रुवप्रहलाद, ध्रुवप्रहलाद, ध्रुव, आदि का उल्लेख किया है । (संत, सुधा सार, पद 29 पृ. 54)
12. संत काव्य, पद, 2 पृ. 142.

4.2.3 अवतार धारण की क्रिया :-

मलूकदास ने कहा कि भगवान युग-युग में भक्तों के निमित्त अवतार धारण करता है ।[1] जहाँ-जहाँ संत उसकी उपासना करता है, वहाँ-वहाँ प्रभु प्रकट होकर महिमा - विस्तार करते है ।[2] प्रह्लाद की उसी ने रक्षा की ।[3] भगवान के जिस रूप का स्मरण किया जाता है उसी रूप में वह प्रकट होता है ।[4] इस प्रकार परमात्मा एक रूप होते हुए भी अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करता है ।[5] " नाम " ही आकर ग्रहण करता है ।[6] इस प्रकार नाम-धारणा रूप धारणा में संक्रमित होता है । एक के नाना वेष की बात कबीर ने भी कही है ।[7] वह काया में जन्म लेता है ।[8] जिस प्रकार प्रभु सच्चा है, उसी प्रकार उसके नानाआकार भी सत्य है ।[9] गुरु अर्जुन ने तो विष्णु के अवतारों की ओर ही स्पष्ट संकेत किया है ।[10] " लीला शब्द का प्रयोग भी किया गया है । उसकी लीला अमित है ।[11] वह अपराध क्षमा करने वाला और करूणामय भी है ।[12] यही अकथनीय चरित्र वाला गोपाल ही संत का गुरु है ।[13]

---

1. मूलकदास की बानी । पृ. 34.
2. अर्जुन गुरू. गु.ग्रं.सा. पृ. 456-457.
3. क.ग्र.302, पृ. 129. 4. सुंदरदास ग्र. भाग - 2, साखी, 56 पृ.
5. गु.ग्रं.सा. पृ. 285, नाना रूप जाके रंग नाना भेख करहि इक रंग ।
   यह महाभारत § 12.347-79 § के समान है ।
6. गुरू अर्जुन : नाम के धोरे सकल आकर § गु.ग्रं.सा 284 §
7. कबीर गु.ग्रं.सा. पृ. 480 : दृष्टव्य गुरु अमरदास, गु.ग्रं.सा. पृ. 1059.
8. दादू, गुं.ग्रं.सा. पृ. 1059.
9. गु.ग्रं.सा.पृ.1131 : नानक : सो प्रभु साचा, सब ही साचा, साचा प्रभु आकाश ।
10. कोटि बिसन कीने अवतार । गु.ग्रं.सा. पृ. 1156.
11. जाकी लीला की मिति नाहीं .... । सुन्दर गु.ग्रं.सा. पृ. 284.
12. गु.ग्रं.सा. पृ. 529 § नानक §
13. नानक : गु.ग्रं.सा. पृ 943.

संत कवियों की ये वाणियाँ सगुण भक्तों की संधारणाओं से मूलत: भिन्न नहीं है । इन्हीं वाणियों में भगवान के अवतार धारण करने का व्यावहारिक दर्शन अंतर्निहित है । यह एक व्यापक धारणा थी कि मानवीय अध:पतन के युग में एक दैवी शक्ति मार्गदर्शन के लिए अवतरित होती है । [1] प्रतीकात्मक रूप से यह कहा जाता है कि भाराक्रान्त पृथ्वी की प्रार्थना पर, ईश्वर का आदेश पाकर गुरू अवतार ग्रहण करता है । [2] अवतार भावना सिक्ख और मराठी संतों में विशेष रूप से लोक प्रिय प्रतीत होती है । कबीर के ही शिष्यों में धर्मदास जैसे संत हुए जिन्होंने अवतार वाद का पक्ष लिया है । [3]

## 4.24 कृष्णावतार और संत :-

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण रखने वाले संप्रदाय थे । कबीर, " दादू ", नानक आदि संत उनके पौराणिक एवं अर्चावतारी रूपों की आलोचना करनेवाले हैं । नामदेव, गुरू अर्जुन, बावरी साहिबा आदि का दृष्टिकोण उदार है ।

कबीर ने गोविन्द को अन्तर्यामी कहा है । [4] आलोचक दृष्टि से अन्य अवतारों की भाँति कृष्ण मायाग्रस्त और मृत्यु के पात्र हैं । [5] कितने कान्ह मुरलीधर हो गए, फिर भी किसी को ईश्वर का अन्त नहीं मिला । [6] गुरू गोविन्द की एकता बतलाई गई है । गुरू और गोपाल का युग्म भी मिलता है । [7]

---

1. मैकॉलिफ : दी सिख रिलीजन, जी. । पृ. 40 - 41.
2. गुरू अमर दास, वही पृ. 41.
3. दृष्टव्य, इनका " अनुराग सागर "
4. फूलिनि में जैसे रहे बास, यूं घटि घटि गोविन्द है निवास क.ग्रं.पद. (381, पृ.215)
5. कबीर बीजक पृ. 45 ( पद, 45 ( सं.हंसदास, शास्त्री )
6. केतिक कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अंत न पाया । वही - पद. 18 पृ. 35.
7. नानक जुगि जुगि गुरू गोपाला, गु.ग्रं.सा. पृ. 943.

अनुकूल संतों में नामदेव प्रमुख है । उन्होंने उस देवकी को धन्य कहा है जिसके यहाँ कमलापति का प्रादुर्भाव हुआ ।[1] वृंदावन कृष्ण की भावना यह है --

धनि धनि बन खण्ड विंद्रावना । जह खेले श्री नाराहना ।
बेनु बजावै गो धनु चरै । नामे कासुआली आनंद करै ।[2]

बावरी साहिबा की आत्माभिव्यक्ति देखिए --

बावरी रावरी का कहिए मन है के पतंग भरे नित भांवरी ।
भावरी जानहि संत सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी ।
सांबरी सौंहतें हारी प्रभु गति रावरी देखि भई अति बावरी ।[3]

इस प्रकार नामदेव और बावरी साहिबा कृष्णोपासक संत प्रतीत होते हैं ।

4.25 युगावतार :-

सतयुग आदि चतुर्युग के अनुसार भी अवतार कल्पना की गयी थी ।[4] नाथों में कौल ज्ञान के अवतार के लिए प्रत्येक युग में कौलों के आने का उल्लेख है ।[5] महाराष्ट्र के महानुभाव, पंथ में चतुर्युगी अवतार का उल्लेख है । सतयुग से लेकर कलि-युग तक हंस, दत्तात्रेय, कृष्ण और चक्रधर चार अवतार हुए ।[6] इस परंपरा का प्रभाव

---

1. धनि-धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमइया कवला पति । (नामदेव) (अमृतसर) गु.ग्रं. सा. पृ. 988.
2. गु.ग्रं.सा. 988
3. संत काव्य पृ. 315.
4. विष्णु पुराण, 3.2 54-58, महा.दादू, 12.334. 8.9., भागवत 11.5.20-32.
5. कौल ज्ञान निर्णय, पृ. 61 (सं.प्रबोध चन्द्र बागची)
6. भागवत संप्रदाय पृ. 562.

संतो पर पड़ा । धर्मदास के अनुसार सतयुग में " सन्त " त्रेता में " भंदर द्वापर में " करूणामय, और " नाम " का अवतार होता है ।[1] एक और परंपरा के चतुर्युगी अवतार ये हैं - अंचित, मुनीन्द्र, करूणामयऔर कबीर ।[2] कबीर को चतुर्थ अवतार मानकर सांप्रदायिक श्रेष्ठता को स्थापना का प्रयत्न किया गया । इनमें मुनीन्द्र राम और करूणामय कृष्ण प्रतीत होते हैं ।[3] गुरू ग्रंथ - साहिब में सतयुग में वामन, त्रेता में राम द्वापर में कृष्ण और कलियुग में नानक, अंगद और अमरदास हुए ।[4] इस प्रकार संप्रदायप्रवर्तक को अवतारी बनाने की प्रवृत्ति चलती रही । एक और परंपरा में गुरू गोविन्द सिंह को अवतार कहा गया ।[5] इस प्रकार की प्रवृत्ति अन्य संप्रदायों में भी मिलती हैं ।

## 4·3 प्रेम गाथा में कृष्ण :-

प्रेम गाथाकारों के साहित्य में कतिपय उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिनसे वैष्णव अवतारवाद का प्रभाव नहीं, पर उससे उनका परिचय प्रकट होता है । कुछ सूफी संत पहले हिन्दू भी थे, पीछे वे इस्लाम में दीक्षित हो गए ।[6] सूफी संत बुल्लेशाह ने अपने उपास्य को कभी-कभी श्याम नाम से संबोधित किया है ।[7] समन्वयवादी दृष्टि को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि एक ही परमात्मा वृन्दावन में गो चराता

---

1· धरमदास जी की शब्दावली· पृ· 18 शब्द, 6

2· - वही - शब्द 3·

3· ध्रुव दास जी ने " करूणानिधि " कृष्ण ही माने हैं । ध्रुवदास ग्रं· ‖ सं·राम कृष्ण वर्मा ‖

4· गु·ग्रं·सा· 7· पृ· 1390·

5· सूर्य प्रकाश, संतोषसिंह ऋतु· 5· अंशु 51·

6· मधोलाल हुसेन पहले कायस्थ थे, पीछे सूफी बन गये । पंजाबी सूफी पोइट्स· पृ·12·

7· पंजाबी सूफी पोइट्स, लजवंती रामकृष्ण, पृ· 45·

है, लंका में विजय का डंका बजाता है आदि । [1] परवर्ती सूफी कृष्ण भक्ति और वार्ता से प्रभावित हुए । विशेष रूप से रसिक संप्रदाय ने उनको प्रभावित किया सूफियों ने वृंदावन गोकुल को मक्का-मदीना के समकक्ष रखा । राधा के स्थान में स्वयं और कृष्ण को मुहम्मद के स्थान में प्रतिष्ठित किया । [2]

दशावतार रूढ़ि का प्रयोग और उपयोग भी कुछ सूफियों ने किया खोजा संप्रदाय के प्रधान ने " दशावतार " नाम की एक पुस्तक लिखी । [3] इसमें तो वैष्णव की दशावतार परंपरा ग्रहीत है । हिन्दू पुराणकारों ने भी इस्लामी पैगम्बरों को हिन्दू पुराण में सम्मिलित किया । [4]

सूफी काव्य के अप्रस्तुत विधान में भी वैष्णव अवतारवाद के तत्व मिलते हैं । मसनवियों में पात्रयोजना इस प्रकार के अप्रस्तुत से संयुक्त मिलती है । जायसी ने पद्मावती को चन्द्रमा का अवतार कहा है ।

प्रेमाख्यानक काव्यों में नायक-नायिका को काम और रति का अवतार माना जाता रहा है । [5] उदाहरण के लिए " माधवानल कामकंदला " को लिया जा सकता है । शापवश काम और रति ही अवतरित हुए । [6] मधुमालती की नायक

---

1. वृंदावन में गुरू चरावै, लंका कड़के नाद बजावे । वही. पृ. 58.
2. सूफीमत साधना और साहित्य पृ. 426.
3. दशावतार, पीर सदर - अल - दीन ।
4. अल्लोपनिषद की रचना हुई । भविष्य पुराण के 255-257 अध्यायों में पैगम्बरों का उल्लेख है । " आदमों नाम पुरुष: हव्यवती तथा । इस प्रकार हौवा को हव्यवती कर दिया गया है । नूह की कथा का वैष्णवीकरण भी हुआ है । नूह को विष्णु भक्त बतलाया गया है ।
5. मध्यकालीन साहित्य में अवतार वाद पृ. 294.
6. माधवानल काम कंदला " गायक्वाड सिरीज, पृ. 14, 102.

नायिका कल्पना में भी यही तत्व मिलता है । कामदेव की भस्म से ये आविर्भूत हुए । प्रहकर के " रस - रतन " के सोम और रम्भा काम-रति के अवतार है ।[1] कामावतार रूप में भी श्रीकृष्ण की कल्पना पांचरात्र साहित्य में मिलती है । काम और रति के सूत्र वैदिक साहित्य में मिलते हैं ।[2] कृष्ण परिवार में काम रति का विशेष स्थान है । प्रद्युम्न को एक ओर तो सनत्कुमार का अंश कहा गया है[3] और दूसरी ओर उसे कामावतार कहा गया है ।[4] इससे प्रद्युम्न के योग और भोग संबंधी दो रूप मिलते हैं । पीछे प्रद्युम्न और मायावती को काम-रति द्वन्द्व के रूप में कल्पित किया गया ।[5]

कुछ प्रेमाख्यानों के नायक-नायिका कृष्ण-गोपी, कृष्णराधा, कृष्ण-चन्द्रावली भी है ।[6] प्रेमाख्यानक परंपरा सूफियों की भी चली और हिन्दुओं की भी । दोनों में ही कृष्णावतार संबंधी तत्व मिलते हैं । पदमावती के सौन्दर्य के सामने अप्सराएँ और वृंदवान की गोपियाँ भी छिप गयी है ।[7] इससे स्पष्ट होता है कि गोपियाँ सौन्दर्य की प्रतीक बन चुकी थीं । अलाउद्दीन द्वारा बंदी रत्न सेन के लिए कहा गया है -- आज कृष्ण ने कालीनाथ का फन नाथ दिया है । आज कंससेन ने अपने प्राण त्याग दिये हैं ।[8] गोरा ने कहा कि आज मैं चतुर्भुज कृष्ण बनूँगा जिसके सामने कंस नहीं ठहर सकता है ।[9] इसी प्रकार के उल्लेख चित्रावली में भी मिलते हैं ।[10]

---

1· डा·माताप्रसाद गुप्त, ना·प्र·पं·से· 2010, पृ· 186·
2· भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, डा·हरिकान्त श्रीवास्तव, पृ· 194·
3· रति, ऋ·1·179-1·5, ऋ·सूक्त, 166, रतिसूक्त, ऋ·10/129, अथर्व, नवम काण्ड : तैत्तिरीय ब्रा· 2·4· 1·10, तैत्तिरीय आरण्यक, 1·23·1: अथर्व वैदीय काम सूक्त (9·2·19), काम का नाम विष्णु के लिए महा·अनु· 149,45,83, कामरतिदाम्पत्य, महा· आदि· 66· 33·
4· विष्णु प्र· 5-27· 30·
5· पद्मावत, अग्रवाल, 97, 102, अधरी छपी छपी गोपाला ।
6· आजु कान्ह कंस फन नाथा,
आजु परान कंस सेनि टाला । वही, पृ· 627·
7· - वही - पृ· 687·
8· चित्रावली, ( उसमान सं·जगमोहन वर्मा ) पृ· 160·

नूर मुहम्मद ने " अनुराग बांसुरी " लिखी । कृष्ण ने अपनी बांसुरी से गोपियों को मोहित किया । इस अनुराग बांसुरी से कृष्ण भी मोहित हो जाएंगे । [1] हिन्दू प्रेमाख्यान काव्यों में स्वाभाविक रूप से अवतार तत्व अधिक मिलता है । नन्ददास की " रूप मंजरी " का कृष्ण अवतारी हैं ही । रूप-मंजरी सामान्य राजकन्या है - नायक है श्री कृष्ण । वे स्वप्न में इससे भेंट करते हैं । क्योंकि कलिकाल में प्रकट नहीं होते । [2] वे वेदों के द्वारा अगम्य कृष्ण प्रेमवश अवतीर्ण होते हैं । " मधुमालती " में भी कृष्ण संकेत है । कृष्ण ने वसुदेव और नंद के गृह में निवास किया और कंस का नाश किया । द्रोपदी साहाय्य का भी उल्लेख है । जहाँ जायसी के नायक की सहायता शिव करते हैं, वहाँ मधुमालती में विष्णु की सहायता का उल्लेख है ।

5. रामावतार :-

रामावतार का मानवीय संदर्भ रक्षा के अभिप्राय पर केन्द्रित है । अवतार की परिकल्पना इसी रक्षा भावना से प्रेरित और अनुप्राणित रही । रक्षणीय सुर, पृथ्वी मनुष्य, भक्त, दीन, धर्म और मर्यादा है । यह सूची व्यापक है । संदर्भ को ही प्रकट करनेवाली है । [3] इसी प्रकार राम मनुज रूप में अवतरित हुए । जनता नये इस मनुज रूप में अपनी आशा को परिणत पाती है । यद्यपि तुलसी को राम का मनुजत्व

---

1. कृष्ण बासुरी मोही गोपी । अब यह बंसी गई अलोपी
   सुनते जो यह शब्द मनोहर । होत अचेत कृष्ण मुरलीधर ।
   ( अनुराग बांसुरी, सं. रामचन्द शुक्ल चन्द्रबली पाण्डेय ) पृ. 4.6.

2. न.ग्र. पृ. 143.

3. भगत, भूमि, भुसुर सुं भि, सुरहित लागि कृपाल ।
   करत चरित धरि मनुज तन ................ ।

प्रिय है फिर भी वे उनके ईश्वरत्व को भुलाना नहीं चाहते । उस रूप की कभी-कभी याद भी दिलाते रहते हैं । सूर के कृष्ण में ईश्वरत्व ऐसा घुल मिल गया है कि उसको अलग करना संभव नहीं रहता । आगे के पृष्ठों में रामावतार के प्रमुख सूत्रों को देखने का प्रयास किया गया है ।

वैदिक सूत्र :-

जिस प्रकार कृष्णावतार की बुनावट में बहुत से वैदिक सूत्र अनुस्यूत है उसी प्रकार राम के अवतार की भी कुछ भूमिका बनती है । वैदिक साहित्य में राम नाम धारी कई व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है । तैत्तरीय आरण्यक में राम शब्द पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[1] यह ध्यातव्य है कि वाल्मीकि ऋग्वेद और तुलसी का राम भी आदर्श पुत्र के रूप में ख्यात हुआ । सायण के अनुसार " राम " रमणीय पुत्र हैं । ऋग्वेद में राजा " राम " का उल्लेख मिलता है और यह उल्लेख अन्य प्रतापी राजाओं के साथ है ।[2] राम कथा के अन्य पात्रों जैसे दशरथ[3] जनक[4] आदि का उल्लेख भी सामान्य रूप से हुआ है । किन्तु मुख्य रूप से वैदिक साहित्य में सीता का संकेत है जो कृषि संस्कृति की प्रतीक हैं और संबंध अंतत: अवतार राम से हो गया इस सूत्र पर कुछ विशेष विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है ।

5· 1 रामावतार : कृषि संस्कृति के प्रतीक : -

गोपालक संस्कृति की ही नहीं वैदिक युग में कृषि संस्कृति की सह स्थिति मिलती है । इस कृषि संस्कृति के साथ राजतंत्र का तत्व भी सम्मिलित रहता है ।

---

1· तैत्तरीय आरण्यक 5·8 13·

2· ऋ· 10·93· 14·

3· ऋ· 1·126· 4·

4· कृष्ण यजुर्वेद तैत्तरीय ब्रा· 3·9·10·

इन सूत्रों के आधारपर तुलसी की राम-केन्द्रीय काव्य-वस्तु खड़ी हुई है । इसके ऊपर कुछ विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । राम का उल्लेख वैदिक साहित्य में राजा के रूप में मिल जाता है ।

वैदिक साहित्य में राम नाम-धारी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है । तैत्तिरीय आरण्यक में " राम " शब्द का पुत्र के अर्थ में प्रयोग है ।[1] सायण के अनुसार " राम " का अर्थ रमणीय पुत्र है । ऋग्वेद में एक राजा " राम " का उल्लेख है तथा यह उल्लेख अन्य प्रतापी राजाओं के साथ है ।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में श्याम वर्ण के जनमजेय के समकालीन ब्राह्मण राम का उल्लेख है ।[3] शतपथ ब्राह्मण में औपतस्विनी " राम " की चर्चा मिलती है ।[4] यहाँ यज्ञ के संबंध में दो विचार प्रकट करते हैं । जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में क्रातुजातेय राम नामी दार्शनिक शिक्षा देनेवाले आत्रेय के शिष्य का उल्लेख है । यहाँ राम ने केवल राजा के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और अवतार के रूप में देवत्व प्राप्त होता है किन्तु सीता तो एक देवी के रूप में ही वैदिक साहित्य में मिलती है जिसका संबंध पहले इन्द्र से कृषि की देवी के रूप में था और पीछे विष्णु की प्रधानता होने पर विष्णु राम से हो गया । इस सूत्र पर भी संक्षेप में विचार कर लेना उपयोगी होगा ।

" सीता " शब्द का अर्थ है हल चलाने से उत्पन्न " कूंड " या चिराव । इस अर्थ में सीता शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार हुआ है ।[5] यहाँ सीता कृषि कार्य की प्रक्रिया है । बाद में सीता सावित्री का उपाख्यान मिलता है ।[6]

---

1· तैतरीय आरण्यक - 5 /8/13·

2· ऋग्वेद 10 / 93 / 14·

3· 4 / 6 / 1 / 7· ऐतरेय ब्राम्हण ।

4· शतपथ 4 ( 6 / 1 / 7 )

5· जै· उप· ब्राम्हण 37· 32· 4·, 9·1·1·

6· ऋग्वेद 1 / 140 / 4 अथर्व वेद 11 / 3 / 12·

सीता और सावित्री सोम की पुत्रियाँ हैं । सोम की बनना दोनों चाहती हैं । " स्थागर " { एक अंग राग } के लेपन करने का यह प्रभाव दिखाया गया है कि सोम सावित्री को छोड़ सीता से प्रेम करने लगा । वाल्मीकि की " सीता " भी यही अंग राग लगाती है ।[1] { अनुसूया द्वारा प्रदान किया जाता है } किन्तु तुलसी ने इस अंग राग की चर्चा नहीं की है ।

अब सीता पर व्यक्तित्व का आरोप हुआ है । वह कृषि की एक अधिष्ठात्री देवी बन गयी है ।[2] यहाँ सीता पर व्यक्तित्व और देवत्व दोनों का आरोप किया गया । ऋग्वेद के इस सूत्र में कृषि संबंधी अनेक देवताओं का उल्लेख भी है । यहाँ सीता के इन्द्र द्वारा ग्रहण किए जाने की बात कही गयी है । सीता के संबंध में यह प्रार्थना मिलती है —

अर्वाची सुभगे भव सीते वंदामहेत्वा ।
यथा न सुभगासि यथा सुफलासि ।2।

इन्द्र सीतां निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु ।
सा न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरा समाम् ।3।

इन्द्र निश्चित रूप से वृष्टि और विद्युत का देव है । अतः कहा गया है कि इन्द्र सीता का ग्रहण करे । इन्द्र से संबंधित हुए बिना सीता धन-धान्य प्रदात्री हो नहीं सकती थी । अतः कहा गया है कि वह पानी से अभिसिंचित रहे और हमें धन-धान्य प्रदान करती रहे । पहले मंत्र में इन्द्र-सीता संबंध को शाश्वत रखने के लिए " सुभगासि " आवश्यक लगा । सीता सौभाग्यवती रहनी चाहिए ।

---

1. रामायण 2, 118 { 18. 19. 20 }
2. ऋग्वेद 4. 57 / 2.
3. - वही - 4 / 57 / 6 / 3, - वही - 4/4/57/6.

इसी प्रकार के उल्लेख चतुर्वेद संहिताओं और अथर्ववेद में मिलते हैं । ये उल्लेख "सीरायुंजंति" मंत्र का एक भाग है ।[1] इसमें पहले ऋग्वेदीय मंत्र लगभग ज्यों का त्यों दिया गया है ।[2] पीछे उसके हिताकांक्षिणी होने तथा फलदा होने की कामना की गयी है ।[3] फिर कहा गया कि सीता घी और मधु से सिक्त हो, वह विश्व देवताओं और मरूतों से रक्षित हो । यह ओजशील तथा घृत सिक्त हो, वह विश्व देवताओं और मरूतों से रक्षित हो । यह ओज-शील तथा घृत सिक्त सजल (दूध के साथ) रूप में हमारे पास रहे ।[4] यजुर्वेद में यही "सीरायुंजंति" मंत्र हवन के क्षेत्र में "सीता" खींचते समय गाया जाता है । यहाँ भी सीता को घी और मधु से अभिसिक्त होने, विश्वदेवताओं और मरूतों से रक्षित होने वाली तथा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली कहा गया है ।[5] कृष्ण यजु-र्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक में "पितृमेध" के अवसर पर उपर्युक्त सामग्री का उपयोग मिलता है ।[6] अंत्येष्टि के पश्चात श्मशान पर हल द्वारा कुछ "सीताएँ खींचीं जाती थीं । सीरायुंजंति का गान किया जाता था ।[7]

---

1. अथर्व वेद 3 / 17.
2. - वही - 3 / 17 / 4.
3. - वही - 3 /17 / 8.
4. घृतेन सीता मधुला समक्ता विश्वैदेवैरनुमता मरुद्भिभसान: सीते पयसाम्या व वृत्सवोर्जस्वती घृत व पिन्वमाना । अथर्व वेद. 3 / 1 / 79.
5. तैत्तिरीय सं. 4.2.5.5.6., काठक सं. 16. 12, मैत्रायणि सं.2.7.12. आदि ।
6. तैत्तिरीय आरण्यक 6/6 शतपथ ब्राम्हण (13.8) में इस क्रिया का उल्लेख है, पर मंत्र पढे, जाने का उल्लेख नहीं है ।
7. आज भी श्मशान में बाई उंगली से सीताएँ खीची जाती है । बाएं हाथ की उंगली से राम लिखा जाता है ।

गृह्य सूत्र में सीता के सबंध में सामग्री विस्तृत मिलती है । कृष्ण यजुर्वेद के अग्निवेश्य [1] और बोधायन [2] गृह्य सूत्रों में " पितृ मेध " वाली प्रक्रिया का उल्लेख है । कातक गृह सूत्र में एक विशेष बात मिलती है । गो-यज्ञ नई ब्याई गऊ आदि के स्वास्थ्य के लिए किया जाता है तथा सीता में घी डाला जाता है । [3] इस प्रकार कृषि-यज्ञ से गा-यज्ञ में सीता का विकास ही है ।

इन गृह्य सूत्रों में " सीता-यज्ञ " का उल्लेख है । [4] इनमें स्थालीपाक तैयार करने की बात है । आहुतियाँ देते समय इन्द्र, सीता तथा उर्वरा से प्रार्थना है । पीछे स्थालीपाक भेंट किया जाता है । सीता के रक्षकों ( सीता गोप्त ) को भी दर्भ की बलि चढाई जाती है । सीता को इन्द्र पत्नी कहा गया है । विशेष बात यह कही गयी है कि सीता में वैदिक और लौकिक कार्यों की विभूति है ।[5]

" यास्याभावे वैदिक लौकिकानांभूतिभवति कर्मणाम् । इन्द्र पत्नी मुप-ह्णये सीतास्त मैत्वनपायनी भूयात्र्कर्मणि कर्मणि स्वाहा ।"

बीज वपन, [6] धान्य के काटने पर, खलयन, धान्य साफ किये जाने पर, तथा धान्य के घर पहुँचने पर इन्द्र, सीताआदि देवों को बलि चढाई जाती है । [7] इसी पूजा का विधान त्योहारों पर भी किया गया है ।

---

1. 3 / 8.
2. पितृ मेध सूत्रम 1. 18.
3. कातक गृह्य सूत्र 71. 1. 6.
4. पारस्कर गृह्य सूत्र 2 / 17 / काष्ठक गृ.सू. 7/71/7. गोभिल गृ.सू. 4.4.36.
5. कातक गृ.सू. 7 / 71 / 8.
6. पारस्कर गृह्य सूत्र 2 / 17 / 4.
7. गोभिल गृ.सू. 4 / 4 / 30.

कौशिकी सूत्र के तेरहवें अध्याय में सीता की विस्तृत प्रार्थना है । यही प्रसंग सामवेद के अद्भुत बाम्हण में है । जब दो हल उलझ जाते थे तो पुरोहित पूर्व की ओर एक सीता खींचता था उसमें आग जला कर सीता से प्रार्थना की जाती थी । इस प्रार्थना में सर्वांग शोभिनी हिरण्यमयी माल धारणा करनेवाली काल-नेत्रा, श्यामा हिरण्यमयी पर्जन्य पत्नी ।[1] सीता का मानवा करण पूर्ण हुआ है ।

इन्द्र द्वारा प्रेरित जल-वृष्टि से सीता को सिंचित होते हुए इस ऋषि-कवि ने देखा । अभिसिंचित सीता ने बीज धारण किया । बीज काल के पश्चात उसने कृतज्ञ नेत्रों से देखा कि उस सीता से शस्य की उत्पत्ति हो रही है । इस समस्त व्यापार ने ऋषि के कल्पना शील कवि-मस्तिष्क में " रूपक " का भाव उत्पन्न किया । फलत: दाम्पत्य के भाव का आरोप इन्द्र और सीता के बीच खड़ा हुआ । वृत्र एक राक्षस है जो बादलों मे मेघ के जल को बंद रखनेवाला है । वृत्र द्वारा वर्षा जल के अवरूद्ध हो जाने पर " सीता " का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक है । उसकी उर्वरा शक्ति तथा बीज धारण करने की शक्ति अपहृत हो जाती है । तब इन्द्र अपनी पत्नी की शक्ति को अपहरण करने वाले वृत्र को मारता है । अग्नि वृत्र-विनाश में उसका सहायक होता है ।[2] इस रूपक का साहित्य के क्षेत्र में भी प्रचार हुआ । कालिदास ने अपने " कुमार संभव " में इस " रूपक " को अलंकार रूप से गृहण किया है --

सखी भिरश्रोत्तर मीक्षिताभिमां ।
वृषेव सीता तदवग्रक्षताम् ।[3]

---

1· अथर्व वेद में भी पृथ्वी को पर्जन्य पत्नी कहा गया है । ( 12· 1· 42 )

2· ऋग्वेद 5 / 6 / 11·

3· कुमार संभव, पंचम सर्ग ।

पार्वती जी अपने प्रियतम शिवजी से वियुक्त होकर उसी प्रकार खिन्न है जिस प्रकार इन्द्र द्वारा वर्षा के अभाव में " सीता " क्षुब्ध हो जाती है ।

अर्थव वेद में सीता के मानवीकरण का रूप सुनिश्चित होता दीखता है । वहाँ देवी के रूप में सीता का आह्वान किया गया है ।[1] संक्षेप में यही वैदिक तत्वों का सार है ।

इस मिथकीय सूत्र की आधुनिक व्याख्या सरल और स्वाभाविक है । उच्च्य वर्ग कृषि के उत्पादन पर एकाधिकारकरना चाहता है । इस जन संपत्ति का अपहरण इन वर्गों का प्रतिनिधि रावण करता है । राम घोर संघर्ष करके इस जन संपत्ति को पुन: प्राप्त करता है और सामान्य जन को उससे संयुक्त भी कर देता है । भारतीय लोक साहित्य में राम और सीता को कृषि के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है । इन्द्र के पराभव के साथ सीता का विष्णु और राम से संबंध होता गया । तुलसी ने अनेक स्थानों पर पृथ्वी पुत्री के रूप में सीता का उल्लेख किया है ।

## 5·2· विष्णु और राम :-

पिछले अध्याय में विष्णु के विकास और उनके महत्व की स्वीकृति के संबंध में विस्तार से विचार किया गया है । विष्णु के अवतारों की परिकल्पना धीरे - धीरे समृद्ध होती गई और इन अवतारों में राम एक प्रमुख अवतार हो गए । राम का साकार और सगुण रूप सीता से सम्बद्ध होकर लोक जीवन के अधिक समीप आ गया है । वैदिक कल्पना लौकिक तत्वों से मिलकर लोक-मानस में समा गई । ब्रह्म दर्शन भी इस

---

1· अर्थव 3 / 17 / 4-6 । इसका अंग्रेजी अनुवाद ग्रिफिथ ने इस प्रकार दिया है -- "Auspicious Sita, come thou war; We venerate and worship thee that tho mayst bless and prosper us and bring us fruits abundantly" loved by insvedevas and the Meruts. Let Sita be bedewed with oil and honey. Tu thou to us, with wealth of milk. O Sita, in vigorous strength and pouring streams of fatness.

योजना में मिलकर जन-मन के समीप आया । हुआ यह कि प्रचलित लोक कथाओं तथा प्राकृतिक लोक कथाओं के उपकरणों को एकत्र करके उनमें इतिहास के तत्वों को समन्वित करके लोकोन्मुख कवि ने अवतार का रूप खड़ा कर दिया । नैतिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में इन सबको आदर्श रूप दे दिया गया । वैकुंठ में स्थित विष्णु और गोलोक के लीलाशील विष्णु तथा व्यापक शक्ति को मानव रूप समाज ने पाया । रामायण इसी साधना का एक मूर्तिमान रूप है । सीता जनक की पुत्री हो गई, विष्णु जनक सुत हो गए । इस प्रकार लौकिक अलौकिक तत्व एक संश्लिष्ट संस्कृति को प्रति कायित करने लगे । वाल्मीकि के इस प्रयत्न के संबंध में डा॰सत्येन्द्र का अभिमत है " जिस कवि हृदय ने आदि वैदिक काल के उद्दाम, हृद्दाम की भावनाओं से प्रकृति के व्या रों के रहस्य को रूप दिया । उन से अपना निकटत्व स्थिर किया एवं उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी, वही कवि हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेष्ट था । ऐसे ही युग में महाभारत और रामायण का जन्म हुआ ।[1] लोक के इसी कवि हृदय की साकार झंकार आदि कवि वाल्मीकि थे । संस्कृति का यह संश्लिष्ट काव्यान्तरण इतना व्यापक हो गया कि कवि ने भविष्य वाणी की कि जब तक पृथ्वी पर सरिताएँ ह ं तब तक रामायण की कथा रहेगी । वाल्मीकि ने अपने पूर्व जन्म संबंधी तत्वों को एकत्र करके एक विशाल रूप दिया । बौद्धों और जैनों में होता हुआ रामवृत्त तुलसी तक पहुँच आया और इस विकास क्रम में उसके विविध संस्कार भी हुए । ये संस्कार प्रत्येक युग ने अपनी भावना तथा आवश्यकता के अनुसार किए । भक्तिकाल में तुलसी जैसे अनेक कवियों ने राम के चरित्र के द्वारा अपने युग को मूर्ति मान किया ।

---

1· साहित्य की झांकी पृ॰ 28 - 29·

## 5·3 आधुनिकता और रामावतार :-

आधुनिक युग के प्रतिमानों की दृष्टि से तुलसी के राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक मुखर चरित्र है । राम की अपेक्षा कृष्ण में क्रान्ति के तत्व भी अधिक है, यद्यपि राम ने भी अरण्य काण्ड के संदर्भ में कुछ क्रान्ति शीलता का परिचय दिया है । राम ने हड्डियों के ढेर को देखा । उन्होंने ऋषियों से इस संबंध में पूछा । ऋषियों ने कहा ये उन मुनियों की हड्डियां है जिनको राक्षसों ने चूस कर केवल हड्डियों के रूप में छोड़ा है । तब राम ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि मै राम हूं तो राक्षसों को समूल नष्ट कर दूंगा ।[1] इसके साथ ही राम मानव के महत्व की घोषणा करते है जिस प्रकार महाभारत कार ने मानवीय सत्य को सर्वोच्च सत्य कहा और अवतार कल्पना मानवीय सत्य से अनुप्राणित होती गई, उसी प्रकार तुलसी के राम की येह वाणी भी गूंज रही है ।

नर तन सम नहि कवनिऊँ देही, जीव चराचर जाचत जेही ।
नरक स्वर्ग अपवर्ग बखानी, ज्ञान विराग भगति सुभ देनी ।।
§ मा·उ·काण्ड §

---

1· मानस· अरण्य काण्ड
अस्थि समूह देखि रघुराया ।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ।।
निसिचर निकर सकल मुनि खाए ।
सुनि रघुवीर नयन जल छाए ।।
निसिचर हीन करउ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह । § अरण्य, दो· §राम नरजियों से पूछते हैं ।
अनसो मंत्र देहु प्रभु मोही ।
जिहि प्रकार मारों मुनि द्रोही ।। § अरण्य· 12 §

इस घोषणा से युग का सोया हुआ मानव जग सकता है चण्डी दास ने भी मानव सत्य को सर्वोपरि घोषित किया है ।

" शुनह मानुष भाई, शबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपर नाई । "

मानव रूप भगवान वैकुंठ की अपेक्षा धरती को भी अधिक महत्व देते हुए मिलते है :-

यद्यपि सब वैकुंठ बखाना, वेद पुरान विदित जग जाना ।
अवध सरिस मोहि प्रियनहि सोऊ, यह रहस्य जानहि कोउ
कोऊ ।

॥ मानस· उत्तर काण्ड ॥

शबरी जैसी जन जातीय नारी की भावनाओं का मूल्यांकन करके राम समता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं । अभिशाप्त अहिल्या का उद्धार करके राम मानवीय न्याय की स्थापना करते हैं । क्योंकि अहिल्या को बिना किसी अपराध के श्राप दिया गया । गौतम ऋषि के शाप की भयंकरता अहिल्या के आश्रम से ही स्पष्टहो जाती है ।

प्रस्तरी भूत नारी को सजीव करके राम ने नारी जाति के साथ न्याय किया । विश्वामित्र ने राम को समझाया ---

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर,
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुवीर ।

॥ बाल· दो· 210 ॥

जाति पाँति गत भेदभाव हमारी समाज व्यवस्था पर एक लांछन है । तुलसी के राम क्रान्तिकारी वाणी में शबरी से कहते हैं --

" मानहुं एक भगति का नाता " अर्थात् - जाति पाँति मत भेद तुलसी के राम को प्रभावित नहीं करता । भक्ति का मूल्य इस भेद को समाप्त कर देता है और राम भी इसको गौण स्थान देते हैं । क्रांति के इन सूत्रों का स्पष्ट विस्तार कृष्णावतार में दिखलाई पड़ता है ।

6. कृष्णावतार :-

कृष्णावतार के साथ जीवन के बहुत से संदर्भ घटित हुए । मुख्य रूप से इन संदर्भों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । महाभारत संदर्भ और ब्रज संदर्भ । महाभारत संदर्भ में कृष्ण और अर्जुन का युग्म बनता है और ये नायक युग्म आततायी क्षत्रीय वर्ग को सामाजिक दृष्टि से समाप्त कर देने के लिए प्रतिबद्ध है । उद्धृत राज्य वर्ग का विनाश एक प्रमुख सामाजिक अभिप्राय है जो वर्ग संघर्ष की आधुनिक धारणा से मेल खाता है ।

6.1 महाभारत संदर्भ :-

कृष्ण वासुदेव की पूजा और उसकी परंपरा पर पर्याप्त विचार हुआ है ।[1] एक विचार के अनुसार देवकी पुत्र कृष्ण एक देव था । भारत में बहुत पहले ही वीरत्व-पूर्ण परम मानवीय, दिव्य गुणों का समावेश कृष्ण में कर दिया गया था । विष्णु और

---

1. जे.ई.कार पेण्टर, थीइज्म, इन मेडीवलइंडिया ( लंदन 1926 ) पी.235, 265, 371, डी.सी.सरकार आर.सी.मजूमदार दी हिस्ट्री एंड कल्चर आफ दी इंडियन पीपुल, द्वितीय. (बंबई 1953 ), पृ.431. आर.जी.गडग्कर वैष्णविज्म, शैविज्म ....... पृ. 30, आदि ।

कृष्ण की पूजा इतनी घुल मिल गई कि इन दोनों धाराओं को अलग करना कठिन है । [1] भारतीय पुराण गाथाओं में यह सबसे प्रबल नायक है । कृष्ण का संबंध यादव जाति (पैस्टोरल रेस) से है । यादव कृष्ण की विजयों का अंत नहीं है । उसको नष्ट करने के लिए जो असुर-दानव आए वे सब नष्ट हो गए ।

समुद्र में कृष्ण ने वरूण-विजय की । चक्र को उसने अग्नि से लिया । इन्द्र का भी उसने दमन किया । वह गरूड़ पर आरूढ़ है । अर्जुन विष्णु के महान् कार्यों का उल्लेख करते हुए यह भी कहता है कि कृष्ण ने सभी दैत्य-दानवों का हनन किया और इन्द्र को सुरराज बनाया । [2] कृष्ण संप्रदाय इन्द्र पूजा के विरूद्ध था ।

कृष्ण ने सभी प्रकार के दोषों से युद्ध किया । दुष्ट मनुष्य, भयंकर पशु, दानव, सभी से कृष्ण ने लोहा लिया और इस प्रकार उन्होंने मानव-कल्याण संपादित किया । सैकड़ों असुरों पर कृष्ण ने विजय प्राप्त की । शंबर का भी वध किया जो वृत्र के समकक्ष था । वृत्र-वधा की झलक कृष्ण की कालिय-विजय में भी झलकती है । [3] द्वारका में रहकर कृष्ण ने ये सारी विजय की और धरती का रक्षण किया । [4] जो धर्मोपदेशक कृष्ण की शरण में जाते हैं, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है । [5] महाभारत के युद्ध में इन्होंने पांडवों की सहायता की । कृष्ण और अर्जुन एक दूसरे के घनिष्ट सखा हैं । अर्जुन इन्द्र-पुत्र हैं । वेद में इन्द्र और विष्णु के बीच मैत्री थी । विष्णु वही करता है जो विष्णु (अर्जुन) को अभीष्ट है । [6] सारथी और परामर्शदाता के रूप में कृष्ण अर्जुन की सहायता करते हैं । गीता में सख्य भाव नैतिक और आध्यात्मिक सहायता में बदल जाता है ।

---

1. जे.गोंडॉ. विष्णुइज्म, पृ. 155, कीथ जे.ए.आर.एस., 1908, पृ. 172.
2. महाभारत 3 / 12 / 18.
3. महाभारत 3/168/82, 5/16/14, 5/68/4 विष्णु पुराण में शंबर का वध कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न के द्वारा कराया गया है । (वि.पु. 5/27)
4. महाभारत 13/147/36.
5. - वही - 13/147/41.
6. महाभारत 7/79/9.

डा॰ राधाकृष्णन इन्द्र कृष्ण संघर्ष का बीज एक वैदिक घटना में [1] मानते हैं । [2] उसमें कहा गया है कि एक घन और काले कृष्ण को इन्द्र ने अपने प्रिय हंस के हित के लिए नष्ट कर दिया था ।

कीथ के अनुसार कृष्ण मूलत: वनस्पति-दानव था । कृष्ण और कंस का संघर्ष ग्रीष्म और शीत का संघर्ष है । [3] किन्तु यह कार्य नहीं है । [4] वास्तव में कृष्णावतार विष्णु की प्रकृति का ही है । कुछ विद्वानों ने इसे कामोन्नयन के सिद्धांत से संबद्ध करके देखा है । विष्णु की लैंगिक { फैलिक } कल्पना कृष्ण में फिर से पुनरुज्जीवित हो उठी । भक्ति के क्षेत्र में यही रूप प्रतिष्ठित हो गया ।

यह तो निश्चित है काम श्रृंगार के उन्नत रूप का प्रमुख स्थान है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वासनात्मक भूख से ही इसका जन्म हुआ । कृष्ण के जीवन चरित्र में कृष्ण की श्रृंगारी लीलाओं, गोपी लीला, तथा सहस्त्रों पत्नियों और 180000 पुत्रों के कर्ता पर अधिक बल नहीं दिया गया है । फिर भी गोपी तत्व की उपेक्षा भी नहीं है । महाभारत में " गोपी जन प्रिय " विशेषण आया है । [5] इससे गोपी तत्व का महत्व तो सिद्ध हो जाता है, पर महाभारत इस पक्ष को लेकर नहीं चलता, यह भी स्पष्ट होता है ।

महाभारत में कृष्णमत का विकास-विस्तार मिलता है । महाभारत में कृष्ण सर्वोपरि देव भी हैं । पर मुख्यत: विष्णु के अवतार के रूप में उसे देखा गया है । उनको सर्वदेव मानने की प्रवृत्ति परवर्ती है । [6]

---

1· ऋग्वेद 8 / 66 / 13 - 15

2· राधाकृष्णन, इंडियन फिलौसफी, लंदन 1927 { 1848 } पृ॰ 8·

3· कीथ॰द॰ चाइल्ड कृष्ण, 4· जर॰गोडा॰ विष्णुइज्म, पृ॰ 158·

5· महाभारत 2 / 68 / 41·

6· भगवत गीता, 7 / 19 : 9 / 11·

महाभारत के पीछे कृष्ण और अर्जुन की सख्य भावना प्रमुख है । इनके संबंध की खोज भी प्राचीन साहित्य में की गयी है । वैदिक साहित्य में कृष्ण दिन और श्वेत दिन का परस्पर पूरक युग्म मिलता है -- अहश्च कृष्ण अहर अर्जुन च ।[1] अर्जुन का प्रयोग उषा के लिए भी हुआ ।[2] और कृष्ण का प्रयोग रात के लिए भी होता है ।[3] सूर्यरूप सर्जक प्रजापति के एक ओर श्री और दूसरी ओर लक्ष्मी की जहाँ कल्पना मिलती है, वहाँ एक ओर दिन और दूसरी ओर रात भी है ।[4] श्याम और श्वैत प्रतीकों में जो संबंध इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है, महाकाव्य के कृष्ण और अर्जुन से इनका विकासात्मक संबंध जोड़ना संभव प्रतीत नहीं होता ।[5] वैदिक साहित्य में " कृष्ण " का प्रयोग राक्षसों के साथ भी हुआ है ।[6] अर्जुन शब्द इन्द्र के वज्र का विशेषण भी है ।[7]

जातकों में अर्जुन पत्नी को " कण्हा " कहा गया है जो उसके भाइयों की भी पत्नी थी ।[8] यही महाभारत की द्रोपदी या कृष्णा है ।[9] एक और जातक में उल्लेख मिलता है कि देवगम्भा और उपसर्ग के दस पुत्र थे । शैशव में उनका पालन - पोषण नंद-गोपा और अंधक वेण्ड के बच्चों के रूप में हुआ ।[10] यहीं जातकों में वासुदेव का छोटा भाई " अज्जुन " बताया गया है । जिसका उल्लेख " पज्जुन " से पहले हुआ है । " पज्जुन ", संभवत: प्रद्युम्न ही है । पज्जुन का संबंध वैदिक पार्जन्य से भी जोड़ा जाता है ।[11] इस संदर्भ में " अज्जुन " भी सक्क (शक्र) ही है ।

---

1. ऋ. 6 / 9 / 1.
2. ऋ. 2 / 49 / 3.
3. - वही - 2 / 113 / 2.
4. वाजसनेयी संहिता, 31 / 22.
5. जे.गोंडा. विष्णु इज्म, पृ. 156.
6. ऋ. 4 / 16 / 3.
7. - वही - 3 / 44 / 5.
8. जातक भाग 5, पृ. 424.
9. महाभारत 1/167 / 45.
10. E.B.Cowell, The Jataka, Translated, W (Cambridge, 1901 P.51)
11. G.P.Mala Sekara, Dictionary of Pali, Proper names, (II London, 1938 P.98)

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र का गुह्य नाम अर्जुन है ।[1] महाकाव्य के अर्जुन-वासुदेव से पाणिनि भी परिचित था । पाणिनि के अनुसार वासुदेव और अर्जुन दोनों के भक्तों के साथ-क-प्रत्यय लगता है ।[2] इससे अर्जुन-कृष्ण सम्प्रदाय की सूचना मिलती है ।[3] पर इससे सभी विद्वान सहमत नहीं है ।[4] एक ही प्रत्यय का दोनों के लिए प्रयोग दोनो के घनिष्ट सख्य को व्यक्त नहीं करता । साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं है कि वासुदेव और कृष्ण एक ही हैं ।[5]

महाभारत में दोनों के संबंध की एक और कड़ी मिलती है, अर्जुन नर है और कृष्ण-वासुदेव नारायण हैं ।[6] वासुदेव और कृष्ण विष्णु के ही रूप हैं । इनका देवत्व भी एक पुरानी गाथा है । इसका संबंध जल से माना जाता है ।[7] विष्णु के कृष्ण के रूपान्तरण की स्थितियाँ ब्राह्मण साहित्य में स्पष्ट है ।[8] इन दोनों के सखा - संबंध में इन्द्र - विष्णु सख्य का ही रूपान्तरण है ।[9] वेद में भी विष्णु का कर्तृत्व इन्द्र की पृष्ठभूमि में रहता था और महाभारत का कृष्ण भी अर्जुन के निमित्त से ही सक्रिय है । इसी प्रकार राम और लक्ष्मण के साहचर्य को भी इन्द्र-विष्णु साहचर्य कहा गया है ।[10] पर, इन दोनों सहचर-युग्मों में विष्णु का स्थान प्रधान और इन्द्र प्रतीकों का गौण है ।

---

1· शतपथ, 2 / 1 / 11, 5 / 4 / 3 / 7·

2· अष्टाध्यायी 4/3/98, हॉपकिंस, दी ग्रेट एपिक आफ इंडिया - पृ· 390·

3· हापकिंस पूर्वोक्त, पृ· 390·

4· जे· गोंडा ﴾ विष्णु इज्म, पृ· 160 ﴿ इससे सहमत नही है ।

5· पाणिनि के सूत्र पर भाष्य करते हुए पंतजलि ने वासुदेव को पूज्य लिखा है ।﴾तत्रभवत﴿

6· भंडारकर " वैशणविज्मआदि " पृ· 30·

7· जे·गोंडा, विष्णुइज्म, पृ· 161·

8· शतपथ 12/3/4/1, 13/6/1, तैतिरीय आरण्यक 10/11·

9· महाभारत 1/ 67 / 110·

10· भगवत शरण उपाध्याय, इंडिया इन कालिदास, ﴾ इलाहाबाद, 1947 ﴿ पृ·308·

## 6•2 ब्रज संदर्भ में आधुनिकता :-

कृष्णावतार का ब्रज संदर्भ भी अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है । सबसे पहली बात यह है कि कृष्ण अभिजात वर्ग के परिवेश से निकल कर जन जीवन के साथ जुड़ जाते हैं । जीवन के साथ जुड़कर कृष्ण जन के रक्षण पोषण और रंजन के कार्यों में व्यस्त होते हैं । जहाँ महाभारत संदर्भ कृष्ण के दिव्य ऐश्वर्य और उनके अलौकिकत्व की छायाओं को लिए रहता है वहाँ ब्रज कृष्ण इन छायाओं से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त होकर जन जीवन के साथ एकाकार हो जाते हैं । दानव दमन जैसी अलौकिक घटनाएँ घटती तो हैं किन्तु प्रमुखता इनकी अधिक नहीं रहती । गोपाल कृष्ण अपनी स्वाभाविक और जीवंत छवियों के साथ इस संदर्भ में विलसित हैं और शुद्ध मानवीय अभिप्रायों से निबद्ध हैं, ।

## 6•3 गोपालक संस्कृति :-

वैसे तो चरवाहा संस्कृति एक विश्व व्यापी समाज वैज्ञानिक इकाई है और संसार भर में इसकी प्रगीतात्मक परिणतियाँ भी मिलती हैं, किन्तु, भारत में इसकी गहरी संभावनाओं का जिस सीमा तक अन्वेषण हुआ और जिस सीमा तक इसका अध्यात्मीकरण, पुराणीकरण और साहित्यिक संक्रमण हुआ है, उस सीमा तक संभवत: अन्यत्र इसका विकास नहीं हुआ । वैदिक वातावरण गायों, गोपों और ग्वालों से संकुल है । श्रीमद्भागवत की पुराण-प्रकृति को इन्हीं अभिप्रायों ने प्रगीतात्मक बनाया । भारतीय कृष्ण भक्ति साहित्य परवर्ती युगों में, इसी सांस्कृतिक इकाई की महक से महकता रहा । सूर साहित्य में इसका सौन्दर्य तात्विक अलंकरण और संस्करण चरम चुंभी है ।

जहाँ भारत की पौराणिक या पुराणाश्रित साहित्यिक परंपराओं में वैदिक संस्कृति के अन्य अभिप्राय, विभिन्न रूपकों, बिंबों और प्रतीकों में संप्रेष्य बने हैं, वहाँ गो, ग्वाल संस्कृति के अभिप्राय जीवंत हो उठे हैं। भक्ति के वल्लभ, विट्ठल प्रभृति आचार्यों ने अनेक लीला प्रसंगों का स्रोत भी वैदिक साहित्य में लक्षित किया है। इन आचार्यों के सिद्धान्त में दीक्षित कृष्णभक्त कवियों के द्वारा बिंबित गोपाल कृष्ण के मूल अभिप्रायों के वैदिक स्रोत की खोज कोई दूरान्वय नहीं है।

वल्लभ संप्रदाय के सूर प्रभृति कवियों ने बाल गोपाल परक वस्तु को भावात्मक स्फीति प्रदान की है। बाल गोपाल नवनीत प्रिय है, गोचारक है, गोपालक और गोरक्षक है। इन अभिप्रायों का मूल संक्रमण-बिन्दु वैदिक साहित्य में मिल जाता है।

6·31 गोपालकृष्ण : वैदिक सूत्र :-

कृष्ण वार्ता का अक्ष ही गाय है। सामान्य अर्थ स्तर से प्रतीकात्मक अर्थ-स्तर तक इस शब्द का विकास हुआ है। मानव विज्ञान और समाज विज्ञान की दृष्टि से यह तत्व भी उर्वरा शक्ति से सम्बद्ध है। उर्वरा शक्ति के देवता के रूप में विष्णु का पशुधन से घनिष्ट संबंध है। यह संबंध ज्यों का त्यों कृष्ण में संक्रमित हो जाता है।

ब्रज भाषा साहित्य में गाय का स्वभावोक्ति स्तरीय सामान्य विवरण बहुत मिलता है। प्रातः काल ग्वाल-बाल गाय चराने जाते थे,[1] दोपहर को

---

1· चले सब गाइ चरावन ग्वाल (सू·सा 1031)

गाय विश्राम करती थी और ग्वाल-बाल कलेवा करते थे ।[1] तथा सांयकाल को ग्वाल उन्हें घर लाते थे ।[2] गाय गोपाल की यह चर्चा वैदिक साहित्य में भी मिलती है ।[3] एक दण्डधारी ग्वाल गायों की रक्षा के लिए जाता था ।[4] दण्ड, कमरियाधारी गोपाल कृष्ण ब्रज साहित्य में भी मूर्तिमान है ।[5] वेद में गायों के खोजने या चोरी जाने की आशंका प्रकट की गयी है ।[6] ब्रज साहित्य में ब्रह्म गायों की चोरी करता मिलता है ।[7] वेद में यदि गायों के वेंद में यदि गायों के बड़े गोल वर्णित हैं,[8] तो यहां नंद बाबा के यहाँ लाखों गायें है ।[9] गायों के रंगों की भी गणना वेद में मिलती है, लाल (रोहित) श्वेत (शुक्ल) चितकबरी (पृश्नि) और काले रंग की गायें थी ।[10] ब्रज भाषा साहित्य में इससे भी लंबी रंग सूची मिलती है ।[11] रंभाने की ध्वनि का वर्णन वेद में रूचि पूर्वक किया गया है । कभी इसे वैदिक गायों के समान[12] और कभी अप्सराओं

---

1. गाइनि घेरि, टेरि बलराम हि, ल्यावहु कहत अबिरियां ।
   सूरदास प्रभु बैठि कदम तर खात दूध की खिरियां । (वही 1088)
2. सुरभी गन सबलै आगे करि कोउ टेरत, कोउ बेनु बजावत (वही 1124)
3. ऋ० 1 / 66 / 7, 1 / 194 / 4, वाजसनेयी संहिता 17 / 41.
4. ऋ० 10 / 60 / 3.
5. कान्ह बांधें कामरियां कारी, लकुट लिये कर घेरै हो (सू०सा० 1070)
6. ऋ० 1 / 120 / 8, 6 / 74 / 5 - 7.
7. बालक बच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म लोक पहुँचाएँ । (सू०सा० 1054)
8. ऋ० 8 / 7 / 37, ऐतरेय ब्रा० 8 / 21, / 23, शतपथ० 12 / 7 / 4 / 8.
9. नवलेख धेनु खीदक घर तेरे, तू कत माखन खात पराए । (सू०सा० 927)
10. ऋ० 2 / 32 / 9 / 1.
11. धौरी, धूमरि राती, रोहीं बोल बुलाइ चिन्हारी म।
    पियरी मौरी, गोरी, गैनी, खैरी, कजरी जेती ।
    दुलही, फलही, भौरी, भूरी हांकि ठिकाई तेती । (सू०सा० 1063)
12. ऋ० 7 / 32 / 22. 8 / 15 / 1. आदि

के संगीत के समान [1] बतलाया गया है । ब्रज साहित्य में भी इसके उल्लेख है । [2] गायें तीन बार दुही जाती थी, प्रातद्रोह, संगवदोह, और सायंदोह । [3] ब्रज साहित्य में गोदोहन प्रसंग बडे जीवन्त रूप में मिलता है । इस प्रकार वैदिक साहित्य में गोचर्या का विस्तार मिलता है । इसकी झलक ब्रज साहित्य में देखी जा सकती है । वैदिक ऋषि पशुधन की वृद्धि के लिए देवों की प्रार्थना करता था ।[4] यशोदा पशुधन की वृद्धि और रक्षा के लिए इन्द्र की पूजा का अनुष्ठान करती है ।[5] वैदिक यज्ञानुष्ठान में भी गाय का महत्वपूर्ण स्थान बना । [6]

वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का अर्थ विकास होने लगा । इससे गाय से संबंधित पदार्थों का भी बोध होने लगा । [7] तारे, किरणें, पृथ्वी, वाणी आदि भी इससे घोतित होने लगे । [8] यह सोम का पर्याण भी हो गया । "सोम" गायों का उत्पादक भी है । इस प्रकार " गो " के प्रतीकार्थ विकसित हाने लगे ।

गाय को आकाश और प्रजापति भी माना जाने लगा । [9] "शिपि - विष्ट " प्रजापति का ही एक नाम है । इसका तात्पर्य है -- पशु का सहारा लेकर स्थित । [10] इन मंत्रों पाठ से गोधन की प्राप्ति बतलाई गई है । प्रजापति विष्णु है । अतः वह भी शिपिविष्ट है । गाय के सहारे स्थित कृष्ण चित्रकला का

---

1• ऋ • 10 / 65 / 6•

2• सू•सा• 10 / 55, 1068•

3• तैतरीय सं• 7 / 7 / 3 / 1•

4• ऋ • 1•43•2, 1• 162•22, अर्थव 1•31•4, 2•26•4

5• सू•सा• 1429•

6• शाखायन श्रौत सूत्र 6•23•4, शतपथ, 2•4, 13•3•1•2•1•13

7• गो-गोदुग्ध (ऋ•1/33/10), ( 1/17/8 आदि ( इससे गोमांस भी घोतित है । ( ऋ • 10/16/7 )•

8• मैकडालल, संस्कृत डिक्शनरी 9• अर्थव 10 × 10 × 30•

10• पंचविंश ब्रा• 18•6•23, मैत्री सं• 1/11/9 सं• 14/10/, 206/8•

प्रमुख अभिप्राय बन गया । जब प्रजापति, अग्नि इन्द्र आदि देवता मुक्त पशुओं पर अधिकार न कर सके, तब विष्णु ने यज्ञ-शक्ति से उनको अधिकृत किया ।[1] विष्णु का नाम संभवतः इसीलिए गोपति हो गया ।[2] यह कृष्ण का भी नाम है । पीछे प्रतीकार्थ का विकास हुआ और विष्णु कृष्ण को अनियंत्रित ऐन्द्रिय शक्ति का नियन्ता मान लिया गया । " सूर " ने इस प्रतीक का प्रयोग किया है ।[3]

विष्णु का नाम " गोहित " भी है ।[4] वेद में विष्णु को " गोप भी कहा गया -- " विष्णु गोपा अदाभ्य ।[5] गोप का तात्पर्य है -- गो-रक्षक या गोपालक ।[6] इस रूप का पूर्ण संक्रमण " गोपाल " ( = कृष्ण ) में मिलता है । ब्रजभाषा साहित्य का अधिकांश गोपालमय है । इस विकसित प्रतीक को सौन्दर्य मूलक या काव्यात्मक विस्तार देने में आभीर जैसी गोपालक जातियों की संस्कृति और उनके लोक-साहित्य का योगदान प्रायः सर्व स्वीकृत है ।[7]

---

1. पंच विंश ब्रा० 20 / 3 / 2.
2. बौधायन धर्म शास्त्र, 3/9/10 " गो विदानपति, तथा गोविन्द नाम विष्णु । कृष्ण के लिए है " ।
3. क -- माधौ जू यह मेरी इक गाइ ।
   अब आज तें आप आगे दई, लै आइए चराइ । सू०सा० 51.
   ख -- माधौ नैकुं हटकौ गाइ । भ्रमत निसि बासर अपथ-पथ, अगह गहि नहि जाइ
   एक व्युत्पत्ति इस प्रकार ही गई है : गा : मनः प्रधानानि इन्द्रियाणि तेषां विन्द ब्रह्म वाचक है । ( वही 56 )
4. महाभारत 13/149.
5. ऋ० 1/22/18 और भी दृष्टव्य दास पत्नी अहि गोपा अतिष्ठत: (ऋ० 1.32.11)
6. गो-पाय (=गो की रक्षा ) का विकास 9 गुप से हुआ (ऋ० 103×9 अथर्व० 10/9/7/8, मैकडानल वैदिक ग्रामर, पृ० 358 (इसका पहला अर्थ रक्षा करना और पीछे छुपाना हो गया ।
7. राय चौधरी, अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट, पृ० 45.

कृष्ण के गोपरक नामों में अर्थ विकास की दृष्टि से " गोविन्द " [1] का महत्वपूर्ण स्थान है । गो का अन्वेषक इन्द्र स्वयं वैदिक साहित्य में इस नाम से अभिहित है । [2] कृष्ण भी गायों का अन्वेषक है । उपनिषद के अनुसार गायों और वेदों के द्वारा ज्ञातव्य ही गोविन्द है । [3] इस व्याख्या में गाय ऋचा की प्रतीक है । पौराणिक व्युत्पत्ति के अनुसार पृथ्वी ( = गो ) के उद्धारक ही गोविन्द हैं — गां पृथ्वी विन्दति । जब " गो " का अर्थ " ऋचा " हो गया हो हो तो, युगान्त के पश्चात नवसृष्टि के आरंभ में वेदोधार के कारण भी यह नाम निष्पन्न माना गया । [4] इस प्रकार गो = ऋचा = वाणी = पृथ्वी, इन्द्रिय । भक्ति परक स्तोत्रों में स्वयं आकर्षित होकर भक्त के समीप आने वाला ही गोविन्द है । [5] कृष्ण में भी यह गुण विद्यमान है । परिजनों की बाधा के कारण जो गोपी रास में सम्मिलित होने के लिए नहीं आ सकी थी, उसके पास स्वयं कृष्ण आ गए । [6] इस कारण उद्वार का अभिप्राय ऋचा, गाय और भक्त के साथ जुड़ गया ।

कृष्ण का पालन पोषण उस परिवार में हुआ जिसके पास प्रभूत गोधन था । गोधन के परिणाम के आधार पर सामाजिक श्रेणियों का निर्धारण होता था । [7] जिसके पास अधिक पशुधन होता था वही श्रीमान् कहा जाता था । [8]

---

1· गीता (1/32:2/9) में तथा ब्रज के साहित्य में इस का प्रचुर प्रयोग है । सू·सा· 1625 आदि । पाणिनि जो इसी व्याख्या के लिए स्वतंत्र सूत्र (3/1/138) दिया ।

2· ऋ · 9 / 6 / 66·

3· गोपाल पूर्व तापनी, प्रथमो पनिषद् 4 ( ब्रम्हयोगी की टीका ( महाभारत ( 5 / 70 ( में भी " गोविन्दो वेदनात् गवाम् " कहा गया है ।

4· ब्रम्हवैवर्त· प्रकृति खण्ड, अध्या · 24·

5· विष्णु सहसनाम के गोविन्द पद पर तारक ब्रम्हानंद की टीका ।

6· एक नाहि भवनीत तै निकरी, तिनपै आश्परम कृपाला ( सू·सा· 1623 (

7· अति अधिकार जनावत याते अधिक तिहारे है कुछु गैया ।

8· W. Caland ; Panchvuinsa Bra (Calcutta 1931 P. 311)

9· सूरसागर, 882·

गोतत्व का सार रूप " नवनीत " है । गोपाल कृष्ण यह कहते हुए मिलते है --

मैया री मोहि माखन भावै
जो मेवा पकवान कहति तू, मोहि नहीं रूचि आवै ।[1]

इन पंक्तियों में नवनीत प्रिय कृष्ण का बिम्ब उभर आता है । आगे चलकर माखन-चोरी और दान-लीला जैसे प्रसंगों में नवनीत एक मुख्य अभिप्राय और प्रतीक बन जाता है । वैदिक स्रोत से जहाँ " गो " प्रतीक विकसित होकर ब्रजभाषा साहित्य में आया है वहाँ नवीनीत भी उसी स्रोत से आगत है । वेद में विष्णु को " घृत योनि " कहा गया है ।[2] विष्णु का निवास या आविर्भाव " घी " में से है । अन्य देवताओं का संबंध भी घी से माना गया है ।[3] नवीनत या घी विष्णु हृदय है ।[4] नहीं, नवनीत विष्णु का स्वरूप प्रतीक है ।[5] जागतिक जीवन, जल और पौधों का यह सारतत्व है ।[6] इसे बीज भी कहा गया है ।[7] इसप्रकार विष्णु और नवीत एकाकार हुए । आगे इस प्रतीक का संक्रमण नवनीत कृष्ण में हुआ । पशु का सार भूत तत्व " वसा " भी है ।[8] "वसा" को श्री कहा गया है ।

---

1· अथर्व 17 / 26 / 3 : तैतरीय सं· 1·3·4

2· अथर्व 17 / 26 / 3, तैतरीय सं· 1·3·4

3· अग्नि - घी ( ऋ · 5·8·6 ) मित्र - वरूण - घी ( ऋ· 568·2 )

4· तैरीय सं· 3/2/6·

5· आपस्त्बं श्रोत भूत्र 2/10/4·

6· शतपथ ब्रा· 7 - 2· 3·4

7· - वही - 6·3· 3·18

8· शतपथ ब्राम्हण· 12·8·3·12·

9· मरीचि संहिता ( विमानार्चना कल्पे ) पटल 59, पृ·381 भृगु संहिता ( खिलाधिकार ) 19 / 194·

6·32 आगम परंपरा :-

वैखानस परंपरा में कृष्ण को " नवनीत नट " कहा गया है । इनके सीधे हाथ में नवनीत बतलाया गया है और बाएँ को फैला हुआ कहा गया है ।[1] नवनीत कृष्ण को हर्षोत्फुल्ल लोचन और नर्तित भी कल्पित किया गया है ।[2] इसी लिए कृष्ण का नाम नवनीत नट है । इस रूप में वे आभरण भूषित तो हैं, पर वस्त्र रहित है ।[3]

नवनीत नट का रूप ज्यों का त्यों पांच रात्र परंपरा में भी उतर आया है । नारद ने " नवनीत नटादीनि "[4] कहकर इस रूप की ओर संकेत किया है । नवनीत नृत्यों का भी उल्लेख है ।[5] वैखानस संहिताओं की अपेक्षा पांच रात्र संहिताओं में नवनीतनट का विस्तार कम है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नवनीत नट की कल्पना वैखानस परंपरा में लोक प्रिय रही ।

वैखानस परंपरा ( मरीचि संहिता, पटल 59 ) में नवनीत-नट का संबंध देवकी से जोड़ा गया है -- " नवनीत नट कृष्ण देवकी सुंत बाल रूप " मिलि नव - नीतनटस्य " आगे के साहित्य में यह रूप यशोदा-संदर्भ में प्रतिष्ठित हुआ ।

वल्लभ संप्रदाय में " नवनीत प्रिय " कृष्ण की मान्यता रही । अनुश्रुति के अनुसार वल्लभाचार्य जी, सूरदास को पहले गोकुल में नवनीत प्रिया जी के सान्निध्य

---

1· मरीचि संहिता पृ· 381·

2· भृगु संहिता 19/195 " प्रसार्य हस्तं नृत्यन्त हर्षोत्फुल्ल लोचनम्, नवनीत नृतरूपं कारयेत । मरीचि संहिता पटल 59 पृ· 381·

3· सर्वाभरणभूषितं अंबरहीन अंबरा धार युंत नवनीत नृत्त रूपं कारयेत मरीचि संहिता ( वही )

4· नारदीय संहिता, 13/299, नवनीत नंट वापि पूजयेतमथापि वा । ( विष्व त्यसेन, 30/3 )

5· " नवनीताय नृत्यन्त " पाद्म संहिता ( क्रियापद ) 18 / 30·

में ही ले गए थे । वहाँ उनके मुंह से यह पद फूट पड़ा था ---

शोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेह किये
चारू कपोल, लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये
लट लटकानि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहि पिए । [1]

गोपाल प्रधान पुराणों औरउपनिषदों में " नवनीत " प्रिय कृष्ण का प्रतीक विस्तार मिलता है । पांच रात्र में " नंद नंदन " [2] तथा " बालबपुष " [3] से बालकृष्ण का बोध होता है और इस रूप का संक्रमण " नवनीत " नट में हो जाता है । [4] चतुर्भुज कृष्ण का स्थानापन्न " नवनीत नट " है । अत: इन दोनों की पूजा में विकल्प भी रखा गया । [5] इसके पश्चात् गोपाल [6] तथा " मदन गोप विलास वेशम् [7] के बिम्ब उभरते हुए मिलते हैं । " नवनीत नट " का बिम्ब कालकृष्ण के नृत्य में प्रकट है । सूर में नवनीत नट की परंपरा समृद्ध हुई है । [8]

---

1• सू•सा 717•

2• शांडिल्य, 1/16/31•

3• विष्णु तंत्र, 18 / 3•

4• पाद्म संहिता, 18 / 30•

5• विश्वक सेन संहिता, 30 / 3•

6• शेष संहिता, 26 / 52•

7• पाराशन संहिता, 15 / 254•

8• हरि अपने आंगन कछु गावत

## 6·33 गोरक्षक :-

गोरक्षा संबंधी कुछ शब्द सूत्र वैदिक साहित्य में मिलते है । उनका संक्रमण कृष्ण की ब्रज स्थलीय देवदमन, और असुरविनाश लीलाओं में होता है ।

2·1 इन्द्र = गोप -> गोपाल कृष्ण

इन्द्र का गो - ब्रज रक्षक के रूप में आह्वान इन्द्रगोप -> कृष्णगोप

जो इन्द्र गो रक्षक था, वह गो-गोप - ब्रज के विनाश के लिए कुपित हो जाता है । गोप तो कृष्ण बन जाते हैं और गो-नाशक ( = व्रत आदि असुरों के गुण ) इन्द्र बन जाता है । वेद में गो-हरण असुरों के द्वारा ही किया जाता है । कृष्ण वृत्त में ब्रह्मा भी गायों का अपहरण करता है ।

अनेक दानवों तथा असुरों से गोपाल कृष्ण गायों की रक्षा करके जन - संपत्ति के वर्गीय संक्रमण से बचाते हैं । अघासुर बकासुर, आदि के सूत्र इसी अभिप्राय के साथ गुंफित हैं ।

## 6·4 सूर के कृष्ण : क्रान्ति के संदर्भ में :-

सूर के कृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय अवतार कल्पना में सर्वोच्च स्थान रखता है । सूर के कृष्ण का व्यक्तित्व मूलत: तो ललित और रंजक परक है, किन्तु उसके दूसरे समाजोन्मुख आयाम भी हैं । वह स्वयं रसावतार है और समाज के जीवन में रस बरसाता भी है । मर्यादा के नाम पर थोथे आदर्शों और रूढ़ियों को वह निर्ममता से तोड़ देता है । कृष्ण के प्रति भक्ति मूलक असीम प्रेम लोक मानस में उमड़कर कृष्ण की ओर प्रभावित होता है । यह प्रेम किसी गुह्य स्रोत से नि:सृत नहीं होता,

वह आपसी सामाजिक संबंधों से पैदा होता है । समाज के निम्न जन और वर्ग के लिए कृष्ण प्राप्य और बोध गम्य बन गए । गोप और कृषक संस्कृति में जो कुछ भी भव्य था, वह कृष्ण के रूप में संमूर्तित हो उठा । भागवत के दर्शन को ग्रहण तो सूर ने किया । किन्तु उसको अपनी मौलिकता और अन्य लोक स्रोता से प्राप्त सामग्री के आधार पर इस प्रकार चमकाया कि लोक-मानस आलोक-विह्वल हो उठा । कहीं भी तो रूढ़ि गत जाड्य कृष्ण की परिकल्पना में दिख-लाई नहीं पड़ता । कृष्ण के बाल्यकाल, कैशोर्य और यौवन के प्रसंगों को ऐश्वर्य मूलक अभिप्रायों से सूर इस प्रकार मुक्त कर सके कि सब कुछ सहज, सरल और सामान्य लगने लगे । यद्यपि वल्लभ संप्रदाय में ऐश्वर्य ज्ञान युक्त भक्ति की मान्यता रही, किन्तु सूर के सृजन व्यापार में अलौकिकता और ऐश्वर्य बोध तरल होकर लौकिक बोध में घुलमिल जाते हैं । मथुरा और द्वारका के प्रसंगों में योद्धा और शासक के रूप में भी कृष्ण मिलते हैं, पर जनवादी सूर इस पक्ष के सौन्दर्य सृजन में तल्लीन नहीं हुआ, उनकी गोपियाँ उसी ब्रज कृष्ण की झाँकी के लिए तरसती रहीं ।

चेवगिनी चेलीशेव के शब्दों में :-- " कभी - कभी सूरदास यह भूल गए प्रतीत होते हैं कि कृष्ण इस जगत में विष्णु का अवतार होकर आये हैं । गाँव के साधारण युवक के रूप में उन्हें हम देखते हैं जो स्वस्थ, शक्तिशाली और कुशाग्र बुद्धि, चालाक, हँसोड़ तथा लड़कियों का चहेता है । सूर काव्य में राधा कृष्ण का परस्पर प्रेम भी प्रतीक मात्र है, जिसमें मनुष्य की आत्मा भी भगवान को प्राप्त करने की इच्छा की अभिव्यक्ति है : फिर भी कवि ने प्रेम भावना को व्यक्त करते हुए बड़ी सात्त्विकता तथा भावपूर्णता का परिचय दिया है ।"[1] मुंशी राम शर्मा के अनुसार, सूरदास के कृष्ण का सामंतवादी युग के भगवान विशेष के साथ कोई संबंध नहीं है । वे जनता के शोषक नहीं बल्कि उनके परम मित्र और सहायक हैं । "

---

1. प्रज्ञा चक्षु सूर दास, ( संपादित ) पृ. 22 - 23.

सूर ने अपनी प्रतिभा से सामंतवादी वातावरण, में महामानव की नहीं, सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा की । कृष्ण, कुछ संस्पर्शों को छोड़कर सामान्य मनुष्य है । कृष्ण के दैवी रूप की स्मृति और चेतना कृष्ण चरित्र की समान्यता और सहजता में कहीं गहरे रम जाती है । पाठक के अचेतन मन में यह रती है और अद्‌भुत की संवेदना पैदा करती रहती है । जहाँ कहीं भी अलौकिकता सिर उठाती है, गहन भावावेश की शक्ति उसे उबा नहीं देती, वरन् उसे अपने में लीन कर लेती है । स्वभावत: कृष्ण की ब्रज लीलाओं में कुछ रहस्यात्मक विषय और प्रसंग उभर आते है । किन्तु उनको सूर वास्तविकता की ओर लौटा देते हैं । ....... श्री कृष्ण अपने देशवासियों को अपने ईश्वरत्व से संबंधित घटनाओं से अवगत नहीं होने देते । उन व्रजवासी बातन जानी । और वे लोग उनके प्रति श्रद्धा पूर्ण भाव न रख कर उन्हें अपना साथी ही समझते रहते हैं — जबकि यह भागवत पुराण में देखने को नहीं मिलता । भागवत पुराणवाला मानंदड कवि की सृजनात्मक शक्ति को गतिहीन नहीं कर पाता क्योंकि उसका मुख्य उद्‌देश्य वास्तविक जीवन तथा साधारण सांसारिक मनुष्य की भावनाओं और संवेगों को चित्रित करना है । [1]

यह कहना युक्ति संगत नहीं दीखता कि सूर के कृष्ण मात्र आदर्शवाद से मंडित है । यह बात राम के संबंध में कही जा सकती है । सूर के कृष्ण बहुत वास्तविक है । उनका आदर्श, उनके यथार्थ की उपलब्धि मात्र है । उनकी क्रान्ति चेतना उन पर अध्यारोपित नही है । वह कृष्ण के व्यक्तित्व और सामाजिक स्थितियों के संघात से स्वयं उगती और फैलती है । ब्रज कृष्ण की क्रान्ति किसी सुनियोजित सशस्त्र क्रान्ति का रूप धारण नहीं करती । वह जन साधारण से जुड़ कर परम सहज रूप में आती है और जन शक्ति की विजय के घोष के साथ एकमेक हो जाती है । यह भी नहीं कि वह बुद्धि जीवियों की मात्र वैचारिक क्रान्ति है । क्रान्ति का व्यावहारिक पक्ष जन शक्ति के रूप में प्रतिफलित होता है ।

---

1. चेव गिनी चेली शेव, प्रज्ञाचक्षु सूरदास । सं० पृ० 23 ।

ब्रज कृष्ण का जीवन ग्रामीण वातावरण में व्यतीत होता है । इस वातावरण में सत्ताधारी शक्तियाँ कठोरता और निर्दयता के साथ एक जन-जाति का ग्रामीण जन के विरुद्ध षड्यन्त्र करती हुई मिलती हैं । ग्रामीण जन कृष्ण के नेतृत्व में इन सबसे लड़ता है । अत्याचारों के विरुद्ध लडाई जारी है । टेक यह है कि बुराइयों का नाश कर संसार में व्यापक न्याय की स्थापना की जानी है ।

सूर काव्य के नायक श्रीकृष्ण हैं । दार्शनिक दृष्टि से इनमें ब्रह्म का प्रतीकत्व प्रतिफलित होता है और पौराणिक दृष्टि से ये विष्णु के अवतार हैं - जिनका उद्देश्य है - अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना । किन्तु सामाजिक दृष्टि से कृष्ण का संबंध जन - जीवन से है । जन जीवन सहज और साम्य के किनारों में प्रवाहित होता है । प्रतिरोधी शक्तियों के प्रति क्रान्ति कारी हो उठना जन-जीवन का एक प्रमुख ऐतिहासिक तत्व है । क्रान्ति में वैयक्तिकता या युद्ध का भाव उतना नहीं रहता जितना सामूहिकता और सामूहिक जागरण का । कृष्ण का जन्म अभिजात राज वंश में हुआ पर उनके व्यक्तित्व के समस्त संस्कार जन-जीवन से ही पुष्ट होते हैं । उन संस्कारों में सबसे अधिक आकर्षण संस्कार क्रान्ति का है । क्रान्ति का लक्ष्य समग्र जीवन की जड़ता को नष्ट करके स्वस्थ एवं प्रगतिशील जीवन की स्थापना होता है । सूर के कृष्ण क्रान्ति के बहुमुखी रूप को लेकर चलते हैं । इस बहुमुखी क्रान्ति का लक्ष्य होता है -- सामान्य जीवन की विमुक्ति । कृष्ण एक ओर सामान्य जीवन की गति के अवरोधक तत्वों के प्रति क्रान्ति कारी हो उठते हैं और दूसरी ओर जीवन के स्वस्थ और सहज रूप का अन्वेषण और उसकी स्थापना करते हैं । यहाँ क्रान्ति शब्द का प्रयोग खींच तान कर कृष्ण को समसामयिक संदर्भ से जोड़ने के लिए नहीं किया गया है । उनके जीवन से संबंधित प्रसंग स्वयं कृष्ण की क्रान्ति चेतना के प्रमाण हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि कृष्ण का संबंध उस आंगिरस परंपरा से है जो किन्ही रूढ़ मान्यताओं को ज्यों का त्यों मानने से इन्कार करती है । यह अवश्य है कि सूर की भाव-प्रवणता कृष्ण के क्रान्तिकारी रूप पर छाई रहती है । यदि इस भाव प्रवणता को थोड़ा इधर-उधर हटाएँ तो कृष्ण का क्रान्तिकारी रूप उभर तैर आता है ।

तत्व की दृष्टि से युद्ध और क्रान्ति में अन्तर है । युद्ध किसी नेता राजा या महामानव की एक योजना बद्ध और सोद्देश्य क्रिया है । जबकि क्रान्ति जनता के सामूहिक जीवन से धीरे-धीरे बल ग्रहण करके उठने वाली एक सशक्त आंधी है जो सामाजिक जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत करती है । यदि कृष्ण के जीवन वृत्त का विभाजन किया जाय तो उनका व्रज जीवन क्रान्ति के तत्वों से समन्वित है, जिसका अंत कंस-वध में होता है । उसके पश्चात् कृष्ण युद्धों में प्रवृत्त होते हैं ।

कहना न होगा कि सूर-साहित्य में प्रमुखता कृष्ण के व्रज-जीवन की ही, इसी आधार पर कृष्ण के क्रान्तिकारी रूप की ओर संकेत किया गया है । इस क्रान्ति को निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है --

1. वैचारिक क्रान्ति
2. धार्मिक क्रान्ति
3. सामाजिक क्रान्ति
4. आर्थिक क्रान्ति

6.41 (1) वैचारिक क्रान्ति :-

वैचारिक क्रान्ति प्रचलित, रूढ़, परंपरा भक्त और म्रियमाण विचारों और मान्यताओं को समाप्त करने के लिए होती है । भारतीय दर्शन के इतिहास में वैदिक विचारधारा को कई क्रान्तियों का सामना करना पड़ा जैसे कर्मकाण्ड की विरोधी ज्ञान-काण्डीय-औपनिषदिक क्रान्ति, जैन और बौद्धों की आचार मूलक क्रान्ति । कृष्ण में भी वैदिक विचार धारा की पूर्णतः स्वीकृति नहीं मिलती । अनेक वैदिक तत्वों का प्रत्याख्यान कृष्ण वार्ता में मिलता है । सूर-साहित्य में इसको दो रूपों में लक्षित किया जा सकता है : उद्धतवैदिक दिव्य शक्तियों का दमन और यज्ञ परक कर्मकाण्ड के स्थान पर लोक धर्म की स्थापना ।

उद्धत दिव्य शक्तियों का दमन-प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ जनानुकूल भी हो सकती है और जन-जीवन के प्रतिकूल भी । प्रतिकूल शक्तियों को राक्षस कहकर अनुकूल शक्तियों की उनपर विजय घोषित की जाती रही है । किन्तु ऐसी स्थिति भी आती है जबकि अनुकूल शक्तियाँ भी स्वयं उद्धत होकर विनाशात्मक रूप ग्रहण कर लेती है । इन विनाशात्मक शक्तियों पर कृष्ण की विजय एक प्रमुख वैष्णव अभिप्राय है जो अन्य अवतारों से कृष्ण को पृथक करता है । इन प्रसंगों को सूर ने भावात्मक स्फीति प्रदान की है, साथ ही, मुख्य अभिप्राय को भी सुरक्षित रखा है । इनमें उल्लेखनीय प्रसंग है - इन्द्र, वरूण, अग्नि और वायु के उद्धत रूप के दमन ।

ऋग्वेद में कृष्ण के संबंध में कुछ संकेत मिलते है ।[1] डा॰आर॰जी॰ भण्डारकर ने ऋग्वेद के संकेतों के आधार पर इन्द्र और कृष्ण के द्वन्द्व को सिद्ध किया है । उन्होंने ऋग्वेद में वर्णित "द्रप्स:" को कृष्ण मानकर लिखा है - इन्द्र ने कहा, "कृष्ण (द्रप्स:) अपनी सेनासहित अंशुमती यमुना के किनारे शिविर डाले पड़ा है । " आगे इन्द्र ने मरूतों से कहा, "मैने कृष्ण को अंशुमती के ऊँचे-नीचे कगारों पर तीव्रता से घूमते देखा है । वीरों । तुम जाओं और उस सेना से युद्ध करो ।"[2] हरिवंश के एक उल्लेख से स्पष्ट होता है कि कृष्ण ब्राह्मणों के यज्ञ धर्म के विरोधी थे । कृष्ण ने कहा "ब्राह्मण मंत्र-यज्ञ करते है, कृषक हल-यज्ञ करते हैं और हम पर्वत-यज्ञ करते हैं । मै यदि आवश्यकता हुई तो गौ पूजा अवश्य करूँगा ।[3] वह गोपूजा का तत्व कुछ विद्वानों ने अहीर जाति के प्राबल्य के कारण माना है । गो-गोपाल की संस्कृति इस जाति की थी और कृष्ण इनके नेता थे ।

---

1· ऋग्वेद 8 / 85, 13 / 15·

2· सम आँस्पेक्ट्स आफ एन्शियेन्ट इण्डियन कल्चर, पृ॰ 82·

3· ब्रहमिंस परफार्मयज्ञ आफ हिम्स, पीज़ेन्टसयज्ञ आफ प्लाउज । वीआर फर द यज्ञ आफ माउन्टेन । आइ शैल श्योरली कॉज द वरशिप आफकाउज - वही ।

पौराणिक साहित्य में इसी सूत्र का विस्तार किया गया है । कृष्ण के गिरिधर रूप का प्रतीकत्व भागवत में सबसे अधिक मिलता है और वल्लभ सम्प्रदाय की भाव योजना में इस प्रसंग का केन्द्रीय स्थान है । गिरिराज पर आज भी ऐरावत हाथी और सुरभि गाय के पदचिन्ह बताएँ जाते हैं । साम्प्रदायिक भावना के अनुसार यही वह स्थान है जहाँ इन्द्र कृष्ण की शरण में आए थे ।

सूरदास ने इस प्रसंग को लिया है । जिस इन्द्र को गोरक्षक मानकर ब्रजवासियों द्वारा पूजा समर्पित की जाती थी वहीं इन्द्र उद्धत होकर ब्रज-विनाश पर तुल जाते हैं और घन-घटाओं को आदेश देने का निश्चय करते हैं

प्रथमहि देऊँ गिरिहि बहाई
वज्र घातनि करौं चुरकुट ।
देऊँ धरनि बहाई ।[1]

और प्रलयंकर घटाएँ घिर आती हैं ।

बलवत्त, वारिवर्त्त, पौन वर्त्त, वज्र अग्नि वर्तक जलद संगल्याए ।
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए ।

कृष्ण इस उद्धत इन्द्र का दमन करते हैं । कृष्ण वार्ता में इन्द्र के "मद - मोचन " के और भी प्रसंग है । अदिति के कुण्डलों को चुरानेवाले " भौयासुर " व नरकारसुर " को इन्द्र पराजित नहीं कर सकें थे । कृष्ण ने इनको अभिभूत किया । इस प्रकार इन्द्र के सामने कृष्ण का उत्कर्ष सिद्ध क्या गया है ।

---

1· सूर सागर पद ।· 470 ·
2· - वही - ।· 471 ·

इन्द्र मद-मोचन का एक प्रसंग द्वारका - संदर्भ में भी घटित हुआ है । सत्य भामा ने कल्पवृक्ष पाने की इच्छा की । जिस प्रकार कालीय नाग से कमल पुष्प मंगवाए गए थे उसी प्रकार इन्द्र से कल्पवृक्ष मंगवाया गया --

कल्पतरू वृक्ष तारौ मंगाएँ ।

इन्द्र ने कृष्ण के चरणों में गिरकर अपनी विनय प्रकट की और रत्न कुण्डल देकर कृष्ण के प्रति अपना सम्मान व्यक्त किया --

इन्द्र रह्यौ पांय परि
त्रिदस पति मान कौ रतन कुण्डल दिया,
वृच्छ लै आपु निज पूरी आए । [2]

वैदिक साहित्य में इन्द्र के समान ही वरूण की भी मान्यता है । वरूण और कृष्ण के संघर्ष के संबध में श्री अमृतवसंत पंड्या का मत इस प्रकार है --

" पुराण में अनिरूद्ध के वृत्त में बाणासुर का नगर शोषित पुर या रुधिर पुर बताया है । यह वरूणकी नगरी " सुषा " से आगे था । बाणासुर को हराकर लौटते हुए श्रीकृष्ण को " सुषा " में वरूण से युद्ध करना पड़ा था । [3]

सूर सागर में वरूण दमन के अभिप्राय में कुछ परिवर्तन किया गया है । वरूण ने नंद को इसलिए बंदी बनाया कि कृष्ण उनकी मुक्ति के लिए आए और इस प्रकार वरूण को कृष्ण के दर्शन का सौभाग्य मिले । अंत में वरूण-अपनी पत्नियों सहित, कृष्ण

---

1. सूर सागर पद 4164.
2. - वही -
3. श्री कृष्ण का असीरिया पर आक्रमण और विजय (ब्रज भारती, पौष, फाल्गुन, 2009 वि. )

के सम्मुख विनत हुए और उनकी स्तुति की । [1] डॉ चन्द्र भान रावत के अनुसार " जिस प्रकार इन्द्र दमन सूत्र का मुख्य अभिप्राय गौ-गोपाल-ब्रज की सामूहिक रूप से रक्षा है, वहाँ वरूण दमन गोपराज ( = नन्द ) की वरूण पाश से मुक्ति का उद्‌देश्य प्रकट करता है । [2]

अग्नि के उद्दत रूप के दमन का सूत्र दावानल-पान में मिलता है । कंस की प्रेरणा से दावानल ब्रज को भस्मसात करने के लिए चलता है :

चल्यौ रिस पाइ अनुराइ तब धाइके,
ब्रज जनीन बन सहित जारि आऊँ । [3]

कृष्ण उसका पान कर लेते है । [4] इस प्रकार तृणावर्त वायु के उद्धत रूप का प्रतीक है । उसके उद्दत रूप का चित्रण सूर ने इस प्रकार किया है --

इहि अंतर अंध वाह उठ्यौ इक, गरजत गगन सहित घहरे । [5]

वायु के इस प्रतिकूल रूप पर कृष्ण विजय प्राप्त करते है :

चापि ग्रीव हरिप्रान हरे, दृग-रक्त-प्रवाह चल्यौ अधिकानी ।
पाहन सिल निरखि हरि डारयो, अमर खेलत स्याम बिनानी ।[6]

---

1· सूर सागर पद · 1602·

2· कृष्ण भक्ति साहित्य : वस्तु स्त्रोत और संरचना पृ· 172·

3· सूर सागर पद· 1208·

4· - वही - 1215·

5· सूर सागर पद· 694·

6· - वही - पद· 696·

इस प्रकार वेदों में मान्य प्राकृतिक दिव्य शक्तियों के प्रति कृष्ण क्रान्ति करते हुए मिलते हैं । एक माननीय संदर्भ में जो दिव्य शक्तियाँ पूज्य होती है दूसरे विपरीत संदर्भ में उनका दमन भी आवश्यक हो सकता है । कृष्ण किसी रूढ़ि से बंध कर अंध रूप से इन शक्तियों की उपासना का विरोध करते हैं ।

6·42 धार्मिक क्रान्ति :-

धार्मिक क्रान्ति रूप धार्मिक अभिजात-तंत्र के प्रति क्रान्ति में मिलता है । धार्मिक अभिजात-तंत्र के प्रतीक ब्राह्मण है जो वैदिक साहित्य और कर्मकाण्ड पर एकाधिकार रखते हैं । इस रूप में सामान्य जन उपेक्षा व उनका शोषण करते है । कभी कभी ब्राह्मण साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ दुरभिसन्धि करते हैं उनके जन-विरोधी अभियानों में यंत्रवत कार्य करने लगते हैं । श्रीधर ब्राह्मण इसी प्रकार कंस के बाल विरोधी अभियान में सक्रिय होते है । उनको कृष्ण के विनाश के लिए भेजा जाता है । कृष्ण इनका विनाश तो नहीं करते है किन्तु ऐसी स्थिति में ला देते हैं कि सूरदास उन्हें " करम कसाई " की संज्ञा देते हुए कहते हैं

श्रीधर बांभन करम कसाई । "[1]

दूसरी ओर चतुर्वेदियों का यज्ञानुष्ठान है जो भूखे ग्वाल-बालों की चिन्ता न करके यज्ञ के नाम पर भोग करते हैं । कृष्ण इस आडम्बर का भी खण्डन करते हैं । ग्वालबालों को जब वेदाचार रत ब्राह्मण फटकार देते हैं तो उनकी स्त्रियों से कृष्ण वह भोजन मंगा लेते है जो देवी देवताओं के लिए बनाया गया था । कृष्ण की वह धर्म क्षेत्रीय क्रान्ति गीता के इस श्लोक से जुड़ जाती है --- " त्रैगुण्य विषयां वेदा निस्त्रै गुण्यों भवार्जुन । "[2] इसी प्रकार धर्म की अनेक रूढ़ियों का विरोध करके मानव की

---

1· सूर सागर पद 675·
2· श्री मद्भगवद्गीता 2 / 45·

सहज सामान्य वृत्तियों को विमुक्त करते हुए मिलते हैं ।

सूर साहित्य में ब्रह्म का पराभव भी दिखलाया गया है । इसमें भी यज्ञ को चुनौती ही झलकती है । ब्राह्मण साहित्य में ब्रह्म प्रजापति है और इस रूप में वे यज्ञ का रूप भी है । ब्रह्मा का पराभव वैदिक यज्ञ का रूप भी है । ब्रह्मा का पराभव वैदिक रूप प्रजापति का ही पराभव बन जाता है । ब्रह्मा अन्तत: कृष्ण की शरण में आ जाते हैं ।

लोक धर्म की प्रतिष्ठा :-

कृष्ण ने जहाँ वैदिक कर्मकाण्ड और वैदिक दिव्य शक्तियों का विरोध किया वहाँ दूसरी ओर उस शून्य (वैक्यूम) को लोकधर्म या जन धर्म से भर दिया । क्रान्ति का लक्ष्य होता है रूढ़ियों को हटाकर शून्य बनाना और उस शून्य को जीवन तत्वों से भर देना । गोवर्धन पूजा इसी प्रकार का एक प्रयत्न था । इस प्रसंग का अभिप्राय वैदिक इन्द्र के स्थान पर गो-गोवर्धन की लोक पूजा की प्रतिष्ठा है —

छाँडि देहु सुरपति की पूजा
कान्ह कह्यौ गिरी गोवर्धन ते और देव नहिं दूजा ।[1]

उद्धव का ज्ञान मार्ग के स्थान पर गोपियों के प्रेम धर्म का समर्थन भी कृष्ण की क्रान्तिकारिणी दृष्टि का परिचायक है । प्रेम-दर्शन ही लोक-दर्शन हो सकता है ।

---

1. सूर सागर पद. 1440.

## 6.43 3 - सामाजिक क्रान्ति :-

बहुत सी जन विरोधी शक्तियाँ सामाजिक जीवन को भविष्योन्मुखी होने से रोकती हैं । मिथकीय दृष्टि से सूर-साहित्य में जो बाल विरोधी शक्तियाँ आई हैं वे समाज-विरोधी नृशंस शक्तियों की प्रतीक है । कंस उन शक्तियों का अनुशासक है जो जन " जीवन की जागृति के अंकुरों को विनष्ट करना चाहती हैं । कृष्ण एक जन-नायक की भाँति समाज में फैले अन्याय के प्रति विद्रोह करते हैं । पहले वे बाल-विरोधी शक्तियों से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त करते हैं । उदाहरण के लिए कंस द्वारा भेजे गए पूतना, शकटासुर और तृणावर्त आदि को लिया जा सकता है । कंस स्वयं भी बाल-विरोधी है क्योंकि वह देवकी की सात सन्तानों को जन्म लेते ही मार डालता है । इन सात संतानों के वध का अभिप्राय ( मोट्इव ) थोड़ा मोड़ दिया गया है ।

यहाँ कृष्ण स्वयं भी बाल-देवता के रूप में दिखलाई पड़ते हैं । बाल - देवता की कल्पना भी एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीत होती है । ग्रीस में बाल देव के संबंध की पुराण-गाथाएँ प्राप्त होती है । कुछ इतिहासज्ञ मानते हैं कि बालक रूप में कृष्ण की कल्पना बाहर से ही आई है । बाल-देव के साथ लगी अलौकिकता सूरदास की सामान्य बाल-कल्पना के लिए खतरा बन सकती थी । पर सूरदास यशोदा के वात्सल्य के संदर्भ में इस खतरे से सप्रयत्न बच जाते हैं । यशोदा जैसे अलौकिकत्व को देखती ही नहीं और अपने शिशु की कल्याण कामना के लिए मनौती मानती है और दान-दक्षिणा देती है । बाल-देव का चरम ब्रह्मकाण्ड दर्शन में दिखलाई पड़ता है । पर इतना विराट स्वरूप भी यशोदा के वात्सल्य-प्रवाह में तिनके की तरह बह जाता है । तात्पर्य यह है कि एक " आमशिशु " की कल्पना को सूरदास अलौकिकता के थपेड़ों से सप्रयास सफलता पूर्वक बचा लेते हैं । ऊपर से देखने से पता चलता है कि बालक कृष्ण सुरक्षा के लिए ही यह असुर विनाश लीला करते है किन्तु वास्तव में, ये बाल-विरोधी शक्तियाँ सामूहिक-रूप से बाल विरोधी थीं ।

बालकृष्ण के साथ एक और अभिप्राय उगता हुआ दिखलाई पड़ता है। बालक समाज के भविष्य और आततायी शक्तियों के प्रति क्रान्ति का प्रतीक होता है। समाज विरोधी शक्तियाँ इस भविष्य को नष्ट कर देना चाहती हैं। कृष्ण की ही रक्षा है। इस रूप में बालकृष्ण, सामान्य जन और उनकी शक्तियां का उद्घोष करते हुए तथा उनके भविष्य की रक्षा करते हुए मिलते हैं। बालकृष्ण के अवतार के संबंध में बाल-रूप भविष्य की सुरक्षा का अभिप्राय दृढ़ता से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। महाभारत में जब अश्वत्थामा गर्भस्थ परीक्षित पर ब्रह्मास्त्र चलाता है तब भी भविष्य के लिए चिन्तित कृष्ण गर्भस्थ शिशु की रक्षा करते हैं। इसी सिलसिले में उन कथासूत्रों की ओर भी संकेत किया जा सकता है जिनमें कृष्ण देवकी के मृत-पुत्रों और गुरू-पुत्रों को जीवित रूप में वापस ले आते हैं।

बाल विरोधी शक्तियों पर विजय के पश्चात कृष्ण का " आम आदमी " के नेता के रूप में उदय होता है। गो-गोप और गो-धन उस कृषि-पूर्व आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं जो सामान्य जन-जीवन में मिलती हैं। एक ओर तो आततायी कंस इस अर्थ व्यवस्था का शोषण करता है और सारा दूध और उससे उत्पादित वस्तुएँ नगर में मँगवा लेता है। दूसरी ओर इस स्वातन्त्र्य-प्रिय गोप-जाति का दमन भी करता है ताकि यह जाति दास ही बनी रहे। यहाँ कृष्ण सभी गो-गोप विरोधी शक्तियों का विनाश करते हैं। जो अलौकिकता भी प्रकट हुई है वह सामांय जन शक्ति का विस्फोट ही प्रतीत होतीहै। गो-गोप-विरोधी कंस के द्वारा प्रेरित शक्तियों का भी विनाश होता है और गोचारण में बाधक शक्तियों का भी। इस प्रकार की शक्तियों में बकासुर अघासुर संसार की पुराण गाथाओं में मिलने वाला अजगर ( ) ही है। जिसके पेट में सभीगो-गोप चले जाते हैं। इसी प्रकार बकासुर पर्वताकार पक्षी है जो पशुओं को निगल जाता है, उन सारी शक्तियों का विनाश करके गोपाल कृष्ण सामान्य गोपाल जाति के नेता बनते हैं। इस वीर नेता के प्रति ग्वाल-बाल अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं और उनकी वीरता पर गर्व भी करते हैं।

यहाँ काली नाग की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी । वह एक जल या दल-दल भूमि से संबंधित महासर्प ही है जो गोप और गायों के लिए विषभरा वातावरण प्रस्तुत करता है । कालीय विजय कृष्ण वार्ता का एक प्रमुख अभिप्राय है जिससे साहित्य ही नहीं मूर्ति कला और चित्र कला भी प्रभावित हुई है । दक्षिण के मंदिरों के प्राचीरों और स्तंभों पर कालीय दमन की मूर्तियाँ ही सबसे अधिक मिलता हैं ।

तात्पर्य यह है कि गो-विरोधी शक्तियों का विनाश करके ही कृष्ण सच्चे गोप बनते हैं । वैदिक साहित्य में " गोप विशेषण " इन्द्र के लिए भी प्रयुक्त मिलता है और विष्णु के लिए भी । वेद में गायों की चोरी का भी वृत्त प्रसिद्ध है । इसके लिए " सरमा " और " पणित " का वृत्त लिया जा सकता है । इन्द्र चोरी की गई गायों को फिर से प्राप्त ही करता है । ब्रह्मा के द्वारा चोरी की गई गायों की चोरी का अभिप्राय भी कुछ ऐसा ही है । कृष्ण ग्वालों और गायों को फिर से प्राप्त करके ब्रह्म को परास्त करते हैं ।

इतना सब होते हुए भी कृष्ण के आस-पास किसी अभिजात्य का ताना-बाना नहीं बुना जाता । वह एक सामान्य गोप-बालक ही बने रहते हैं और यह प्रकट भी करते रहते हैं कि गो-विरोधी शक्तियों पर विजय वैयक्तिक नहीं सामूहिक है ।

## 6•44 आर्थिक क्रान्ति :-

आर्थिक क्रान्ति शब्द आते ही मार्क्सवादी क्रान्ति का ढांचा हमारी कल्पना में उभरने लगता है । परिभाषिक रूप से मार्क्सवादी आर्थिक क्रान्ति का चौखटा बनाकर उसमें सूरदास की आर्थिक क्रान्ति को " फिट " करना, उचित न होगा । शोषण, शोषक, शोषित, एकाधिकार, समाजीकरण जैसे शब्दों की स्थिति स्वंतत्र रूप से सभी युगों

में मिलती है और इनके आधार पर क्रान्ति भी समाज में होती रही है । पर यह आवश्यक नहीं कि हर क्रान्ति का रूप शतप्रतिशत मार्क्सवादी ही हो । आर्थिक क्रान्ति के कुछ अस्फुट सूत्र सूर-साहित्य में मिल जाते हैं । उनकी ओर स्वतंत्र रूप से संकेत करना पर्याप्त होगा । यदि किसी निश्चित दृष्टि से उनकी व्याख्या की जाए तो विवादास्पद मुद्दे खड़े हो सकते हैं । अत: निरापद यही होगा कि स्वतंत्र भाव से उनकी ओर संकेत कर दिया जाए ।

एकाधिकार :

एकाधिकार सम्पत्ति का वह केन्द्रीकरण है जो एक ओर तो वर्गीय अभिजात्य को जन्म देता है और दूसरी ओर सामान्य जन को विपन्न बना देता है । सूरदास के कृष्ण जिस जाति में पैदा हुए थे उसमें यह प्रवृत्ति न थी । सारी अर्थ व्यवस्था विकेन्द्रकृत थी । किसी के पास यदि कुछ गाये अधिक भी हो जाती थीं तो भी आर्थिक वर्ग-भेद जन्म नहीं लेता था । एक सामान्य गोप-बालक कृष्ण को चुनौती देते हुए कहता है :-

जाति-पांति हम तें बड़ नाहीं, नाही बसत तुम्हारी छैया ।
अति अधिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारे गैया ।[1]

कृष्ण एकाधिकार की वृत्ति का विरोध करते हैं । वन्य सम्पत्ति में प्रमुख हैं -- मधु और लवण । इन पर इन्हीं नाम के राक्षस-मधु दानव और लवणासुर का एकाधिपत्यवाली शक्तियों का विनाश करके वन्य सम्पत्ति को जन सुलभ बना देते हैं । इसी प्रकार जल की संपत्ति का प्रतीक " कमल " है । इन कमलों पर कालीय नाग का एकाधिकार था । कृष्ण उसका भी दमन करके जल संपत्ति को मुक्त करते हैं ।

---

1. सूर सागर पद 863.

प्रथमहिं कमल कंस कौ दीजै डारहु हमहि मराई । [1]
सांच कहौ मै तुमहि श्री दामा, कमल काज मैं आयी ।

कंस के रजक का वध और वस्त्रों का लुटाना भी इसी क्रम की एक घटना है ।

रजक मारि हरि प्रथम ही नृप बसन लुटाये ।
रंग रंग बहु भांति के, गोपीन पहिराए । [2]

शोषक शक्ति के रूप में कंस का वध होता है । इस प्रकार कृष्ण की क्रान्ति का दुर्धर्ष रूप प्रखर तर होता चलता है ।

## 7. अवतारी कार्य : जन श्रुतियाँ :-

जिस प्रकार भक्त साहाय्य की पौराणिक कथाएँ मिलती हैं, उसी प्रकार कुछ जन श्रुतियाँ भी प्रचलित रहीं । जब संत-संप्रदायों में साम्प्रदायिक अलौकिकता उभरने लगी, तब ये अनुश्रुतियाँ भी प्रकट हुईं । इनके मूल में चमत्कार तत्व है ।

जगन्नाथ ने संत जयदेव को एक ब्राह्मण कन्या से विवाह करने की प्रेरणा दी । [3] सधना के शाल ग्राम उसके तराजू में थे । एक वैष्णव उसे ले गया । शाल ग्राम ने वहीं रखने के लिए कहा । [4] नामदवे के संबंध में कई अनुश्रुतियाँ है । [5]

---

1. सूर सागर पद 538.
2. सूर सागर, पद 3042.
3. भक्त माल । छप्पय 32, प्रियादास, कवित्त 144.
4. भक्त कवित्त 394.
5. भक्त छपाय, 53 तथा प्रियादास का विस्तार ।

कृष्ण नामदेव के परिवारी बन गए थे ।[1] इन्होंने अपने इष्ट को दूध पिलाया, इष्ट ने इनकी छान छवाई ।[2] संत त्रिलोचन के घर में अन्तर्यामी रूप से वे भगवान नौकर रहे ।[3] सेन नाई ‌(विट्ठल भक्त) के स्थान पर प्रभु ने राजा की सेवा की[4] संत पीपा को समुद्र में कृष्ण-रुक्मणी ने दर्शन दिया ।[5] इसी प्रकार रैदास को राम जानकी ने दर्शन दिया ।[6] धनाभगत ने बिना बीज के खेत उपजाया । दादू को वृद्धानंद के रूप में स्वयं भगवान ने दीक्षा दी ।[7] भगवान ने मजदूर बन कर कलूक का कार्य किया ।[8] बावरी साहिबा श्रीकृष्ण मनमोहन के दर्शन के लिए बावरी ही हो गयीं ।[9]

इस प्रकार के चमत्कारी संत चरित्र के रूप में भगवान का अवतारी रूप व्यवहृत मिलता है । "भक्तमाल" जैसे चरित्र मुक्तक साहित्य में इन्हीं अभिप्रायों को प्राथमिकता दी गयी है । ब्रज भाषा में भक्त मालों की परंपरा प्रायः सभी निर्गुण भक्तों के संबंध में भी ये अनुश्रुतियाँ प्रचलित रहीं ।

---

1. पंगार कर, श्री तुकाराम चरित्र, पृ. 240. 2. रूपकला भक्तमाला, छप्पय 43.
3. - वही - प्रियादास कवित्त, 182.
4. भक्त माल, छपाय 63.
5. - वही - प्रियादास कवित्त 288.
6. - वही - प्रियादास कवित्त 262.
7. सुन्दर ग्रंथावली, पृ. 168.
8. मलूक दास की बानी, जीवनी पृ. 2.
9. सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दे करि ज्ञान अनन्त बखावरी ।
   (उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ. 477)

संत संबंध भावना : अवतार का विस्तार :-

भगवान की नराकार कल्पना या उसके अवतारों की भावना मनुष्य और भगवान के बीच संबंध बनाने की भूमि तैयार करती है । साथ ही निरपेक्ष तत्व की गुणात्मक कल्पना भी अवतार वाद के साथ विकसित होती है । निर्गुणियों ने भी अपने साध्य के साथ मानवीय संबंधों की स्थापना की और सगुण भक्त कवियों ने भी । यद्यपि संत ने न अवतारवाद की ही पूर्ण स्वीकृति की न सगुण की ही । किन्तु उसकी संबंध भावना साध्य के भावावतरण को सिद्ध करती है । उदाहरण के लिए इस भावना के कुछ प्रसंग लिए जा सकते हैं ।

संतो ने ईश्वर से भाई, बंधु, माता, पिता, स्वामी, गुरू, दास, पति आदि अनेक प्रकार के संबंध स्थापित किये हैं ।[1] भक्त की भाँति इनकी अर्चा-पूजा केवल बाह्य नहीं - आंतरिक है ।[2] संत का भगवान भी ऐश्वर्य माधुर्य आदि गुणों से मंडित है । दास्यभाव संबंध का प्राधान्य होते हुए भी अन्य संबंध भाव उपेक्षित नहीं है । कबीर ने भी उस प्रभु का स्मरण किया है जिसने अंबरीश की रक्षा के लिए चक्र सुदर्शन उठाया था ।[3] गुरू अर्जुन अवतार धारण करनेवाले और विराट रूप विष्णु से परिचित हैं ।[4]

दास्य भाव से दूसरा स्थान माधुर्य भाव का है । कबीर का हरि उसका प्रियतम है । प्रियतम से मिलने के लिए संत दुलहिन श्रृंगार करती ।[5] दादू की दृष्टि

---

1. दादू दयाल की बानी, भाग 2, पृ. 46.
2. दादू दयाल की बानी, भाग 2, पृ. 188, पद 441.
3. क.ग्र.पृ. 127 ﴾ पद 122 ﴿
4. गु.ग्र.सा.पृ. 1156 ﴾ गुरू अर्जुन ﴿
5. क.ग्र. पद 117 ﴾ पृ. 125 ﴿

में सारा संसार नारी है । पुरूष अवतार तो एक वही है । घर घर में नारियाँ सेज सजाकर कंत का पंत जोहती है । वह क्षण न जाने कब आवेगा जब नाथ को गले लगाने की स्थिति आयेगी ।[1] सभी संत पतिव्रत से ब्रह्म को उपास्य मानते हैं ।[2] स्वकीया रीत ही इनमें मान्य रही ।

संत ने प्रभु को माता और अपने को उसकी संतान के रूप में भी कल्पित किया है ।[3] प्रभु को बालक माननेवाला वात्सल्य संत साहित्य में प्राय: मिलता । सख्य संबंध के भी उल्लेख मिलते हैं ।[4]

गुरू और अवतार भावना :-

अवतार वाद का विस्तार गुरू को भगवान मानने में भी दिखलाई पड़ता है । सगुण वादी और निर्गुणवादी दोनों ही गुरू और भगवान में अभेद मानते हैं । एक प्रकार से गुरू भगवान का साकार रूप ही है । कबीर के सामने समस्या है — " काके लागू पाय " गुरू का स्थान सभी धार्मिक संप्रदायों में अत्यधिक रहा है । गुरू का स्थान इष्टदेव के समकक्ष माना जाता रहा है ।[5] ब्रह्म की भाँति गुरू भी घट-घट व्यापी हैं ।[6] गुरू की विराट कल्पना मिलती है, अवधूत गुरू का वचन

---

1. दादू की बानी, भाग 1, पृ. 27 (पद. 63)
2. सुन्दर ग्र. भाग 2, पृ. 690-91.
3. हरि जननी मैं बालक तेरा । क.ग्र. पृ. 123, पद 111.
4. गुरू राम दास, गु.ग्रं. सा. पृ. 65.
5. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, (पूर्ण नाथ संग्र. पृ. 45)
6. घटि-घटि गोरख घटि-घटि मीन ।
   आपा परचै गुरू मुखि चीन्ह । गोरख बानी पृ. 6.

वेद, चरण तीर्थ है । उसकी दया दृष्टि में कैवल्य है । दूसरों का वह उद्धार करता है । उसके एक हाथ में भोग और दूसरे में त्याग है । पर वह दोनों से अलिप्त है ।[1] वह अजर-अमर, तथा देव दैत्य से अवध्य है ।[2] इसीलिए भगवान के समान ही गुरु वंदना की परंपरा मिलती है । ब्रज भाषा के वैष्णव साहित्य में भी गुरु अवतारी है उसकी पूजा और स्तुति का भी विधान है ।

वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने वल्लभाचार्य जी तथा विट्ठल नाथ जी को पूर्ण ब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण का अवतार माना है ।[3]

साध्य का स्वभाव और अवतार भावना :-

जब अवतारवादी पद्धति से या अन्य किसी पद्धति से साध्य की मानवाकार अनुभूति हुई तो उसके स्वभाव की कल्पना भी कवि मानस में आई । स्वभाव का जो वर्णन किया गया है वह मानव के उदात्त स्वभाविक गुणों का परिचायक है और उसमें दीन-हीन के प्रति साध्य का झुकाव बतलाया गया है ।

---

1. गोरक्ष सिद्धान्त, (पूर्ण नाथसं.) पृ. 3.
2. - वही - पृ. 103.
3. प्रगट भए पूरण पुरुषोत्तम श्री वल्लभ सुखदाई ।
   (क) कुंभन दास पद संगह (ब्रजभूषण शर्मा) पृ. 31, पद 59.
   (ख) प्रगट ब्रम्ह पूरण या कलि में प्रगटे श्री विट्ठल नाथ (छीत स्वामी पद संग्रह, ब्रज भूषण शर्मा पृ. 5, पद. 10.

भक्त यदि कोई धृष्टता भी करता है तो भगवान उसके सहन कर लेते हैं । [1] दूसरी विशेषता यह है कि वे बिना किसी बदले के उपकार करते हैं । [2] यदि भक्त का गुण बहुत छोटा भी होता है तो भगवान उसे सुमेरु के समान मानते हैं और उसके समुद्र के समान अपराध को बूंद के समान समझते हैं । भक्त के विमुख होने पर भी भगवान उसके प्रति अकृपालु नहीं होते । भक्त के विरह से कातर होने का उनका स्वभाव है । वे भक्त के पीछे लगे फिरते हैं । [3] वे वही सोचते हैं और करते हैं, जिससे भक्त को सुख मिले । [4] भक्त की मूल आवश्यकताओं भोजन, पानी, कपड़ा आदि की वे पूर्ति करते हैं । [5] अपने भक्त की प्रतिज्ञा की रक्षा करना वे अपना धर्म समझते हैं और यदि भक्त किसी संकट में पड़ जाता है, तो तुरंत सहायता के लिए दौड़ पड़ते हैं और उसकी रक्षा के लिए परमवीर बन जाते हैं । [6] इस अवसर पर वे चक्र सुदर्शन धारण कर लेते हैं -- "जब जब भीर परी संतनि को, चक्र सुदर्शन वहाँ सम्हारयौ । [7] जो उनकी शरण में आता है, उसका उद्धार भगवान अवश्य करते हैं । भगवान दीन, गरीब और अनाथ का सदा साथ देते हैं । [8] अपने जन का कल्याण भगवान अनेक प्रकार से करते हैं । [9] सबसे बड़ी बात यह है कि जन्म और कर्म दोनों से हीन होने पर भी भगवान भक्त के साथ सद्व्यवहार करते हैं । [10] भगवान सभी की प्रेमभावना का मूल्य करते हैं । जिस किसी भाव से उनकी पूजा की जाती है, उसी भावना को स्वीकार कर लेते हैं । [11] साथ ही वे स्वभावत: गर्व प्रहारी हैं । [12]

---

1. भक्तनि सहज ढिठाई । सू. 3.
2. बिनु बिरले उपकार करते हैं, स्वारथ बिना करत भिलाई, - वही -
3. सू.सा 8 यही गायन-बछडे का उपमान दिया गया है । - वही - 9.
4. जिही-जिही विधि सेवक सुख पावै, तिहि विधि राखत मन कौ । -वही-9.
5. भूख भरन भोजन तू उदर कौ, तृषा तोय,पट तन को । - वही -
6. सू. 9. 7. - वही - 14. 8. सू. 19. 21
9. जनहित हरि बहुरंगी, - वही - 21.
10. ऐसे जनम करमके ओछे, औछनि हू व्यौहारत । - वही- 12.
11. जिहि जिहि भाव करत जन सेवा, अन्तर की गति जानत । - वही - 13.
12. जाको विरद हैगर्व प्रहारी । ३ सू. 37 ३

भक्ति सिद्धान्त और साधना सार्वजनिक है । इसका आधार यह है कि कृष्ण सर्वात्मा है ।[1] किसी के प्रति उनका पक्षपात नहीं है -- वे " समदृश " हैं ।[2] फिर भी भक्त के प्रति उदासीन नहीं है । भक्त उंनको सर्वाधिक प्रिय है । कृष्ण अपने भक्त उद्धव से कहते है किन्तु तुम मुझको शिव ब्रह्म और श्री से भी अधिक प्रिय हो ।[3]

भगवान निस्वार्थ भाव से बिना किसी बदले के उपकार करते हैं ।[4] साध्य के कुछ नाम भी उनके स्वभाव के परिचायक हैं । नामों में " करूणामय ", या " करूणा पर आधारित नाम प्रमुख स्थान रखते हैं ।[5]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अवतार वाद का बीज विष्णु परक वैदिक रूपकों की नराकार या जीवाकार व्याख्या में ही प्रतीत होता है । ये ही बीज अवतार की विशद् कल्पना में परिणत हुए । अवतार का कारण भूत तत्व लोक मंगल और लोक रक्षण है । यह उद्देश्य इतनी आशा और सांत्वना लिए हुए था कि अवतार कल्पना ने समस्त भारत के जीवन और साहित्य को अभिभूत कर दिया । अवतार कल्पना ने एक सरिताष्ट सांस्कृति परंपरा को अपने में समेट कर आधुनिक अर्थों की व्यंजना की । आधुनिक युग तक इन आधुनिक अर्थों की व्याख्या अवतार के माध्यम से होती आई है । भारतेन्दु हरिऔध, गुप्त, धर्म वीर भारती आदि कवियों में अवतार परक मिथकीय रचनाएँ आधुनिक अर्थों से जीवंत हुई हैं ।

---

1· भा· 1· 9, 21 ए·

2· भा· पु· - वही -

3· - वही - 11, 14· 15·

4· बिनु बदलौ उपकार करते है, स्वास्थ्य बिना करत । ( सू·सा· 3 )

5· सू· सा· 2·

भक्त कवि : आधुनिक प्रतिमान

## 6. भक्त कवि : आधुनिक प्रतिमान

1. कवि विभिन्न संधारणाएँ
2. परिपार्श्व
3. व्यक्तित्व
4. सृजन व्यापार
5. युग चेतना
6. क्रान्ति चेतना
7. समन्वय बनाम क्रान्ति चेतना : लोक नायकत्व
8. कवि और समाज

## भक्तकवि : आधुनिक प्रतिमान

### 0. प्रास्ताविक :-

समाज शास्त्रीय दृष्टि से कवि के संबंध में भी कुछ मान्यताएँ दृढ़ होती चली गई । कम से कम सार्थक और सोद्देश्य लेखन की चर्चा जब से चली है तब से कवि की प्रतिबद्धता जैसे प्रश्न भी उठे हैं । और कुछ अन्य प्रतिमान भी निर्धारित हुए हैं । समाजवादी लहर का कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पं. रामचन्द्र शुक्ल ने कवि के व्यक्तित्व के संबंध में कुछ कहना उचित समझा " सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान

हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके ।"[1] तुलसी के लोक मंगल से सृजन व्यापार को जोड़ कर "एक प्रकार से शुक्ल जी ने कवि के सामाजिक दायित्व की ओर संकेत किया है । शुक्ल जी का लोक समस्त मानव जाति है जो भक्त कवि का "लोक" भी है । अन्तर इतना ही है कि मार्क्सवादी का लोक केवल शोषित वर्ग ही होता है । यह दोनों विचार धाराओं में मौलिक अन्तर होता है ।

दूसरा विचार वस्तु और रूप को लेकर बनता है । समाज शास्त्रीय समीक्षा रूप की अपेक्षा कथ्य को अधिक महत्व देती है । डा॰राम विलास शर्मा के शब्दों में "निर्णायक भूमिका हमेशा विषय वस्तु की ही होती है जिस के पास उच्च कोटि के विचार नहीं है, भावावेश नहीं है यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं कर सकता ।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्त कवि स्वयं कथ्य या वस्तु को अधिक महत्व प्रदान करता है । का भासा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच" तथा 'इहिमह रघुपति नाम उदारा' जैसी उक्तियों में वस्तु की महत्ता ही ज्ञापित है ।

शाश्वत सत्य की बात भी आधुनिकता के संदर्भ में की जाती है : "मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य किसी ऐसे शाश्वत सत्य का चित्रण नहीं कर सकता जो सामाजिक परिस्थितियों से परे हो ।"[3] भक्त कवि का सरोकार शाश्वत सत्य के साथ अत्यधिक है फिर भी कदम कदम पर शाश्वतत्व और शाश्वत सत्य को सामाजिक संदर्भ में लाने का प्रयत्न करता चलता है । वह मूल आत्मतत्व का भी साक्षात्कार सामाजिक संदर्भ में ही करता है कराता है । अतीन्द्रिय कहे जाने वाले तत्व को भी सगुण भक्त कवि ही नहीं निर्गुण भक्तकवि भी इन्द्रियानुभव में लाता है ।

---

1. डा॰राम विलास शर्मा द्वारा आस्था और सौन्दर्य - पृ॰ 25॰ पर उद्धृत
2. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ - पृ॰ 8॰
3. डा॰रामविलास शर्मा, भाषा साहित्य और संस्कृति - पृ॰ 136॰

जहाँ तक उत्पादन और शोषण का प्रश्न है भक्त कवि सीधे-सीधे वर्ग संघर्ष की बात तो नहीं करता किन्तु सामंत के साथ उसका कोई समझौता नहीं . । एक सामंतवादी सम्राट के प्रति वह यह कह सकता है " जिनको मुख देखत दुख उपजत । साथ ही दीन और गरीब शोषित का वह पक्षधर है और अपने भगवान को भी दीन-बन्धु बना देता है ।

अंत में बात आती है पाठक से जुड़ने की जो कवि पाठक से नहीं जुड़ता वह आधुनिक दृष्टि से व्यापक स्वीकृति भी प्राप्त नहीं कर सकता । उनसे जुड़ने का तात्पर्य है लोक भाषा और लोक काव्य की सामाग्री को ग्रहण करके एक लोकोन्मुख मुहावरा या माध्यम तैयार करना । गोर्की जैसे कवि साहित्यकार की महत्ता का मुख्य कारण उनके द्वारा प्रयुक्त लोक भाषा पर आधारित माध्यम ही है । 'राल्फ फाक्स के शब्दों में " गोर्की जन सामान्य और लोक गीतों और लोक कथाओं में प्रयुक्त भाषा को साहित्य का सम्पन्नतम कोश मानते थे ।"[1] भक्त कवि ने भी संस्कृत की तुलना में लोक भाषा को बहुत मजबूती से पकड़ा है भारत के सभी भागों में उत्पन्न होने वाले भक्त कवियों ने भाषा के संबंध में एक ही नीति की घोषणा की है कविता लोक भाषा में ही हो ।

डॉ•जी•ए•रेड्डी ने इस तत्व पर बहुत बल दिया है ।[2] भक्त कवि की इस भाषा नीति का यह परिणाम हुआ कि इनका साहित्य जितना लोकप्रिय हुआ और जिस सीमा तक लोक जीवन और लोक मानस को प्रभावित किया उतना संभवत: कोई साहित्य

---

1• द नावेल एण्ड द पीपुल : पृ• 139•

2• It was the feeling that the inspiring ideals and thoughts were taken away from the masses with the restrictions laid on their social and religious movements and importance given to sanskrit which could not be understood by them, that inspired the popula emancipation. The purpose of all regional writters was to bring the same knowledge in the popular and known medium of expressior (G.A.Reddy); Literature and popular culture Page: 15 (Geetha Book House New Statue Circle, Mysore. Vol.Publ. 1974)

नहीं कर पाया । जन जन के विचार और व्यवहार को यह प्रेरणा और दिशा देता रहा । एक प्रकार से एक सांस्कृतिक और साहित्यक जन तन्त्र की स्थापना की । [1] सामाजिक चेतना इतिहास बोध और व्यक्ति केन्द्रित दृष्टि जैसे कुछ अन्य प्रतिमान भी कवि के संबंध में आधुनिक युग में स्थिर किए गए हैं । इनको भी भक्त कवि के व्यक्तित्व में लक्षित किया गया है कवि स्वतन्त्रता के संबंध में भी विचार प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

## 1. कवि विभिन्न संधारणाएँ :-

भारतीय दर्शन और काव्य शास्त्र की परपंरा में " कवि " एक विशिष्ट शब्द है । व्यास और वाल्मीकि जैसे कवि इस शब्द के अर्थ-वैशिष्ट्य को और भी उदात्त भूमिका प्रदान करते हैं । यहाँ तक कि यह शब्द मूल सत्ता का वाचक भी बना और उस सत्ता का अनुभव-मूलक साक्षात्कार करने वाले ऋषि और मुनि का भी । " कविर्मनीषी स्वयं भू " उक्ति कवि शब्द के प्रतीकार्थ को पुष्ट करती है । कवि के कृतित्व की महिमा का गायन भी हुआ है । आदि कवि ने रामायण की सृष्टि के संबंध में यह कहा --

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरिताश्च महीतले
तावत् रामायण कथा, लोकेषु प्रचरिष्यति ।

---

The literary influence on the folk was at once so widespread and everlasting that its acceptance from them not only helped a deep rooted survival but also a spreading of branches for and wide. It was the kind of literature that was essential for them, and it was able to bring a cultural democracy which was kept away from them, and they remained the true protectors of the heritage Page:4 G.A.Reddy: Literature and Popular Culture.

महाभारत के बारे में कहा गया : जो कुछ संसार में है, वह महाभारत में है । जो महाभारत में नहीं है, वह संसार में भी नहीं है । कवि की उक्तियाँ सारे विश्व के लिए आदर्श बन जाती हैं । कवि अपने रचना संसार का "प्रजापति" है ।[1] कवि और उसके कृतित्व के संबंध में इतनी प्रगल्भ उक्तियाँ अन्यत्र देखने सुनने को नहीं मिलती ।

कवि की चेतना " रूप " और " रूपायन " में निहित रहती है । सृजन की क्षमता में प्रकृति से उसकी होड लगी है । इसी में उसका आनन्द निहित है । विषय को वह समूची यथार्थता के साथ पकड़ता है । उसमें प्राण फूंकता है उसको सजीव संदर्भ प्रदान करता है । इसी में उसकी विजय और त्रुटि है । जीवन के सभी रूपों के अवगाहन की क्षमता कवि में होती है । वह किसी भी " अरूप " को रूप दे सकता है । कुछ ही तथ्यों के आधार पर कल्पना के सहारे वह पूर्ण वास्त - विकता को अभिव्यक्ति दे सकता है ।

## 1.1 कविगौरव :-

कवि को जितना ऊँचा स्थान भारतीय परंपरा में दिया गया है उतना संभवत: संसार में कहीं नहीं दिया गया है । यही स्थिति साहित्य की है ऋषि या कवि जिस साहित्य की रचना करता है वह साहित्य समाज की काल जयी थाती के रूप में मान्य रहती है । अवतार की धारणा में भी साहित्य रक्षा का अभिप्राय सम्मिलित है । वराह अवतार केवल वैदिक साहित्य की रक्षा के लिए हुआ था जिसको दानवीय शक्तियाँ समुद्र में डुबोकर नष्ट कर देना चाहती थी । अर्थात् अवतार द्वारा रक्षणीय पदार्थों में साहित्य भी सम्मिलित है ।

---

1. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते । ( ध्वन्यालोक उद्योत - 3 )

भारतीय दृष्टि में कवि का जो स्थान है उस स्थान के भागीदार कवि समय-समय पर उदित होते रहे है । ऋषि, मुनि, सूत, व्यास वाल्मीकि सभी इस श्रृंखला की कड़ियाँ है । भक्त और सन्त कवि ने जो कृतित्व प्रस्तुत किया उसके आधार पर ये कवि भी इस श्रृंखला में स्थान पाने की योग्यता रखते है । कवि संबंधी परंपरागत प्रतिमानों में आधुनिक प्रतिमानों का भी समावेश हो जाता है । इस शीर्षक के अन्तर्गत कवि संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है ।

भारतीय संस्कृति में " कवि " शब्द विविध अर्थों का द्योतक है । वेद में कवि ईश्वर: उपनिषद में त्रिकालज्ञ महाभारत में विष्णु, गीता में ज्ञानी, मनुस्मृति में पंडित, राघव पांडीय में ऋषि: भागवत में ब्रह्म, तथा मेदिनी कोश में मुनि, सूर्य एवं वाल्मीकि का वाचक शब्द कवि है ।[1] समाधि धारण करने के बाद ही ऐसा सुन्दर पुरुष नर्मित किया होगा । अमर कोश में कवि के विशेषणों का कथन इस प्रक्रिया प्रकार किया गया है, श्रीमान, सूरि, कृती कृष्ट लब्ध वर्गो विचक्षण : दूरदर्शी, दीर्घ दर्शी ।[2] भारतीय दर्शन संसार को काव्य कहता है - " पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति । इस संदर्भ से कवि को " प्रजापति " कह दिया गया और उसकी रचना को " काव्य संसारे " माना गया ।[3] अभिनव गुप्त ने प्रजा-पति के पर्यायवाची शब्दों पितामह[4] तथा ब्रह्मा[5] का प्रयोग कवि के लिए किया । अग्नि पुराण के अनुसार कवि दूसरा सृष्टि कर्त्ता है, जिसका वर्णन मिथ्या नहीं होता ।[6] भट्ट           के अनुसार नव नव रूपों का उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा और इस प्रतिभा से अनुप्राणित सजीव वर्णन में निपुण व्यक्ति का नाम कवि है ।

---

1. डॉ॰ निशा अग्रवाल, सृजनशीलता और सौन्दर्य बोध - पृ॰ 786॰
2. अमर कोश, - 2॰ 7॰ 5
3. अपारे काव्य संसारे कविरेक: प्रजापति
4. अभिनव भारती, कारिका 17
5. अभिनव भारती कारिका 2॰
6. न कवे वर्णनं मिथ्या कवि : सृष्टि : कर पर अग्नि पुराण ।

कालिदास ने मानव कलाकार और विधाता को समान मर्यादा का अधिकारी माना है । विधाता को भी मनुष्य की भाँति सौन्दर्य का निर्माण करने के लिए समाधिस्थ होना, प्रयत्न करना, सामग्री का संग्रह एवं चयन करना, तथा अपनी इच्छा के साथ उपादान की प्रकृति का सामंजस्य करना पड़ता है । उदाहरण उन्होंने दिलीप की रचना कर दिया । कलाकार ब्रह्मा ने महाभूत ईशावाश्योपनिषद के अनुसार - " कविर्मनीषी परिभू: स्वयं भू कवि पूर्ण है, सर्वज्ञ है । विश्व सृष्टा ब्रह्मा कवि भी कहलाते हैं । ध्वन्यालोक कार ने कहा कि कवि काव्य संसार का रचयिता प्रजापति है ।[1] यह धारण भी बनी कि काव्य रस ब्रह्मानन्द के समकक्ष है ।[2] भरत ने भी कहा कि धर्म, अर्थ, काम मोक्ष सहित दस काव्य प्रयोजन हैं । साहित्य की सृष्टि ब्रह्मानन्द के समान ही आनंद देने के लिए हुई है । अभिनय दर्पण के रचयिता नंदिकेश्वर ने तो दृश्यकाव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द से भी बढ़ कर माना । इसीलिए नारदादि ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेने के बाद भी काव्य रस में रमे ।[3] इन उक्तियों के मूल में " धारणा यह रही कि काव्यानुभूति से मनुष्य के अन्तर में अलौकिक रस का स्राव, संचार होता है ।

## 1·2 कवि : दार्शनिक :-

इससे सिद्धांत यह नि:सृत हुआ कि कवि केवल एक कल्पना जीवी प्राणी नहीं है जो प्रकृति का यथार्थ और निस्संग प्रतिबिंबन करे । वह दार्शनिक और विचारक भी है । विचार के लिए विचार करने वाला दार्शनिक लक्ष्य भ्रष्ट होता है । दार्शनिक के तर्क निरे निर्मम, निस्संग, निरावेग और कठोर ही नहीं है, कवि और कविता की

---

1· अपारे काव्य संसारे कविरेक, ( व ) प्रजापति: ।

2· काव्यानन्द ग्रस्त ब्रह्मानंदं सहोदर इति प्रीयतपव ।

3· अपि ब्रह्म परानंदादिद पम्यधिक मम् ।
नहार नारदादीनाम् चितानि कथमन्यथा ।।

भौतिक सप्राण, प्रेमानुराग से अनुरंजित और संवेदन शील विश्वास के लिए हुए हैं । और दूसरी ओर कला भी मात्र भावावेश नहीं है । और न जीवन उसकी निष्क्रिय भूमिका ही है । वह जीवन के मौलिक सवालों को उठाता है और उनके संबंध में निर्णय भी देता है । कविता और दर्शन में घनिष्ट संबंध है । भक्त कवियों का व्यक्तित्व इन दोनों की शक्तियों को अपने में संजोए हुए है । एक समय था कि जब कवि और दार्शनिक के बीच एक अलंध्य खाई मानी जाती थी । कवि का सरोकार मात्र भावावेश से माना जाता था और दार्शनिक का संबंध मस्तिष्क और विचार से । यह खंडित दृष्टि यह भूल जाती थी कि भावावेश और विचार जीवात्मा के दो पक्ष है, ये परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं है । खंडित दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि दर्शन की दुनिया अलग बनती गई । दार्शनिक बौद्धिक ऊहा पोह में फसंता गया और जीवन की समग्रता से कटता गया । विचार ही उस का लक्ष्य हो गया । वह विचार के लिए विचार करने लगा ।[1] आज के युग में हेगेल ने इस जड़ स्थिति को तोड़ा । सार्वभौम, जीवन के सभी प्रश्नों को उसने अपने दर्शन के क्षेत्र में शामिल कर लिया । उसके विचार की पद्धति खंडित नहीं रही, एकांगी नहीं रही और उसका लक्ष्य हो गया मनुष्य का समग्र सामाजिक जीवन । आज के युग में कला और दर्शन सामाजिक मानव की ओर लौट रहे हैं । कविता और दर्शन के संसार अब अलग नहीं रहे ।

भारतीय विचार धारा ने बहुत पहले कवि और दार्शनिक को एक घोषित किया था । उसको रहस्यमयी अतिमानवीय शक्तियों के साथ भी मिलाया था । कला, विज्ञान, और दर्शन की विषय सामग्री को प्रस्तुत करते हैं । दार्शनिक, युक्ति और तर्क का सहारा लेकर सोचता / बोलता है, और कवि छवियों / चित्रों में सोचता और प्रकट करता है । " यदि राजनीतिज्ञ या अर्थ शास्त्री आंकड़ों और तथ्यों का पद्धति से श्रोता या पाठक के मस्तिष्क का आवाहन करता है और बतलाता है कि अमुक-अमुक कारणों से

---

1. कांट, फिक्टे और शैलिंग की स्थिति इसी प्रकार की थी । वैसे इनमें क्रमशः फैलाव आया ।

अमुक-अमुक राज्य की स्थिति बिगड़ी / सुधरी है । कवि के पास वास्तविकता की स्पष्ट और सजीव अभिव्यक्ति का साधन है । वह पाठकों की कल्पना का आवाहन करता है और सामाजिक या वर्गीय गिरावट या उन्नति के कारणों की ओर संकेत करता है । एक सिद्ध करता है, दूसरा दिखाता है ।

दर्शन और काव्य के धार्मिक स्वर पर इस घोल मेल ने सही कविता को नए सिरे से परिभाषित किया है । कुछ अन्य आधुनिकतावादी पुराने साहित्य की सभी धाराओं से कट कर आधुनिक बनने का दावा करते है किन्तु सभी पुरानी कविताएँ बेमानी नहीं हो जाती कुछ कविताओं के अर्थ संदर्भ फीके पड़ भी जाते हैं पर सभी के नहीं । बदली हुई अवधारणाओं के जमाने में भी अपनी अर्थ वत्ता बनाये रखने वाली रचनाओं को भी नई परिभाषाओं में देखा और समझा जाता है । शाश्वतता, स्थायित्व, काल जयीपन जैसी ख़तरे में पड़ी अवधारणाओं से बचने की यही एक तरकीब है । सही कविता वह है जो अप्रासंगिक नहीं हुई है । अगर रचना सही नहीं है तो उसको बचा कर रखने का कोई तरीका और औचित्य नही है ।

## 1·3 कवि और जीवन मूल्य :-

सही कविता पर सोचते समय जीवन मूल्यों की कसौटी भी सामने आती है । सही कविता जीवन मूल्यों को स्थापित करने और उन्हें युगानुकूल बनाये रखने की कोशिश करती है । जीवन मूल्यों के ब्यौरे देश, काल, अभि रूचियों तथा अन्य कारणों से अलग हो सकते है किन्तु उनकी मूल प्रकृति - सुरीक्षत रहती है । सभी कालजयी कृतियाँ मूल्यों के आधार पर अपनी जीवन्तता को सुरीक्षत रखती है । भक्ति साहित्य इसी मूल्य जीवनी के आधार पर प्रासंगिक बना हुआ है ।

सही कविता एक ओर तो अपने जीवन्त सांस्कृतिक रिक्त को सौन्दर्य सृजन की प्रक्रिया में लाती है । दूसरी ओर अपने समसामयिक परिवेश को भी इस रचनान्तरण में उचित स्थान देती है । सांस्कृतिक विरासत और वर्तमान के बीच एक संबंध कायम होता है । इपने इसी दोहरे दायित्व का निर्वाह करके भक्ति साहित्य ने जीवन-संदर्भीय प्रामाणिकता अर्जित की है ।

भक्ति साहित्य की लोक प्रियता का सबसे प्रमुख कारण यह है कि यह लोक मानस, लोक हित और लोक साहित्य से भी जुड़ा रहा । साथ ही इस साहित्य में प्रजातन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक शक्तियाँ सक्रिय है । इस सौन्दर्य बोध में प्रगति के तत्व झांक उठते हैं । एक व्यापक जन सस्कृति ही साहित्य में रूपान्तरित हो रही है । सांस्कृतिक पुर्नजागरण का रूप अपने सही अर्थों में घटित हुआ । यह मानना गलत है कि भारतीय पुर्नजागरण अंग्रेज या अंग्रेजी राज्य की देन है । यह बात अब प्राय: स्वीकार्य बन गयी है । यह भक्ति, भक्ति आंदोलन और भक्ति साहित्य की देन है । एक भारत व्यापी संस्कृति और साहित्य सामने आया, जिस पर 19 वीं शती के नव - चेतन की नींवरखी गई ।

## 1.4 कवि की स्वतंत्रता :-

कवि में कारयित्री प्रतिभा का विलास माना है । कवि की स्वतन्त्रता का उल्लेख बल के साथ किया है, सारस्वत कवि स्वतन्त्र होता है ।[1] उक्ति प्रसिद्ध है - निरकुंशान: कवय । स्वतन्त्रता की बात आनन्द वर्धन ने भी कही । एक प्रकार से यह कवि का पहला लक्षण है । चेतन को अचेतन और अचेतन को कवि चेतन रूप में व्यवहृत कर सकता है । तुलसी ने भरत को ऐसा ही चरित्र दिया । उन्होंने स्वंय कहा कि --

---

1. काव्य मीमांसा - 4.

जो न जन्म जग होत भरत को
अचर सचर चर अचर करत को । [1]

अथार्थ मम्मट ने कवि की स्वायत्रता की चर्चा की है, कवि नियति कृत नियमों से स्वतन्त्र रहकर रम मात्र आहलाद से परिपूर्ण, स्वाधीन और नव रस रूचिर रचना का विधान करता है । [2] इस कवि बागी की जय हो । नियति कृत नियमों से रहित होने का तात्पर्य उसकी कर्तृत्व सम्पन्नता से है । कभी-कभी वह लोक और शास्त्र के प्रतिकूल अलौकिक पदार्थ का वर्णन करता है काव्य के उपादानों के बीच वह नये संबंध स्थापित कर सकता है । यह " कवि समय " है । पाणिनि ने भी कर्ता की परिभाषा स्वतन्त्रता के आधार पर दी है - " स्वतन्त्र कर्ता "

आधुनिक मनोविज्ञान भी सृजन व्यापार या कविकर्म की स्वतन्त्रता का सिद्धांत मान कर चलता है । रिचर्ड्स नमैन के अनुसार " सृजनात्मक चिंतन की दो मूल भूत विशेषताएं हैं -- प्रथम यह स्वायत्त है और द्वितीय यह नवीन रूप की उत्पत्ति की ओर उन्मुख होता है । स्वायत्त का तात्पर्य यह है कि न तो सर्जक और सृजन अनियन्त्रित होते हैं और न किसी बाहरी शक्ति के द्वारा नियन्त्रित या निर्धारित नियमों से बद्ध, वरन् वह पूर्ण रूप से आत्मानुशासित है । नवीनता का अर्थ है कि विचारक उस विचार विशेष के आरंभ होने से पूर्व, उससे परिचित नहीं था । [3]

---

1. अयोध्या काण्ड, मानस
2. नियतिकृत नियम रहितां हलादैक मनीय मनन्य परतन्त्रात्मक ।
   नव रस रूचिरां निर्मित माद्धती कविभारती जयति ।
3. Creative thinking has to defining characteristics first, itx is autonomous, that is, it is neither random, nor controlled by some fixed scheme or external agent but it is wholly self directed secondly, it is directed towards the production of a new form - new in the sense that the thinker was not aware of a new form before he began the particular line of thought( Creatively its educational Implications';Page - 89 )

इस प्रकार कवि स्वयत्त चेतना युक्त प्राणी भी है और नवीन रूपों का सर्जक भी है । सर्जक होने का तात्पर्य न स्थूल का अनुकरण ही है और न अभूत से भूत की उत्पत्ति ही । कवि सर्जक रूप में लौकिक पदार्थों का मार्मिक उद्घाटन करता है । कुंतक ने यह बात कही है ;[1] इस कार्य में उसकी प्रतिभा सहायक होती है । भट्ट तौत के अनुसार दर्शनाद्वर्णनाच्च " कहा जिसका तात्पर्य है - वस्तु के विचित्र भाव का साक्षात्कार और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति । यही बात अन्य आचार्यों ने भी कही है कि कवि अपूर्व वस्तु निर्माण करता है । इसका तात्पर्य है वह वस्तु का रूप उद्घाटित करता है । वस्तु का विशिष्ट, स्थूल रूप तिरोहित हो जाता है और उसका सामान्य, सार्वभौम, सर्वग्राह्य, हृदय गोचर रूप उभर आता है ।

काव्य में वस्तु का स्वभाव स्वतन्त्र होता है । कवि की उक्ति के कारण उसमें गुण, अवगुण प्रकट होते हैं । भारतीय आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व की प्राय: उपेक्षा की है ।

पाश्चात्य विचारकों ने कवि से ही आरम्भ किया है । प्लेटो ने काव्य रचना के पीछे अलौकिक देवी प्रेरणा स्वीकार की है ।[2] उससे आगे उसके मन के भावाविष्ट होने की बात कही है. कवि जब तक पूर्णत: प्रेरित और आविष्ट होकर विक्षिप्त एवं बोध शून्य नहीं हो जाता, तब तक वह रचना में समर्थ नहीं होता ।[3] आत्म विस्मृति के क्षणों में कवि एक आरोपित व्यक्तित्व धारण कर लेता है ।[4] अरस्तू ने कवि प्रतिभा तथा प्रबल अन्त: प्रेरणा को आवश्यक माना है ।[5] अरस्तू से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक के

---

1. यन्न वर्ण्य मान स्वरूपा पदार्था : कविभिर भूती : सन्त: क्रियन्ते ।
   ( हिन्दी वक्रोक्ति जीवित - पृ. 305.
2. डायलाग्स आफ प्लेटो, खंड - 2, पृ. 855.
3. " - वही - " " "
4. - वही - पृ. 289.
5. काव्य शास्त्र - अरस्तू : सं. 340 नगेन्द्र - पृ. 9.

विचारकों ने व्यक्तित्व की अपेक्षा महान वस्तु की अपेक्षा कविके आत्म पक्ष पर विशेष बल देते है ।[1] यही स्वच्छन्दता वादी चिंतन का मूल है । वर्ड्सवर्थ के अनुसार कविता शक्ति शाली भावनाओं का सहज स्फुरण है ।[2] शेली ने कल्पना पर बल दिया और जिसमें यह शक्ति शाली कल्पना होती है वही कवि है ।[3] स्टीफेन स्पेंडर के अनुसार - " एक कवि पारदर्शी, गहन एवं सोद्देश्य प्रज्ञा की ईश्वरीय प्रतिभा से युक्त हो सकता है, वह अनाडी और मंद भी हो सकता है, लेकिन महत्व इसका नही है । महत्वपूर्ण बात है, उसके अभिप्राय की अखंडता तथा उस अभिप्राय को स्वयं को तिरोहित किए बिना कायम रखने की योग्यता ।[4]

## 1·5 निर्वैयक्तिकता :-

फ्रायड तथा उनके समर्थकों ने कहा - " कलाकार निरपवाद रूप से आत्म रत प्राणी होते है" ।[5] उनके अनुसार कला कृति के मूल में व्यक्ति गत इच्छाओं दमित वासनाओं एवं मानसिक कुंठाएँ रहती है ।

बीसवी सती में काव्य और मनो विज्ञान दोनों क्षेत्रों में इस व्यक्ति वादिता का विरोध हुआ ।

---

1· इनमें लोंजाइनस, परवर्ती रूसो, अर्वाचीन क्रोचे आदि आते है ।

2. Poetry is the spontaneous over flow of powerful feelings; it takes its origin from emotion recollected in tranquility; (Wordsworth - Lyrical Ballads - Page 39)

3. Poetry may be defined as the expression of imagination. Those in whom it exists are poets; (P.B.Shelley, A defence of Poetry".

4. A poet may be divinely gifted with a lucid, in tense and purposive interest, he may be clumbly and slow. That does not matter, what matter is integrity of purpose and the ability to maintain the purpose without lossing oneself" Creative Process Page - 115

5. Ebid - Page - 220

इलियट कवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसकी मानसिक प्रक्रिया को अधिक महत्व देते है । उनके अनुसार महत्व संवेगों की महत्ता, तीव्रता, या उपादानों का नहीं है, परन् कलात्मक प्रक्रिया की गहनता का है, जिसमें उपादानों का संलयन होता है ।[1] कवि या कलाकार का दायित्व है कि वह अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को परंपरा ( = संस्कृति ) में लय कर दे । यही कवि का आत्म समर्पण है । व्यक्तित्व एक माध्यम है । इलियट की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत भी व्यक्ति वादी नहीं है । इस सिद्धांत का प्रतिपादन सी॰जी॰युग ने भी किया । उनके अनुसार कलाकार तो मूलतः साधन है और अपनी कला से हीनतर है । इस प्रकार कलाकार वस्तुवादी तथा निर्वैयक्तिक है । कलाकार का अध्ययन कला के माध्यम से ही होता है ।

युग कलाकार से अधिक महत्व कला को देते है । कलाकार का रूप एक सामूहिक मानव का होता है । इस रूप में वह मानव मात्र के अवचेतन तथा मानसी जीवन का वाहक बनता है । यह युग का मत है ।[2] भक्त कवि भी जन प्रतिनिधि है । वास्तव मे वह " सामूहिक चेतना " का वाहक था । इसी को इलियट परंपरा का इतिहास का संवहन व्यापार कहते है । इलियट का कवि परंपरा या इतिहास को समर्पित होता है । भक्त कवि को भी हम इसी रूप में पाते है ।

भारतीय आचार्यों ने सौन्दर्य का विवेचन सामाजिक पक्ष को आधार मानकर ही किया है । यह सिद्धांत भक्त कवि पर पूर्णतः व्यवहृत होता है । पाश्चात्य जगत की अपेक्षा प्राच्य आचार्यों ने कवि को उच्चतर स्थान प्रदान किया है ।

---

1॰ सेलेक्टेड प्रोज - पृ॰ 27॰

2॰ क्रियेटिव प्रोसेस - पृ॰ 220॰

रिचर्ड्स ने काव्य में व्यक्तिगत अनुभवों को नहीं, सार्थक अनुभवों को महत्व पूर्ण माना है । सार्थक अनुभव वे है, जो मानसिक संतुलन ला सके । इनके संप्रेषण के लिए कवि का असाधारण वर्णन कौशल आवश्यक होता है । भारतीय आचार्यों ने कवि समाधि की चर्चा की है । इसी अवस्था में कवि मानस में सत्वोद्रेक होता है ।

भारतीय काव्य दृष्टि जीवन की गतिविधि के साथ सुर मिला कर चलने को प्रोत्साहित करती है । जीवन में किसी प्रकार के बेसुरे पन और असन्तुलन को यह सहन नही करती । जीवन के प्रति कवि दृष्टि गतिशील रही है । जीवन के यथार्थो को भी इसने देखा है । किन्तु सदा ही एक आध्यात्मिक स्पर्श इसके साथ रहा है । जीवन के मूल्यों के प्रति कवि अपने को प्रति बद्ध मानता रहा है । किन्तु परिवर्तन को उसने लक्ष्य नहीं माना परिवर्तन एक ठहराव को गति में बदल देने का साधन रहा है । नवीनता को नवीनता के लिए यह परंपरा कभी स्वीकार नहीं करती नवीनता वस्तु और उसकी आकृति को अधिक ग्राह्य और प्रेषण को अधिक प्रभाव शाली बनाने में सक्षम होनी चाहिए । नवीनता के नाम पर भदेस और अनोखें या असामान्य स्थितियों के उभारने को यह परंपरा सौन्दर्य विधान में कोई स्थान नहीं देती । यह एक विरूचि को जन्म देता है । नवीनता के नाम पर पंरपरा की अंध अस्वीकृति जन्म लेती है । और अपनी मूल्यावान विरासत से कवि हाथ धो बैठता है । अश्लीलता चाहे अधिक ग्राहक जुटा सके, किन्तु सौन्दर्य वृत्ति और अभिरूचि इसके द्वारा विकृत हो जाती है । काव्य कोई मनोरंजन नहीं है, एक अन्तर्बाह्य साम-जस्य है । एक पूर्ण अभिव्यक्ति है ।

ऋषि / कवि जीवन के परे भी झांकता है, वहाँ के अनुभव बिंबो की तलाश भी रहती है । आदर्श शिखर भी कभी-कभी अप्राप्य जैसे लगते है किन्तु कवि " उसपार के जीवन को इस पार के जीवन से जोड़ने की साधना करता है । राम और सीता सामान्य पुरूष और स्त्री के समान प्रतिभासित होते हैं । उनको विभिन्न जीवन स्थि-तियों में रख कर, उनकी अलौकिकता को लौकिक प्रामाणिकता दी जाती है । इस योजना में सामान्य भाषा और शैली का प्रयोग करके अलौकिक को मानव-मन से जोड़ दिया जाता है ।

2· परिणामर्श :-

मध्यकालीन मानस की मूल चेतना धार्मिक पुनरूत्थान की चेतना कही जा सकती है । पुनरूत्थान युग के बीच ह्रास या विघटन का समय रहा होगा । विघटन की स्थिति से कुछ जीवन मूल्यों को उबारने का उद्योग ही पुनरूत्थान से द्योतित होता है । ह्रास और विघटन अकारण नही हो सकता और पुनरूत्थान भी निराधार नहीं किया जा सकता । अधिकांशत: विघटन मूल्यों की विकृत, बाह्य परिणतियों के कारण होता है । विकृतियाँ मूल्यों को निष्क्रिय एवं दिशाहीन बना देती है । पुनरूत्थान एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो एक ओर तो विकृतियों से जूझती है और दूसरी ओर विगत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए नवीन तर्क खोजती है । इस प्रक्रिया को उन वर्गों से लोहा लेना पडता है, जो ह्रास कालीन विकृतियों से चिपके होते हैं । ये मोह मूढ़ वर्ग भी कम शक्ति शाली नहीं होते । पुनरूत्थान मूल्यों को सामान्य जन जीवन तक ले जाने की भी चेष्टा करता है । क्रान्ति और सुधार के समवेत स्वर पुनरूत्थान के समय गूँजते रहते है ।

मूल्यों की विकृतियाँ तब मोटी होती हैं, जब कि वंशानुक्रम, एकाधिकार, निहित स्वार्थ, जाति गत कौलीन्य जैसी संकीर्णताएँ उन पर घिर आती है । यहाँ तक कि समाज की अर्थ-व्यवस्था भी इन्हीं से अनुशासित होने लगती हैं । एक शब्द में इसे सामन्तवाद कह सकते हैं कि सामन्ताश्रित धर्म मानववादी बहुत कम रह पाता है ।

बलात धर्म परिवर्तन भी मध्य युगीन इतिहास का एक दहकता हुआ यथार्थ है । जब बर्बर कबीले के रक्त से अपने हाथ रँगते हैं, तब उनका व्यापार शुद्ध मूल प्रवृत्ति और सामान्य उद्देश्यों उत्तमता-अभिमान, बल प्रदर्शन आदि से प्रेरित होते हैं । नवोदित धर्म संगठनों में बंधकर बर्बर जातियों की आक्रामक प्रवृत्ति को एक नवीन उदात्त उद्देश्य मिलता है । धर्म की प्रेरणा आक्रामक वृत्ति को अधिक उद्धत और दुर्द्धर्ष बना देती है ।

आक्रामक धर्म संगठन उन धर्म-व्यवस्थाओं पर धावा बोल देते है, जो शताब्दियों की चिंतन परंपराओं पर आधारित होते हैं । धर्म के नाम पर जो बलात्कार और ध्वंस होने लगता है, वह अपने लिए तो मार्ग प्रशस्त करता ही है आक्रान्त धर्म को भी अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तेजित करता है, उनके लिए उत्सर्ग एवं बलिदान के नवीन सोपान देता है । यदि बलात् धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन आक्रामक का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है । तो आक्रान्त के लिए स्वधर्म - रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म बन जाता है ।

भारत का मध्यकालीन इतिहास प्राय: इन्ही क्रिया-प्रति-क्रियाओं का इतिहास है सब कुछ इतना जटिल और गदीमर्द । आक्रामक धर्म संगठन के आगमन के पूर्व ही पुनरूत्थान का क्रम चल पड़ा था । सर्वत्र पुनरूत्थान की शास्त्रार्थ परक और नव चिंतन परक गतिविधि चल रही थी । जब उच्च वर्गीय नेताओं के द्वारा यह सब कुछ हो रहा था, तब अवर्ण जन समूह अपने आक्रोश को प्रकट करने के लिए छट पटाने लगा था और एक भिन्न कोटि के नेताओं को जन्म देने लगा था, जो अपढ़ अशिक्षित थे, जिनको परंपरित शास्त्र ज्ञान का नहीं, अनुभव " का बल था । कि, आक्रामक धर्म-संगठन प्रचण्ड वेग के साथ मूल परिवार्श्व में प्रविष्ट हुआ । मन्दिर का अस्तित्व खतरे में पड़ा सामन्त संगठित तो नहीं हुआ, पर उसने तलवार खींच ली, पुनरूत्थान रुका तो नहीं, पर नवीन परिप्रेक्ष्य में उसे गति की दिशा और दृष्टि बदलनी पड़ी निम्न वर्गीय जन जातिहीन भ्रातृ-भावी संगठन का सदस्य बनने और आर्थिक लाभ के लोभ में पड़ा क्रान्ति और सांस्कृतिक समन्वय की शक्तियाँ एक शुद्ध आंदोलन का रूप खड़ा करने लगी । धीरे-धीरे आँधी रुकी हवा सामान्य गति से बहने लगी । परिपार्श्व की इसी विपण्ण-क्लांत, स्थिति में भक्तकवियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

तुलसी आदि भक्त कवियों ने इसी सांस्कृतिक उद्वेलन में, भारतीय संस्कृति के उपादानों की खोज की । अपने लिए माध्यम खोजा, उद्दिष्ट ग्राहक-वर्ग को स्पष्ट रूप से समझा, जो कुछ हो सका उन्होंने किया । जो किया उसका कुछ भाग आज स्वीकृत हैं, कुछ अस्वीकृत और कुछ विवाद ग्रस्त । तुलसी के शब्दों में परिपार्श्व का एक रेखा चित्र भी उतर आया है और छुट पुट रूप से अन्य कवियों की युग-चेतना भी प्रकट हुई है ।

भक्ति काल के सभी कवि एक ही परिपार्श्व के प्रति संवेदन शील थे । एक ही परिवेश की शक्तियों एवं प्रेरणा ने उन्हें चिंतन एवं सृजन के लिए उत्तेजित किया था । फिर भी निजी एवं वर्ग गत संस्कारों के कारण उनका युग बोध भिन्न रहा । सभी की प्रतिक्रियाएँ एक सी नहीं रही । कबीर, सूर, तुलसी का उपजीव्य एक ही युग का सत्य था । फिर भी तीनों की प्रतिक्रियाएँ परस्पर भिन्न थीं । यदि परिपार्श्व-परिशीलन आवश्यक है, तो उसे यान्त्रिक होने से बचाना होगा । इसके लिए आवश्यक है कि आलोच्य कवि से कट कर यह अध्ययन नहीं होना चाहिए । कवि से संबद्ध युग विश्लेषण होता है, तो कवि के अन्तर्साक्ष्य को ध्यान में रखना होगा ।

तुलसी ने व्यक्त अव्यक्त रूप से अपने युग के विषय में कुछ उक्तियाँ की है । मानस में प्राय: अव्यक्त उक्तियाँ मिलती हैं अर्थात् कलि चित्रण आदि से युग बोध संबंधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । कहीं कहीं स्पष्टत: युग संकेत दिए गए है । उदाहरण के लिए कवितावली के उत्तरकाण्ड की कुछ उक्तियाँ ली जा सकती हैं । मानस के संकेतों का तंत्र इस प्रकार है --

<u>राज्य व्यवस्था</u>

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | शासकों के अत्याचार उनकी लोलुपता चारित्रिक राजमद : अत्याचार | -- | बालकाण्ड में रावण के अत्याचारों का वर्णन । |
| 2. | राजकीय वातावरण का चित्रण | -- | स्थान - स्थान पर बंदीजनों, मागधों की भीड़, हय शालाओं और गज शालाओं का वर्णन । |

## सामाजिक दशा

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | विविध हिन्दू संस्कार चल रहे थे । | - | जातकर्म, नामकरण, चूडा कर्म, यज्ञोपवीत आदि के वर्णन । |
| 2. | ब्राह्मण और क्षत्रियों का उत्कर्ष | - | धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मण की महत्ता का प्रदर्शन और शौर्य के कारण क्षत्री की महिमा । |
| 3. | विकृत वर्णाश्रम व्यवस्था | - | विप्र शूद्राओं के स्वामी शूद्र यज्ञोपवीत धारी दान देने वाले ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करने वाले |
| 4. | दोंगी और पाखण्डियों का जाल | - | दोंगी तथा कथित संतों का उल्लेख । |
| 5. | शिथिल पारिवारिक मर्यादाएँ | - | पति-पत्नी, माता, पिता-पुत्र गुरु शिष्य के आदर्श विरुद्ध संबंधों की चर्चा । |
| 6. | सामान्य रूप से जनता का नैतिक पतन । | - | ढ़ोगी सन्यासियों, कामीजनों गुप्त दुराचार, ठगों और जुआरियों की संख्या में वृद्धि । |
| 7. | आर्थिक दरिद्रता । | - | दुकालों और शोषण से पीड़ित प्रजानन का चित्रण । |

## सांस्कृतिक चित्रण

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | वस्तु एवं मूर्ति कला की उन्नति । | - | जनक के शिल्पियों द्वारा विवाह मंडप में कनक-कदली, खंभों, हरित मणि के पत्र और फल, पद्म राग के पुष्प, माणिक्य मरकत कुलिश फिरोजा आदि को चीर-कोर कर कृतियों का निर्माण, खंभो पर देव प्रतिमाओं का उत्किरण ʼ। |
| 2. | ब्राह्मण वाद का पुनरूत्थान | - | यज्ञ, आदि का वर्णन . |
| 3. | भक्ति आंदोलन | - | योग, ज्ञान वैराग्य, जप, तप, भक्ति आदि पर विचार । |
| 4. | समन्वय निगुर्ण - सगुण का वैष्णवों और शैवों का । | - | संवादों के प्रश्नोत्तर सिद्धांत- निरूपण भी । |
| 5. | भक्ति के क्षेत्र में जाति बंधन की आमान्यता । | - | वशिष्ट - निषाद मिलन प्रसंग, शबरी प्रसंग, केवट प्रसंग । समझ समाज में यह स्थिति नही बन रही थी । |
| 6. | धार्मिक रूढियों की पुर्नस्थापना | - | पंच देवों पासना, पितर, विभिन्न देव, अतिथि, गुरू, तीर्थ आदि की महिमा । |
| 7. | नियतिवाद | - | कर्मानुसार फल प्राप्ति आदि के चित्रण । |

इस प्रकार समाज का एक स्फुट रेखाचित्र मानस की सामग्री के आधार पर खींचा जा सकता है । मुक्तक कृतियों में जो सामग्री उपलब्ध है, उसमें संवदेना का वैयक्तिक रूप प्रकट होता है । मानस में समाज के चित्रण में कवि तटस्थ सा है । कलि वर्णन के ब्याज से सब कुछ कहा गया है ।

इस सामग्री के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है भक्त कवि अपने समाज के प्रति ईमान दारी से जागरूक है । जो रूढ़ाग्रह भी व्यक्त हुए है, वे भी कवि ने सच्चाई के साथ रखें हैं । तुलसी में वर्गीय पक्षपात की झलक तो यत्र तत्र मिलती है, पर शेष वर्गों का चित्रण भी बहुत कुछ यथार्थ है । आश्चर्य यह तो है कि कवि " कलि - वर्णन " में कितना यथार्थ दृष्टा है ।

इस रेखा चित्र से कुछ बातें स्पष्ट होती है । चाहे परोक्ष रूप से कुछ संकेत ग्रहण किया जा सके, पर स्पष्टत: तुलसी ने इस्लाम और मुस्लिम शासकों के संबंध में कुछ नही लिखा । तुलसी के समकालीन [1] कबीर जैसे निर्गुण या परवर्ती रीति कालीन कवियों ने [2] हिन्दू मुस्लिम संबंधों के विषय में कुछ लिखा है । यह नहीं कि यह विशेषता तुलसी के युग-बोध की ही हो, प्राय: कृष्ण भक्त कवि भी इस्लाम और हिन्दू धर्म के द्वन्द के विषय में मौन रहे । इस विषय में केवल निर्गु-णिया बोला - कभी आलोचना के स्वर में कभी समन्वय के स्वर में । उपर्युक्त रेखाचित्र से दूसरी ध्वनि यह निकलती है कि तुलसी का झुकाव परंपरा और उससे पुष्ट समाज व्यवस्था की ओर रहा समाज की नवीन कल्पना उनके युग-बोध में नही उभरी । इसीलिए क्रान्ति की अपेक्षा समन्वय और पुर्नव्यवस्था में उनकी आस्था अधिक रमी । यह अवश्य है कि सामंतवादी यथार्थ के प्रति कवि जागरूक है । सामंतवादी व्यवस्था में सामंत और प्रजा दोनों ही स्खलित होते हैं और परस्पर अजनबी बन जाते है । इस स्थिति की संवेदना तुलसी में उत्कट है ।

---

1. केशव का नाम इस संबंध में लिया जा सकता है ।

2. भूषण का नामप्रतिनिधि रूप में उल्लेखनीय है ।

जब तक तुलसी का उदय हुआ, तब तक तूफान उतर चुका था । इसीलिए तुलसी के युग बोध में इस पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं है । इस धार्मिक संकट में यद्यपि खंडित राजशक्ति पराजित ही रही, तथापि राजनैतिक प्रतिक्रिया हुई अवश्य । अनेक हिन्दू राजाओं ने छुट पुट रूप से मुसलमान से लोहा लिया ।[1] यदि यही क्रम आगे भी चलता तो शायद वह धार्मिक राष्ट्रीयता और प्रबल हो जाती जो पृथ्वीराज के समय आंरभ होने लगी थी और औरंगजेब के समय में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई थी ।[2] उस समय राष्ट्रीयता का अभाव था । भूषण के शब्दों में " आपस ही की फूट से सारे हिन्दुवान टूटे " की स्थिति थी । अत: राजाओं के विद्रोह व्यक्तिगत होकर रह गए ।

मुगल काल में धार्मिक नीति बदली । मुगल आक्रमणकारी का रूप तुर्क से भिन्न था । बाबर ने अपनी सेना को आदेश दिया " जनता को नुकसान न पहुंचाये । उसने भारत वासियों को संदेश भेजा " उसका लक्ष्य देश को अधिकृत करना है, उसकी बरबादी करना नहीं ।[3] हुमायूँ और अकबर की नीति भी उदार रही । मुगल दरबारों में हिन्दू राजाओं और गुणियों का सम्मान होने लगा । भेद भाव काफी हद तक दूर हो गया ।[4] और यही क्रमसम प्रवाह औरंगजेब तक चलता रहा । इसी युग में भक्त कवि की साहित्य साधना इसी परिपार्श्व में रूप लेने लगी ।

---

1. इल्तुत मिश के बाद अनेक राजा विद्रोही हो उठे । नासिरूद्दीन महमूद के राजत्व काल में बल न को अनेक हिन्दू राजाओं को दबाना पड़ा । मुहम्मद तुगलक को दक्षिण में हिन्दू राजाओं से लोहा लेना पड़ा । ( सर देसाई, अन्यू हिस्ट्री आफ द मराठाज, पृ. 17 ) इस विरोध में प्रेरणा धार्मिक और सांस्कृतिक भी थी ।
2. औरंगजेब के समय बैरागियों का आंदोलन गुरू गोविन्द सिंह का सैनिक प्रणाली से धार्मिक संगठन शिवाजी का विद्रोह, आदि वे सूत्र है, जिन्होंने धार्मिक राष्ट्रीयता को पुष्ट किया । अकाली आंदोलन, दुर्गादास आदि भी उल्लेखनीय है ।

3. H.G.Rawlin Son, India , A short Culture History P.P. 283-4
4. बनारसी दास जैन ने लिखा —

एक रूप हिन्दू तरूक, दूजी दसा न कोय
मन की दविधा मानकर, भए एक सों दोय ।

3. व्यक्तित्व :-

भक्ति साहित्य का लेखक केवल कवि नहीं है, भक्त या सन्त है । भक्त और सन्त विशेषण भक्त कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व के वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाले शब्द है । इस कवि की सृष्टि को देखते हुए कभी हम इसका संबंध भारत की उस परंपरा से जोड़ सकते है जिसमें कवि का गौरव पूर्ण रूप से निश्चित होता हुआ कवि को प्रजापति के समकक्ष रख देता है । कभी हम इस कवि में दर्शन और काव्य का एक ऐसा मिश्रण पाते है कि दोनों को अलग करना असंभव हो जाता है कभी हम देखते है कि भक्त कवि लोक हृदय के इन बंधनों और लोक हृदय की पीड़ाओं के साथ एकाकार हो गया । तभी आचार्य मानस का सृजनात्मक रूप कवि में प्रतिच्छायित मिलता है जो आचार्य मानस का पूरक बन जाता है । तभी दिखलाई पड़ता है कि कवि लोक मंगल के प्रति प्रतिबद्ध है और अलौकिक या पारलौकिक को भी लौकिक प्रामाणिकता और सामाजिक प्रासंगिकता देने से भी व्यस्त है । एक साथ यह कवि युग दृष्टा, सौन्दर्य सृष्ट संतचेता, क्रान्ति चेतना से आन्दोलित समन्वयवादी, सामजस्य पूर्ण और कालजयी है । उसके अपने कर्म में सांस्कृतिक रिक्थ के नवीकरण के तत्व भी है और अपने समकालीन जीवन के प्रश्नों के प्रति चेतना भी है ।

हमारे देश में व्यक्तित्व की एक विशिष्ट परंपरा रही है । वैदिक वाणी ऋषि कवि की वाणी है । इस व्यक्तित्व में ऋषि और कवि दोनों का सामंजस्य था । ऋषि क्रान्त-दृष्टा था[1] और कवि था उसके "दर्शन" का अभिव्यक्ति विधायक पौराणिक काव्यों (रामायण-महाभारत) का रचयिता भी (मुनि + कवि ही था) उसका व्यक्तित्व भी प्रखर और व्यापक था । इसी प्रकार द्विविध-पूर्ण व्यक्तित्व की परंपरा जैन, बौद्ध, सिद्ध और नाथ साहित्य साहित्य के क्षेत्र में चलती रही । आगे सन्त + कवि

---

1. ऋषयों क्रान्त दृष्टार - यास्क, निरुक्त ।

एवं भक्त + कवि इस परंपरा की उन कड़ियों के रूप में मिलते हैं जिन्होंने एक विशाल सांस्कृतिक आन्दोलन की साहित्यिक परिणति की । सन्त + कवि का व्यक्तित्व इतना आहत और मुखर है कि कवि कल्पना जीवन रह कर क्रान्ति-जीवी बन गया है ।

संत शब्द का आरंभिक अर्थ सत्य परक था । पीछे अर्थ विकास शिवत्व की दिशा में हुआ है । संत वह है जो सत्यान्वेषण करे । सत्य को सामाजिक सापेक्षता में रखे । सत्यान्वेषण निर्भयता का सबसे बड़ा स्रोत है । संत के सत्यान्वेषण का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह वैचारिक और अभिव्यक्ति के धरातल पर निर्भय है । एक ओर जहाँ यह व्यक्तित्व आत्मोन्मुख साधना में निरत होकर सत् की खोज करता है, वहाँ दूसरी ओर लोकोन्मुख आत्माभिव्यक्ति के द्वारा, लोक-जीवन की कल्याण साधना में रत हो जाता था । इस प्रकार के संत कवि के व्यक्तित्व का संस्पर्श पाकर साहित्य धन्य हो उठता है । संत का व्यक्तित्व पूर्ण सम था । इसीलिए उसे भगवान के समतुल्य बतलाया गया है ।[1]

सत्य ही संत की शक्ति है । इसी के बल पर, वह वर्ग-संघर्ष में दमित, दलित और उपेक्षित वर्गों का पक्ष निर्भय होकर लेता था । उसकी वाणी निष्कंप दीप-शिखा की भाँति जल कर प्रकाश देती थी और चिनगारी भी । उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी " कथनी " और " करनी " का सामंजस्य । साथ ही एक प्रगति शील समन्वय भी इस व्यक्तित्व को लोक नायकत्व प्रदान करता है । सन्त की परंपरा इस प्रकार की रही मंत्रयान, बज्रयान - सहज यान - सिद्ध - नाथ संत । इन

---

1. क - संत और राम को एक के जानिये । - पलटू

ख - साध मिले साहब मिले, अंतर रही न रेख ।

मनसा, वाचा, कर्मना साधू, साहब एक । कबीर

ग - जाने सुसन्त अनन्त समाना - तुलसी

सभी तत्वों की संस्कार छाया संत के व्यक्तित्व में थी । भक्ति ने इन सभी के सामंजस्य की भूमिका तैयार की । हठ योग, वेदान्त, सूफी प्रेम - आदि अनेक तत्व इसमें समाहित किए हैं । इन सबके ऊपर " वैष्णवता " अपनी समग्र करूणा को लिए हुए छायी हुई है । [1] समन्वय की शक्ति तो इनके व्यक्तित्व में प्रबल थी, पर अप्रगतिशील एवं रूढ तत्वो के साथ समझौता इस व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं था । उनकी समन्वय भावना एक लोकधर्म का निर्माण कर सकी ।

समस्त सिद्धांतो को संत पुस्तकों से ग्रहण नहीं करता था । इस क्षेत्र में संत की स्पष्टोक्ति थी - " मसि कागद छूयों नही, कलम गही नहिं हाथ । " संत पुस्तक ज्ञान का पंडित नहीं था । उसकी तो मान्यता थी । " पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोइ । " उसमें ज्ञान का समस्त प्रति फलन व्यावहारिक और जीवन्त था - मै कहता आखिन की देखि " उसका संबंध जिस वर्ग से था, उसमें शिक्षास्तर शून्य के बराबर था । इस व्यक्तित्व ने ज्ञान की लोकगत धाराओं का अवगाहन किया और गुरू परंपरा से सार-ग्रहण किया । अपढ़ वर्ग का निरक्षर नेता, लोक नायक बन गया, इसका यही रहस्य है । इसलिए उसका समझौता उनसे न हो सका जो जीवन - निरपेक्ष पुस्तक ज्ञान का भार ढोते रहते थे और दंभ की प्रतिभूति बने रहते थे । [2] जो ज्ञान लोक जीवन के धरातल पर अपनी उपयुक्तता सिद्ध नहीं कर देता, वदर्वगगत हो

---

1. " ... इन्होंने हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धांत, वैष्णव सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद आदि बातें ग्रहण कीं । बौद्ध धर्म से शून्यवाद, अहिंसा मध्यमार्ग आदि अपनाए तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृवाद और सूफी संप्रदाय से प्रेम भावना को लेकर सबके सम्मिश्रण से एकनया पंथ चला देने की चेष्टा की ।"
§ परशुराम, चतुर्वेदी उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ॰ 184 §

2. मेरा तेरा मनुआँ कैसे एक होय रे ।

हो सकता है जनगत नहीं । इस प्रकार संत और भक्त का व्यक्तित्व आरोपित ज्ञान के भार से भी मुक्त रहा । परिणाम यह हुआ कि वह वर्गवादी मतमतान्तरों से ऊँचा उठ गया । ना हिन्दू ना मुसलमान " की स्थिति प्राप्त हो गई । [1] उसका व्यक्तित्व न दुराग्रहो से कुंठित हुआ और न पूर्वाग्रहों से बाधित ।

इस प्रकार के व्यक्तित्व में क्रान्ति अपने शुद्ध रूप में प्रज्वलित होती है । सन्त, समाज के निम्न और उपेक्षित वर्गो की देन था । इसकी अपनी निजी कुंठाएँ थी । उच्च स्तरीय शास्त्र ज्ञान से यह वर्ग वंचित था । जो वर्ग उच्च शास्त्रीय ज्ञान पर एकाधिकार जमाए थे, उनके लिए यह तिरस्कार योग्य था । केवल आगम दर्शन की लोकोन्मुख धारा सिद्धनाथ के माध्यम से इस वर्ग को स्पर्श कर लेती थीं । इस्लाम के प्रचार का क्षेत्र भी यही था । इस वर्ग को संत ने वाणी दी : समाज की दृष्टि को आकर्षित किया । दमित वर्ग थो एक नवीन दिशा और दृष्टि मिली । उसे एक आत्म विश्वास मिला । संत की क्रान्ति प्राय: अभिजात वर्ग के प्रति थी । संत के प्रखर, निर्भय और सशक्त व्यक्तित्व को पाकर निम्न वर्ग ने अपने को पर्याप्त आश्वस्त और सुरक्षित अनुभव किया । जिस अभिजात वर्ग के प्रतिसंत की क्रान्ति थी, उसमें वह धार्मिक पुरोहित-नेता भी था जो शास्त्रीय और रूढ़ धर्म भी बलिवेदी पर मानवता को चढ़ा चुका था और वह वर्ग भी जिसे के लिए बाह्माडम्बर ही जीवन का सर्वोच्च मूल्य था । यह धार्मिक हिन्दू भी हो सकता है, मुसलमान भी ।

सन्त का विद्रोही व्यक्तित्व इसी प्रकार खिलता गया । वह अर्न्तबाह्य स्फूर्तियों से पुलकित था । बाह्य, सामाजिक जीवन संघर्ष के प्रति सक्रिय सजगता संत के व्यक्तित्व को सिद्ध और नाथ से पृथक करती है ।

---

1. हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद ।
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीद । ॥ नामदेव ॥

कुछ मनोवैज्ञानिक आलोचकों को संत कवि के व्यक्तित्व में हीनता ग्रंथि और कुंठा की प्रतीक्रिया दिखलाई पड़ती है । यदि यह सत्य हो, तो भी ये कुंठा चक्र वैयक्तिक नहीं, सामूहिक या वर्गीय थे । सामूहिक कुंठा अंततः एक व्यापक क्रान्ति को जन्म देती है । इसी सामूहिक अवचेतन में पली कुंठा ने संत के निर्भय-निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व को चुनौती दी । व्यक्तित्व अस्वाभाविक या असाधारण होने के स्थान पर जीवन के यथार्थ के प्रति अधिक प्रबुद्ध और सचेष्ट दिखलाई पड़ता है । सामूहिक उद्वेलन की भूमिका में संत की वर्ग गत या समाज गत अनुभूति और तत्संबंधी क्रिया वर्जन से भयभीत नहीं रहती । अन्ततः संत का व्यक्तित्व अन्तर्बाह्य एक होकर स्पष्टवादी बन जाता है । हीनता ग्रन्थि वैयक्तिक धरातल पर जो विकार उत्पन्न करती है, उन विकारों से संत का व्यक्तित्व ग्रस्त नहीं हुआ ।

एक शब्द में, संत का व्यक्तित्व किसी दबाव में नहीं था । वह मुक्त और सहज था । एक ओर करूणा और अहिंसा की अजस्र वर्षा थी, तो दूसरी ओर क्रान्ति के प्रखट विस्फुलिंग । वह अत्यन्त, सबल, निष्पक्ष एवं पूर्ण मानवतावादी था । समय-समय पर जो तिल मिला देने वाली झुंझलाहट और पंडित वर्ग के प्रति आक्रोश मिलता है, वह हीनता की ग्रंथि से उत्पन्न नहीं है । उसके मूल में मानवता वादी क्रान्ति, दलितों के प्रति सहानुभूति और सामाजिक पुनर्व्यवस्था में विश्वास ही है ।

शास्त्रीय परंपरा में कवि की पारदर्शिनी दृष्टि पर बहुत बल दिया गया है । राजशेखर के अनुसार कवि अपने चर्म चक्षुओं से जो कुछ देख लेता है, वह त्रिनेत्र शिव और सहस्राक्ष इन्द्र भी नहीं देख पाते है ।[1] " कवि " क्रान्त दर्शी का अर्थ है कि कवि बहुत आगे देखता है । वह भविष्यदर्शी होता है । इसीलिए उसका काव्य कालजयी होता है । कवि अपनी " कल्पना " के सहारे दृष्टि का विस्तार करता है । कवि अपनी सूक्ष्म कल्पना के द्वारा जो बोध कर लेता है, वह शिव भी नहीं कर सकते ।[2]

---

1. न तत्त्र्यक्ष : सहस्राक्षों वाचत् चर्म चक्षुषोऽपि क्वच : पश्यन्ति ( काव्य मीमांसा, अध्याय - 12. )

2. प्राप्ता विकास प्रतिया कविनां ।
व्याप्नोति यत्वेत्ति न तत् शिवोऽपि । ( नील कंठ दीक्षित, शिवलीलार्णव, 2.20 )

भारतीय परंपरा में ऋषि को भी दृष्टा कहा गया है - " ऋषय: मन्त्र द्रष्टार [1] तपस्या करने वाले या तपस्या से समाधिस्थ होने वाले भी ऋषि कहलाते है । [2] इसी एकाग्र स्थिति में मन्त्र दर्शन होता है । इसी लिए ऋषि के लिए " मत्रदृक् " तथा " अपश्यत् " शब्दों का प्रयोग मिलता है । मंत्र के साक्षात्कार के बाद ऋषि उसका वक्ता बनता है । इसीलिए ऋषि की एक परिभाषा यह की गई " यस्य वाक्यं स ऋषि " ऋषि मंत्र रूप वाक्यों के वक्ता है । इस प्रकार ऋषि मंत्रों के दृष्टा प्रयोक्ता अथवा वक्ता होते है ।

जब भारतीय परंपरा में कवि को परिभाषित किया गया, तो ऋषि की परिभाषाएँ उपजीव्य रही । व्यास और वाल्मीकि की कोटि इसी परंपरा के प्रकाश में निर्धारित की जाती रही है । ऋषि / कवि आध्यात्मिक या दिव्य अभि-प्रायों से प्रेरित और अनुप्राणित रहा । भारतीय परंपरा मानती रही कि ऋषि के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता - " नानृषि : कुरुते काव्य ।" उपर्युक्त दोनों महाकवि इस दृष्टि से ऋषि ही है ।

भक्त कवि भी इसी अर्थ में एक सीमा तक दृष्टा है उसने अपने समाज को एक असंदिग्ध दृष्टि से देखा और समाज का भविष्य भी उसकी आंखों ने तैर गया । तुलसी का कलियुग वर्णन इसी अनुमानित भविष्य की ओर संकेत करता है । उसकी दृष्टि का संस्कार विभिन्न प्रकार से हुआ । इसमें सतसंग आचार्य गुरू और परंपरा का पुनराख्यान मुख्य रूप से उल्लेखनीय है ।

---

1· निरूक्त § 2· 11 § ऋषि दर्शनात्

2· श्रमेन तपसा अरिषन्त तस्माद् ऋषय: § शतपथ 6· 1· 1 §

## 4. सृजन व्यापार :-

सृजन व्यापार कवि के व्यक्तित्व का व्यावहारिक पक्ष है । इसमें उसका समग्र व्यक्तित्व उसकी मानसिकता और परिवार्श्व सक्रिय रहते है यही वह व्यापार है जिसके द्वारा कवि समाज से जुड़ता है । समाज और कवि के बीच का संबंध उसकी रचना के द्वारा स्पष्ट होता है ।

### 4.1 रचना की दिव्य प्रेरणा :-

धार्मिक या दार्शनिक काव्य रचना के साथ दिव्य प्रेरणा की बात कही जाती है । वैदिक ऋषि ने दिव्य चेतना की प्रेरणा स्वीकार की है ।[1] यह प्रेरणा रचना के लिए हृदय को सक्रिय करती है । रचना हृदय द्वारा होती है ।[2] यह रचना स्तुति रूप, हृदय के द्वारा ग्राह्य, शोभन, सुखकर, प्रीतिकर तथा कल्याणकारी है ।[3] यह रचना एक कुशल शिल्पी द्वारा उसी प्रकार निर्मित होती है जिस प्रकार कारीगर के द्वारा रथ का निर्माण होता है ।[4]

दृष्टि भेद से रचना भेद हो जाता है । वैदिक ऋषि के कृतित्व में लौकिक और दिव्य दोनों का सौन्दर्य विलसित है । उपनिषद तक आते आते ऋषि दिव्य सौदंर्य का उपासक मात्र रहे गया । हृदय गत भावों का स्थान ज्ञान लेता गया । ऋग्वेद का

---

1. चोदयित्री सुनृतामाम्, चेतन वन्ती सुमतीनाम, धियो विश्वा विराजति ﴾ऋ3.10.72﴿
2. आ ते अग्ने ऋत्वा हवि : हृदा तुष्टम् ﴾ ऋ. 5.16.47 ﴿
3. स्तोम मदिति जगृप्यात सूनुं न माता हृयं सुशेनम्
   ब्रह्मप्रियं देव हितम् – ﴾ ऋ . 5.42.2 ﴿
4. रथम् न धीर: स्वपा अतक्षम् ﴾ वही 5. 3. 11 ﴿

घोष था " पश्च देवस्य काव्यं नममार न जीर्यति । यह घोष उपनिषद की ज्ञानमयी उक्तियों में बदल गया " ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या " तथा ब्रह्म विद् ब्रह्म वै भवति ।

इसकी प्रतिक्रिया रामायण में दिखलाई पड़ती है । यह लौकिक रचना का प्रथम महाकाव्य है । आदि कवि भी दैवी प्रेरणा स्वीकार करते है किन्तु मूलत: यह रचना भाव प्रेरित है ।[1] यह भाव एक करूण हृदय की प्रतिक्रिया में कवि हृदय में स्फूर्त हुआ । अंत में अभिव्यक्ति के लिए पीड़ा उत्पन्न हुई, और वह भाव वाणी में रूपायित हुआ । भाव सदा अपनी मूर्त परिणति चाहता है । जिस वाणी में उसको संमूर्तित किया, उसकी परिणति के प्रति कवि में विश्वास है । इसीलिए कवि कहता है कि उसका श्लोक निरर्थक नहीं होगा " ( श्लोको भवतु नान्यथा ) । इस प्रकार रचना को समाज सापेक्ष माना गया । वैदिक ऋचाओं की प्रेरक उषा देवता, वाल्मीकि की सरस्वती है ।[2] वाल्मीकि को अपने कवि होने की चेतना है । वे अपने श्लोक की रचनात्मक विशेषता का कथन भी करते है ।[3] इन विशेषताओं में लयात्मकता, संगीतात्मकता, समान अक्षरों की योजना तथा पाद बद्धता है ।

रूप सृष्टि में समान अक्षरों की योजना स्वत: गतिमान हो जाती है । भाषा की नियन्त्रित तथा संयमित गति में पाद बद्धता स्वयं आ जाती है । उपर्युक्त कथनों में तीव्र संवेदना, व्यापक भावानुभव, जीवन के प्रति संसक्ति तथा अमानवीयता के प्रति आक्रोश के तत्व समाविष्ट है ।

---

1. " शोकार्तस्य प्रवृत्तों मे ( वाल्मीकि रामायण 1.2.18 )

2. श्लोक एवं त्वया बद्धो मात्र कार्या विचारणा ।
   मच्छन्दा देन ते ब्रह्म प्रवृत्ते यं सरस्वती ( वही .1.2.31. )

3. पाद बद्धो क्षर समस्त तन्त्रीलय समन्वित:
   सो नु व्याहरनाद्भय: शोक: श्लोक वभागत: ( वही बाल. 1.2.40 )

वेद और वाल्मीकि रामायण में वस्तु गत अन्तर अलौकिक और लौकिक का है । एक का विषय अलौकिक ब्रह्म है, रामायण के केन्द्र में मानवीय भाव है । एक का लक्ष्य मोक्ष है, तो दूसरे का पुरूषार्थ चतुष्टय । रामायण में शोकित और क्षुब्ध हृदय की अभिशाप मूलक कलात्मक परिणति है । दैवी प्रेरणा का उल्लेख औपचारिक रूप में परंपरा का निर्वाह है । लौकिक रचना में अलौकिक विषय भी मानवीय संबंधों से जुड़ कर आते हैं । रचना वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक है ।

महाभारत में अलौकिकता का उल्लेख परंपरागत धार्मिक चित्तवृत्ति का प्रभाव है । कवि कला रचना को मूलत: मानसिक मानता है ।[1] मानसिक रचना को मूर्तिमान करने में वाणी की क्षमताओं का निर्देशन भी किया गया है । वाणी में मधुर अर्थ को वहन करने की क्षमता है ।[2] वाणी ही हृदयस्थ वस्तु को संमूर्तित करती है । यह अभीष्ट अर्थों की निष्पत्ति करती है । वाणी के द्वारा ही ग्राहक के मन में उत्तम रस तथा इष्टार्थ का संसार होता है ।[3] इस प्रकार व्यास ने कला के शिल्प पक्ष को अपेक्षित महत्व प्रदान किया है । कलाकार के मूल अभिप्राय को कवि ने दिव्य का प्रेरक तत्व माना है ।[4] कवि ने मानवीय सत्य को सर्वोपरि स्थान दिया है ।

भागवत कार ने भी वाणी की विशेषताएँ है, मधुरता, वल्गु वाक्यता, बुध मनोज्ञता ।[5] वाणी के माधुर्य की चर्चा महाभारतकार ने भी की है । एक विशेष बात यह कही गई है कि सुन्दर वाक्ययुत वाणी बुध जनो को मोहित कर लेती है ।

---

1. अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्व कर्मणा ।
मयेन मनसा सृष्टं पाताल तमाश्रितम् । महा॰ उद्योग॰ 100/2॰

2. उवाच वाक्यं मधुरभिधानम् । महा॰ अनुशासन॰ 11॰ 5

3. वस्तुतं विषय गच्छेन्यन्त्रो वर्ण: स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जंगमोनाम्, तस्मादपि गरीयसी । अश्वमेधिक पर्व, 21॰ 16॰

4. तत्र दिव्यान भि प्रायान, ददर्श कुशिकस्ततः । अनुशासन पर्व, 54॰ 3

5. मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया बुध मनोज्ञया पुष्करे क्षण ।
विधि करीरिमा वीर मुह्यती धर सीधु नाप्याचस्व न : । श्रीमदभागवत ॥ 14॰ 28॰ 6 ॥

वैष्णव आचार्य विट्ठल नाथ जी रचना के मूल में रस की स्थिति को स्वीकार करते हैं । उन्होंने भी वाणी के महत्व को रेखांकित किया है । इस के द्वारा ही कला की परिणति और अभिव्यक्ति होती है ।[1]

तुलसी ने दिव्य प्रेरणा-स्रोत के रूप में सरस्वती ( = शारदा ) का स्मरण किया है ।[2] सरस्वती की कृपार अपार सुविचार रूपी बूंदे बुद्धि रूपी सीप में बरसती हैं । इससे कविता रूपी मोती बनते है । वाणी की कृपा भी राम की कृपा से ही प्राप्त होती है । उनका संकेत पाकर ही शारदा प्रेरणा का संचार करती है ।[3]

सूर ने " चरण कमल बदौ हरिराई में दिव्य प्रेरणा स्रोत का संकेत किया है । गुरू वंदना भी भक्त कवियों ने की है और गुरू को भी दिव्य प्रेरणा का माध्यम स्वीकार किया गया है । आचार्य मानस के संबंध में विचार करते समय आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया यहाँ केवल इतना कहना अलग होगा कि संत और भक्त गुरू भगवान में अन्तर करके नहीं चले ।

चाहे आधुनिक युग में दिव्य प्रेरणा का स्थान सामाजिक प्रेरणा ले लिया हो फिर भी भक्त कवि की दिव्य प्रेरणा सामाजिक प्रेरणा के समकक्ष ही है । उसने समाज में दिव्य प्रेरणा को प्रतिफलित होते देखा और मानव में दिव्यता के दर्शन किए । मानव सत्य ने व्यापक होकर दिव्यता को भी अपने भीतर समेट लिया और दिव्यता

---

1. अन्त: स्थितो रस पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गत: ।
   तदा पूर्णो नैव भवेदित वाग निर्गमस्तथा । ( 1.2.28 सुबोधिनी कारिका-2 )
2. भगति हेतु विधि भवन बिहाई ।
   सुमरत सारद आवति धाई । ( मानस : बाल कांण्ड )
3. सारद दारूनारि सम स्वामी । राम सूत्र धार अंतर जामी ।
   जेहि पर कृपा करहि जन जानी । कवि उर अजिर नचावहिं बानी ।

सामाजिक संदर्भों में साक्षात्कृत हो गई । दिव्य प्रेरणा भक्त कवि को उस कवि से अलगाती है जो सत्ताश्रया समन्ती व्यवस्था के हाथों बिक कर ." प्राकृत जन " के गुणगान करने लगता है । इस दृष्टि से सामाजिक प्रेरणा स्वयं सिद्ध हो जाती है ।

## 4.2 कवि मानस :-

सृजन कवि मानस की सक्रियता का परिणाम है अर्थात् कवि मानस का उत्तराधिकरण, उसके मूल भूत संस्कार अभिरूचियाँ प्रतिभा आदि का समवेत योगदान सृजन की भाव भूमि का प्रस्तुत करता है और अनुकूल रचना विधान के लिए उसकी कारयित्री प्रतिभा को निर्देश भी देता है । कभी-कभी कवि एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार कवि अपने मानस का संस्करण भी करता है । भक्त कवि जिस प्रकार एक परंपरा में अपने को समर्पित करके निर्वैयक्तिकता प्राप्त करता है वहाँ दूसरी ओर वह मानस की भावात्मक संक्रमित के द्वारा पूर्ण निर्वैयक्तिकता से युक्त हो जाता है । इसका क्रम यह है ।. आचार्य मानस का कवि मानस में सक्रमण, नारी मानस का ग्रहण और उसमें कवि के मूल मानस का विसर्जन तथा कवि मानस का लोक मानस के साथ तदाकार हो जाना । यह एक प्रकार से साहित्य सृजन की मानसिक तैयारी ही कही जाएगी ।

### 4.2.1 आचार्य मानस और कविमानस :-

आचार्य और भक्त कवि दीक्षा के माध्यम से अविच्छिन्न रूप से जुड़ जाते है । आचार्य मानस एक ओर तो एक लोकोन्मुख आदोलन से सम्पृक्त था और दूसरी ओर प्रस्थानत्रयी की परंपरा का वह अनुगत था जो समस्त भारतीय दार्शनिक मानस का प्रतिनिधित्व करती है । एक ओर वह खण्डन और मण्डन की बौद्दिक प्रक्रिया में संलग्न

दिखलाई पड़ता है तो दूसरी ओर वह पुरान साहित्य और लोक साहित्य के क्षेत्र में रसान्वेषण भी करता है । उसमें सृजन की एकपीड़ा भी जन्म लेती है, जो भक्त कवि के मानस में आकर कवि को सृजन की प्रक्रिया में लगाती है । एक प्रकार से यह परिपूरक या सहस्त्र-जन की भूमिका ही है । कवि चेतन या अचेतन रूप से आचार्य मानस के परकाय प्रवेश का स्वागत करता है उसके लिए उचित सामग्री का संकलन किया जाता है । यह कवि मानस दीक्षित मानस ही है जिसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :--

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | मंत्र प्राप्ति | | मंत्रदान | |
| सृजन की पीड़ा - | दर्शन | कवि | (दीक्षा) | कवि - सृजन |
| आचार्य मानस | भावना | मानस | वस्तुबोध | मानस - सुख |
| | प्रतीकन | | चर्या | |

यदि इन सभी सूत्रों की पुनर्रचना करके भक्त उसे सृजनात्मक प्रक्रिया से जोड़ कर अभिव्यक्ति की ओर चलता है तो उसकी संज्ञा भक्त कवि की हो जाती है । काव्य वस्तु कवि मानस की प्रतिकृति है । कवि मानस की एक प्रकृत रचना भी होती है जो आचार्य संदर्भ में आकर एक वृहत्तर भाव बोध को प्राप्त करती है । प्रकृत मानस अन्तर्विरोध उत्पन्न न करके सहयोगी बन जाता है । आचार्य मानस से सम्बद्ध होकर कवि की भाव मूर्ति बौद्धिक और सामाजिक तत्वों से भी समन्वित होती है शास्त्रीयता और भाव बोध का विभाजन समाप्त होकर एक अखण्ड वस्तु बोध की स्थापना करता है ।

4•2•2 नारी मानस :-

भक्त कवि के चरित्र की तीन विशेषताएँ है अशेष आत्म समर्पण, कामल-मधुर भावों की क्षमता और निष्काम तटस्थता ।[1] इसीलिए भक्ति परक रहस्यवाद को नारी प्रकृति का धर्म कहा गया है । इसीलिए भक्त कवि को साधना और सृजन के लिए स्त्री भाव में सन्निविष्ट होना पड़ता है । आलवार रसिक कवि भी भावावेश के क्षणों में अपने को नारी भावना में लीन पाते है ।[2] प्रेमाभक्ति में कवि की वाणी प्रेममयी नारी की वाणी हो जाती है ।[3] आचार्य वल्लभ ने स्पष्ट रूप से कहा है कि निस्साधन भक्त केवल स्त्री भाव से भगवान का रसास्वादन कर सकता है ।[4] नि सम्प्रदाय रसिक को प्रात: काल उठते ही सखी भाव धारव करके सेवा में तत्पर होना चाहिए ।[5]

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार रास के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए शिव को भी गोपी रूप ग्रहण करना पड़ा था । आज भी वृंदावन में गोपेश्वर महादेव प्रतिष्ठित है । इसी प्रकार नारद को भी गोपी मानस सहण करना पड़ा था । यही परंपरा भक्त कवियों तक चली आई है । भक्तों ने स्त्री परक नाम धारण किये । नालायिरम के भाष्यकारों ने अल्वारों के स्त्रीलिंग नाम दिये हैं नम्माल्वार = परांकुश नायकी, तिरू मंगेइ आल्वार = परंकाल नायकी आदि ।

---

1• डा•राधा कृष्णन, ईस्टर्न रिलीजन एन्ड वैस्टर्न थॉट, ॥ वि•स• ॥ ग्रेट बिटेन, 1940, पृ• 65•

2• The Alwars - - - themselves as men but in the white heat of their passion for God they lose themselves and sing in Pirathujana tanmai i.e., as the lady love' (Dr.N.S.Reddiar; Religion and Philosophy of Mala jira Rivya Prabandham (Typed Copy) Page-55.

3• आचार्य हृददम, सूत्र 118•

4• सलोहि भगवॉन कृष्ण : स्त्रीषु सखी कौ भाव सुबोधिनी नाम सफल-पृ•24 प्रकरण-4॥

5• प्रात: काल ही उठि के धारि सखी कौ भाव । महावाणी सेवा सुख, पृ• 24•

भक्ति साहित्य में नारी मानस की स्थिति दो रूपों में मिलती है : गोपी मानस और सखी मानस । गोपी मानस आद्यन्त कृष्ण प्रेम से आप्लावित है । उनके पंचेन्द्रिय विषय कृष्ण केन्द्र पर निरूद्ध हैं । इसी लिए प्रेमाभक्ति साधना के आदर्श के रूप में गोपियों की एकान्त प्रतिष्ठा हुई । व्रज देवियों को " तन्त " तदभावेश्वामयी " रागानुगा भक्ति का चरमादर्श माना गया । वल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय में इनकी मधुरोपासना को ही प्रामाणिकता मिली ।[1] पुराण साहित्य में गोपी मानस में संक्रमित होने की सरणियाँ मिलती है, वेद ऋचा गोपी : देवी = गोपी, ऋषि - मुनि = गोपी ।[2]

दूसरी स्थिति सखी मानस की है । भक्त कवियों ने अपने को सखी रूप में भावित किया । और यह प्रक्रिया व्यापक रूप से चली । वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने जहाँ वन-लीलाओं के संपादन, आस्वादन और गायन के लिए अपने को "सखा" के रूप में परिणत किया । सखी रूप कवियों की भावना इस प्रकार साकार हुई -

| अष्ट कवि | सखी रूप | लीला सक्ति |
|---|---|---|
| सूरदास | चपंक लता | मानलीला |
| कुभंन दास | विशाखा | निकुंज लीला |
| परमानंद दास | चंद्र भागा | बाल लीला |
| कृष्ण दास | ललिता | रास लीला |
| गोविन्द स्वामी | भामा | आंख मिचौनी |
| छीत स्वामी | पद्मा | जन्मलीला |
| चतुर्भुज दास | विमला | अन्नकूट लीला |
| नंद दास | चंद्र रेखा | किशोर दास |

---

1. रामस्वरूप चौधरी, मधुररस ( 1 ) पृ. 159.
2. विस्तृत विवेचन के लिए दृष्टव्य, डॉ.चन्द्र भावरावत कृष्ण भक्ति साहित्य : वस्तु स्रोत और संरचना, पृ. 130 - 239.

चैतन्य मत के आठस्तंभ भी सखी मानस में अपने को भावित करते हैं, रूप गोस्वामी भी = विशाखा, राय रामानंद = ललिता, वनमाली कविराज = चित्रा, गदाधर भट्ट = रंगदेवी, प्रबोधानंद = तुंगविद्या, अनंताचार्य महाभाव के रूप में भावित हुए । सखियों की अवस्था, उनका वर्ण, उनके वस्त्राभूषण आदि की भी विशद कल्पना मिलती है । चैतन्य संप्रदाय की सखियों के नाम, वल्लभ संप्रदाय के सखी-नामों से भिन्न हैं ।

सखियों के नाम और व्यक्तित्व को ग्रहण करने की परिपाटी निर्बाक संप्रदाय से भी मिलती है । संप्रदाय के आचार्य कवियों में से 41 के नाम सखी या मंजरी के नाम पर रखें गए है ।[1] इस संप्रदाय में " रूढ़ संख्या आठ का भी बंधन नहीं है । साम्प्रदायिक कवियों ने अपने काव्य में प्रायः सखी नाम ही ज्ञापित किया है । आचार्यों को भी सखी नाम से ही संबोधित किया जाता है ।

हरिदासी सम्प्रदाय तो सखी सम्प्रदाय के नाम से ही जाना जाता है । केलिमाल में हरिदासी सखी का उल्लेख है ।[2] हरिदासी सखी का नाम है ललिता अन्य सखियों में केवल ललिता का नामोल्लेख मिलता है ।[3] वैसे सम्प्रदाय के अनुयायी कवि अपने नामों को सखी नाम से संज्ञायित करते हैं । कवियों पर सखियों के आरोपन की पूर्ण व्यवस्था इस संप्रदाय में नहीं मिलती ।

राधावल्लभ संप्रदाय में सखियों की नामावली मिलती है ।[4] यह नामावली वल्लभ संप्रदाय के अनुसार न होकर चैतन्य सम्प्रदाय से मिलती जुलती है । इस संप्रदाय के रसिक / कवियों पर सखियों का विधिवत आरोपण नहीं हुआ । श्री हित हरिवंशजी

---

1. डा॰नारायणदत्त शर्मा, निर्बाक संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त कवि, (परिशिष्ट) पृ॰173 178
2. केलिमाल, 25, नोट =
3. - वही - 94.
4. दृष्टव्य ध्रुवदास कृत " बयालीस लीला " में रसनंद लीला, सभामंडल लीला और स्नेह मंजरी लीला ।

को " हित सखी " के रूप में देखा गया है । उनकी एक कृपापात्र सखी " नरवाहन सखी " का भी संकेत मिलता है । वैसे संप्रदाय के भी सभी रसिक कवि सखी भावना से भावित मिलते है ।

सखी मानस का प्रवेश रामोपासक रसिक साधना में भी हुआ । इस सम्प्रदाय में स्वसुखी और तत्सुखी दोनों प्रकार की सखियों की मान्यता है । सखी का परम काम्य है – सीता राम की केलि के सुख की प्राप्ति ।[1] अष्ट सखी, निकुंज रस ( = महल माधुरी ) आदि की रूढ़ियाँ ज्यों की त्यों मिलती है ।[2] राम और सीता की सखियाँ अलग-अलग भी है ।

सखी मानस की मान्यता निर्गुण संप्रदायों में भी चलने लगी । 18 वीं शती में महात्मा श्याम चरन दास के द्वारा स्थापित शुक्र संप्रदाय का साहित्य इसका प्रमाण है । डा॰देवी शंकर अवस्थी के अनुसार " 18 वीं शती में संभवत: एक भी भक्ति संप्रदाय ऐसा न मिलेगा जिसके अनुयायियों ने सखीभाव की अभिव्यक्ति न की हो । परिणाम स्वरूप 18 वीं शती का प्रेम भक्ति साहित्य मुख्यत: सभी भावापन्न एवं निकुंज लीला कागान है ।[3] इस प्रकार सभी भक्ति संप्रदायों में नारी मानस के ग्रहण की प्रक्रिया सघन से सघन तट होती गई । कबीर के भीतर नारी मानस के विलास को देखा जा सकता है । जिसका विकास आज के संप्रदायों में हुआ ।

नारी मन के भाव दो केन्द्रों पर केन्द्रित होते है, प्रेमभाव और दास्य भाव, पहली भाव पद्धति का विकास मधुर भाव, कांत-कांता भाव या नायक नायिका भाव में होता है । नारी का पत्नी रूप दास्य भाव से प्रेरित होता है । अर्थात् इसमें

---

1॰ कृपा निवास, पदावली, पृ॰ 4॰

2॰ रा॰म॰ भ॰उ॰, पृ॰ 225, 240 पर उद्धृत ।

3॰ ब्रजभाषा काव्य में प्रेमा भक्ति, उपसंहार, पृ॰ 467॰

दाम्पत्य भाव और दास्य का समावेश हो जाता है । कबीर का मन इस दूसरी भाव सरणि को स्वीकार करता है --

जब हम रहली हीहल दिवानी, तब पिय मुखांन बोला
जब दासी भई खाक बराबरि, साइब अंतर खोला । [1]

इसमें " दासी शब्द कबीर के पत्नी मानस का व्यंजक है । इसमें " खाक बराबरि " शब्द अभिमान के पूर्ण लोप की स्थिति का व्यंजक है । इस स्थिति में ही परम प्रिय का साक्षात्कार संभव है । पूर्ण आत्म-समर्पण नारी मन की विशेषता है । कबीर भी अपने " प्रिय " के हाथ बिक गए हैं " दास कबीर साहेब का बंदा जाकै हाथ बिकानी " इस " प्रकार कबीर में " दासी " भाव है जो मीरा की भावना से मिलती है - " दासी मीरा लाल गिरधर । " " सती मानस का भी इसमें समावेश है । सती भाव अनन्यता का द्योतक है । कबीर की साधना के दो आदर्श है - " सती " और " सूरया " ।

कबीर की भाव साधनाओं में नायिका का भी महत्व पूर्ण स्थान है । " नायिका भाव अनेक भावों का सामान्य नाम है । उसमें कभी कांता का भाव समाविष्ट हुआ है तो कभी नवोढ़ा और कभी पतिव्रता का । [2] इस भाव की अभिव्यक्ति भी कबीर-साहित्य में मिलती है :--

सरसा सो सह सेज सवारै । सोई सही संदेह निबारै ।
अलप सुख छाँडि परम सुख पावै । तंब यहुतीअभ ओहु
अंत कहावै ।

और

---

1· पद 16 - 3 - 4·

2· विलियमडायर, कबीर की भक्ति भावना, पृ· 205·

हम तुम बीच भयौ नहि कोई ।
तुमहि सो कंत नाहि हम सोई । [1]

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यह नारीत्व कबीर का मनोभाव है या मात्ररूपक । यदि हम कबीर की विचार समष्टि पर ध्यान दे तो हमें यह कहना होगा कि उनके मानस में नारीत्व भावना का उद्भव तनिक असंगत लगता है । कबीर के चरित्र में स्त्रीत्व नही । [2] यह धारणा विलियम डायर की है जो उनकी पुस्तक कबीर की भक्ति भावना में व्यक्त है किन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं है । कबीर का व्यक्तित्व प्रेम मूलक रहस्य साधना के क्षणों में नारीत्व युक्त हो उठता है । भक्ति का यह व्यापक सिद्धांत है कि साधक का मन नारी की मानसिकता में प्रवेश के बिना भक्ति की चरम कोटि को प्राप्त नहीं कर सकता । जब कबीर का व्यक्तित्व समाजोन्मुख होता है, तो स्त्रीमन वही गहरे पैठ जाता है । कबीर ने मधुर भाव की जो अभिव्यक्ति की है, वह नारी मानस के ग्रहण के बिना जीवंत नहीं हो सकती थी । नारी मानस में संक्रमित होने के लिए कबीर विरहिणी के आदर्श को ग्रहण करते है --

हँसि-हँसि कंत न पाइए, जिन पाया तिन रोह ।
हाँसी खेला पिउ मिलै, तौ नही दुहागिनि कोह । [3]

पुरूष भक्त का नारी भाव में प्रवेश सहजात भावना या प्राकृतिक तथ्य पर आधारित नहीं है, यह मानसिक रूप से गृहीत संबंध है । दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत "पुरूष" के संदर्भ में सभी जीवात्माएँ नारी ही हैं । मूल प्रकृति पर भावात्मक रूप से अध्यारोपित यह उप-प्रकृति इसी दार्शनिक अवधारणा की परिणति है । काम शास्त्रीय और काव्य शास्त्रीय प्रविधियाँ इस परिणति को मांसल बना देती है ।

---

1. पद. 19 - 4.
2. कबीर की भक्ति भावना, पृ. 206.
3. साखी 2 - 38.

" भक्त - नायिका " का पुल्लिंग अस्तित्व कहीं गहरे डूब जाता है । स्त्री भावना एक मानसिक यथार्थ बन जाता है । यह मूल प्रकृति के समान ही बलवान हो जाता है । यह मूल प्रकृति के समान ही बलवान हो जाता है । नम्मालवार का सारा " भाव व्यापार और सृजन व्यापार " पराकुश नायकी " के रूप में चलने लगता है और तिरूमं गै उयाल्वार " परंकाल नायकी के रूप में सक्रिय होता है । कबीर की भाँति ये भी " विश्लेष ( बिरह ) के द्वारा प्रेम के उद्दीपन में विश्वास करते थे ।

यह पखरा भी दूर तक जाती है । कौन योगी त्रिपुर सुन्दरी के साथ अपना अभेद ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को स्त्री रूप में भावित और चित्रित करने का अभ्यास करते है ।[1]

## 4·2·3 लोक मानस :-

भक्ति संदर्भ की गति ज्ञान और योग के उच्च अनुशासनों से सरल लोक मानस की ओर रही । ज्ञानी भक्त भी होते रहे और योगी भक्त भी, पर अन्तत: भक्ति इन दार्शनिक अनुशासनों से मुक्त होकर ही रही और स्वयं साध्य बन गई । यह राग भक्ति की दिग्विजय है । राम भक्ति ने वस्तु और व्यंजना दोनों के लिए ही सरल से सरलतर मानसिक सरणियों की खोज की । मुनि मानस ने अपने से निम्न तर, किन्तु सरलतर मानस-स्तरों में संक्रमण किया ।[2] इन स्तरों पर मुनिमानस को आदिम मानस की भूमियाँ, नवीन सामग्री, रस और प्रेरणा मिले । आदिम मानस के संस्पर्शों ने सृजन वृत्ति को जागृत किया और सारे सृजन व्यापार को जीवंत भी बनाया । भक्ति के सभी आचार्यों को मानस के इन्हीं आदिम स्तरों की खोज रही । लोक साहित्य की प्रविधियों ने भाष्य - व्यापार को सुनिश्चित दिशा प्रदान की । किसी को ये स्तर

---

1· डा·हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय - पृ· 72·
2· कपिल ( सांख्य + योग - भक्ति ), नारद और उद्धव इसके उदाहरण है ।

आल्वारों के भाव विगलित प्रबन्धों में मिले और किसी को साजिया मार्ग के प्रेमोन्माद से उद्वेलित साहित्य में शास्त्रानुशासनों से आहत व्यक्तित्व वाला मुनि जब शास्त्र छाया से अपेक्षाकृत मुक्त मानस स्तरों पर उतरा, तो नवीन उत्तेजना-केन्द्र जगे । लोक मानस की उद्भावनाओं के माध्यम से प्रस्थानत्रयी की व्याख्या होने लगी । प्रस्थान त्रयी को लोक मानस ने एक नया जीवन दिया । शंकर ने बुद्धि की जिस उच्च साधना के साथ प्रस्थानत्रयी को जोड़ दिया था, वह बौद्धिक आयास चिंतन के जाड्य को, तो एक सीमा तक झकझोर सका, पर व्याख्या की जीवंत और अछूती प्रविधियाँ न दे सका । संभवत: भक्ति के आचार्यों ने पहली बार-ज्ञान परक संस्कृति की परंपरा को लोक मानसीय व्याख्या भूमि प्रदान की । इस व्याख्या ने एक ओर तो समग्र ज्ञान संपदा को जीवन-संदर्भों से जोड़ा, दूसरी ओर प्रसुप्त सृजन चेतना को प्रबुद्ध कर दिया ।

लोक मानस की विजय यहाँ तक हुई कि लोक और वेद की अधीक्षक विधि मर्यादाएँ अपनी प्रभावपत्ता खो बैठीं और ज्ञानी का परम साध्य कैवल्यमोक्ष उपेक्षित हो गया । यह उपेक्षा सहज शील लोक मानस की ही देन है । जब सब कुछ भावात्मक हो गया, तो आदिम मानस के राग-केन्द्रों से नवोदित मेधा का सम्पर्क हुआ । इन राग केन्द्रों की सघन भावाकुलता में लौकिक-अलौकिक का भेद तिरोहित हो गया । लौकिकता नितांत नवीन व्यंजना प्रविधियों से अलौकिकता को दरसाने लगी । ये प्रविधियाँ न प्रतीकात्मक थीं और न रूपकात्मक । इन प्रविधियों में कुछ न कुछ द्वयता रहती है । इतनी भी द्वयता राग केन्द्रों को स्वीकार नहीं थी । समस्त दिव्यता आदिम लोक मानस से सपृंक्त होकर रागारूण हो उठी । एक प्रकार से न तो लौकिक के उदात्तीकरण की पद्धति ही रही और न लौकिक को दिव्य संदर्भ ही प्रदान किया गया । हुआ यह कि दिव्य को लौकिक संदर्भ दिया गया । संक्रमण इतना पूर्ण और सृजनात्मक हुआ कि दिव्य लौकिक में घुलता चला गया । सारी संरचना लौकिक ही रही, केवल गहन संरचना में अलौकिक अर्थ स्तर विविष्ट हो गए । इन स्तरों की प्राप्ति प्रतीकार्थ, बोध से नहीं, इसमें डुबकी मार कर ही हो सकती थी । जो अभिव्यक्ति लौकिक और

अलौकिक के भेद को जितना ही मिटा सकी, वह उतनी ही लोक मानसीय आदिम विच्छित्तियों से अनुप्राणित मानी जानी चाहिए । इस प्रकार की प्राणवत्ता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही अभिव्यक्ति देश काल जयी होगी ।

जब रागात्मिका भक्ति को लोक मानसीय संस्कारों से प्रेरित काव्य-शास्त्रीय सरंचना में ढाला जाने लगा, तब ऐसा लगने लगा, जैसे रस-भक्ति की सामग्री ब्रज में प्रभूत रूप में है आभीर गुर्जर जातियों का आदिम मानस कृषि युग की निश्चित मूल व्यवस्था के स्थान पर गतिशील गोपाल मूल्य व्यवस्था की प्रतिष्ठा-सब कुछ ब्रज में उभरने लगा । इन तत्वों ने भारत के सभी अंचलों में उभरने का प्रयत्न किया, पर इनको अपने उन्मुक्त विकास-विलास के लिए इतना शून्यावकाश [वैक्यूम] नहीं मिला जितना ब्रज में मिल सका । दक्षिण के अंचल में लोक मानसीय अभिव्यक्ति को स्वीकृति तो मिल गई थी, किन्तु प्रस्थानत्रयी की ज्ञान परक भाष्य परंपरा और योग के तत्वों से अर्न्तब्राह्य वातावरण भरा था । इसी प्रकार पूर्वी अंचल में शाक्त-तन्त्र जाल सघन था । उत्तर पश्चिम में शैवाचार प्रबल था । इन क्षेत्रों में भक्ति का लोक मानसीय संस्कार पूर्ण रूप से नहीं हो सका । बाहरी परिधियों पर जब वैक्यूम का अभाव था, तो ये तत्व केन्द्र के आस पास के वैक्यूम की ओर चलने लगे । काशी, महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात में ज्ञान और योग की परपराएँ लोक मानसीय आघातों से अधिक आहत लगी । ब्रज में यह वैक्यूम सबसे अधिक था । अतः यहाँ राग केन्द्रीय भक्ति भावना को मुक्त विकास के लिए पूर्ण अवकाश प्राप्त हुआ । इस वैक्यूम को सबसे अधिक वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय ने समझा । यही कारण है कि दोनो ही संप्रदायों में ब्रज की भावना बहुत व्यापक रही । बंगाली वैष्णव आचार्य की घोषणा रही है कि भक्ति की चरम परिणति ब्रज में ही हो सकती है समग्र भक्ति रस शास्त्रीय सरंचना में आया और वह संरचना ब्रज के सांदर्भो में ही चरितार्थ हुई ।

इस भक्ति रस शास्त्र के लिए लक्ष्य साहित्य भागवत आदि पुराण तो रहे, पर मुख्य रूप से रस सिक्त लोक साहित्य ही रहा होगा । चाहे वह लोक साहित्य सहजिया साहित्य के रूप में रहा हो, चाहे आभीर गुर्जर साहित्य के रूप में इसी के आधार पर लक्षण साहित्य का निर्माण हुआ ।[1]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि पूर्वाचार्यों की नितांत बौद्धिक मानसीय संरचना के प्रति प्रतिक्रिया शील भक्त्याचार्य मानस, आगम, पुराण और लोक भाषा साहित्य के माध्यम से - प्रवण बना । राग प्रवणता ने आचार्य मानस को दार्शनिक वस्तु के अनुशीलन के लिए एक ( एप्रोच ) दिया । इसी दृष्टि से दार्शनिक परंपरा का भावन किया गया । इसी भावन-प्रक्रिया ने दार्शनिक वस्तु को काव्य वस्तु में संक्रमित किया । यही संक्रमित काव्य वस्तु ब्रज भाषा के भक्ति साहित्य में पूर्णता समग्रता के साथ प्रतिष्ठित है । कालान्तर में शुद्ध भाव भूमि की प्राणसत्ता को चर्चा, आचार सेवा और अभिव्यक्ति की शास्त्रीय औपचारिकताओं ने घेर लिया और शुद्ध काव्य की भूमि को संकुचित कर दिया । इसी संकुचित भूमि में रीतिकाल के भक्त कवियों, रीतिबद्ध और रीतियुक्त कवियों की स्थिति माननी चाहिए । लोक मानस के उष्णस्पर्शों की जीवंतता, अभिजात रुचियों की शीतलता में विलीन होती चली गई ।

---

1. मध्यकालीन कवि की लोक मानसीय संरचना पर डा॰सत्येन्द्र ने " मध्यकालीन साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन " ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया गया है ।

## 4.2 अनुशासित कवि मानस :

अनुशासन और कवि स्वतन्त्रता परस्पर विपरीत तत्व दिखलाई पड़ते हैं । विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर इन दोनों में कोई विरोध नहीं है । अनुशासन स्वतन्त्रता का पूरक है बाधक नहीं । पूरक का तात्पर्य यह है कि स्वेच्छा से स्वीकृत किया हुआ अनुशासन स्वतन्त्रता की वह भूमिका तैयार करता है जो उसे उच्छृंखल तथा दिशाहीन होने से बचाती है । भक्त कवि इसी अर्थ में अनुशासित व्यक्तित्व है । आचार्य और कथ्य वस्तु पर चेतना को केन्द्रित करने की प्रक्रिया ही अनुशासन की परिभाषा में आती है । भारतीय साहित्य और शास्त्र में इन दोनों के सामंजस्य में सौन्दर्य तात्विक और चेतनापरक अभ्युत्थान की संभावना देखी गई ।

कवि साक्षात्कृत सत्य को भाषा के माध्यम से विमोचित करने से पूर्व एक अनुशासन स्वीकार करता है । सत्य है कि यह अविकल अभिव्यक्ति की तैयारी है । यह उसी प्रकार की है जैसे कि एक कृषक उत्पादन के लिए अपनी भूमि तैयार करता है । विश्व कवि रवीन्द्र ने इस अनुशासन और तैयारी पर बल दिया है ।[1] अनुशासन और तैयारी इसलिए की जाती है कि कवि का सौन्दर्य बोध निर्भ्रम और अनाविल हो जाए । इसके बाधक तत्व समाप्त हो जाएँ और सौन्दर्य तथा इसकी अभिसृष्टि के माध्यम के बीच अवरोधक द्वन्द्व न रहे । जीवन और उसके सत्य की समग्रता की रक्षा कवि का धर्म है । अनुशासन कवि की सर्जक शक्तियों को समेकित करता है । यही " समाधि " है । व्यास और वाल्मीकि अपने अनुभूत सत्यों को रचनांतरित करने से पूर्व ध्यान की प्रक्रिया में अवस्थित हुए उपविष्ट कथाश्चान्याचकार ध्यानमस्थित: । " तथा तद्गते नैव मनसा

---

1. It is wrong to suppose that to cultivate discipline it is to cultivate asidity. The peasant doesnot tend his field to make it a desert. When he ploughs the land, harrows the clods and makes the ground free of weeds, it may look as if he is doing violence to the field. But that is how he makes his land yield the fruits of his labour. Similarly in proper appreciation of beauty, an initial cultivation of discipline is a must. (Tagore-on art and Aesthetics, sense of Beauty. P.11).

वाल्मीकि ध्यानमास्थित: ।[1] इसी प्रकार महाभारत की रचना में प्रवृत्त होने से पूर्व व्यास भी योगस्थ हुए " प्रविश्य योग " ज्ञानेन सोऽपश्यत सर्वमन्तत: ।[2] ध्यान की प्रक्रिया में व्यंग्य वस्तु समग्र रूप में कवि मानस में स्फूर्त और मूर्त्त हो जाती है । रसावतरण के लिए यही मधुमती भूमिका बनती है । व्यक्तित्व की अखण्डता का वस्तु की अखण्डता से बहुत संबंध है ।

वैष्णव सम्प्रदायों मे " दीक्षा " एक अनुशासन का ही आरंभ है । भक्त कवि का मानस दीक्षित मानस है । इस अनुक्रम में आचार्य से कवि मंत्र लेता है । मंत्र भक्त कवि के लिए काव्य वस्तु का बीज बन जाता है । मंत्र के साथ भक्त कवि को वस्तु बोध, चर्या और सेवा भाव भी प्राप्त होता है । इन सबके लिए एक शब्द हो सकता है - सांप्रदायिक अनुशासन । इन अनुशासन और साम्प्रदायिक वस्तु बोध को लेकर ही भक्त कवि सृजन व्यापार में प्रवृत्त होता है । आचार्य मानस किसी दिव्य स्रोत से मंत्र का दार्शनिक बोध कवि-मानस में उतार देता है । यह दीक्षा रूप अनुशासन का ही भाग है । दीक्षा कवि मानस का संस्कार करती है । कवि मानस की प्रकृति ही जैसे बदल जाती है ।

भक्ति साहित्य का सृजन दो मानस स्तरों के रागात्मक सहयोग का परिणाम है । कथावस्तु का ग्रहण और भावना आचार्य मानस में होता है और वह वस्तु कवि मानस में स्थानांतरित हो जाती है । कवि का किसी सप्रंदाय में दीक्षित होना ही इस मानसिक स्थानान्तरण का आरंभ है । साधारण कवि मानस और भक्त कवि मानस में यही भेद है । जहाँ साधारण कवि वस्तु का चेतन-सुविचारित चयन और ग्रहण करता है । इसके विपरीत भक्त कवि के मानस में आचार्य मानस से वस्तु का स्थानांतरण बहुत कुछ अचेतन स्तरों पर होता है । जहाँ चयन / ग्रहण प्राकृतिक और सांस्कृतिक स्रोतों से होता है, वहाँ स्थानान्तरण दो मानसों के बीच का विनिमय व्यापार है । ग्रहण और चुनाव विकल्प और वितर्क की क्रिया से गुजरते हैं । मानसीय स्थानान्तरण का व्यापार आद्यंत संकल्पात्मक होता है ।

---

1. रामायण : बालकाण्ड सर्ग 3.
2. महाभारत आदि पर्व, 1.28.

भक्त कवि ने जिस कथ्य-वस्तु को अभिव्यक्त किया उसकी उद्भावना आचार्य मानस में होती है - इसकी गतिशीलता, रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों में यह मानस जकड़ा हुआ नहीं रहता । शास्त्र बोध भी इस मानस में रागानुभव, लोक मानस और मानवीय संवेदना से सजीव हो जाता है । इस मानस की ऐतिहासिक प्रतिक्रिया पहले शांकर अद्वैतवादी दर्शन के प्रति हुई । शंकराचार्य जी के व्यक्तित्व में एक द्वन्द्व मिलता है - दर्शन और सृजन के बीच । एक ओर तो ज्ञानकाण्डीय विचारधारा की चरम बौद्धिक व्याख्या मिलती है तो दूसरी ओर उनके द्वारा रचित स्रोतों में भक्त मानस की छवियाँ उल्लसित हैं । इन दोनों के बीच सामंजस्य घटित करके सृजन-व्यापार नहीं मिला । उसमें राग और बुद्धि का द्वन्द्व नहीं है । शंकर ने जिस प्रस्थानत्रयी का ज्ञानात्मक व्याख्यान किया, उसी का राग-संवलित व्याख्यान करके भक्त आचार्य ने संकल्पात्मक सामंजस्य की भूमिका बनाई । दूसरी ओर निगम परंपरा को स्वीकार करते हुए भी, आगम की अधिशील, मांसल, जीवंत और लोकोन्मुख परंपरा के साथ भक्त-आचार्य का मानस अधिक जुड़ कर चला ।

आचार्य मानस की इसी उर्वर भूमि में वस्तु का बीज जमा और पल्लवित हुआ । यह बीज वस्तु एक सीमा तक आचार्य कृत स्तोत्रों में देखी जा सकती है । किन्तु काव्य की अन्य विधाओं में इसका विकास कवि मानस ने किया । अपने पूर्ण विकास के लिए काव्य वस्तु आचार्य मानस से कवि - मानस में संक्रमित हुई ।

आचार्य मानस में स्फूर्त " वस्तु " कवि मानस के लिए बोध गम्य बनी । वस्तु बोध, वस्तु भावन की प्रक्रिया में आया । वस्तु भावन सौन्दर्य की पहली सीढ़ी है । इस स्थिति में भक्त कवि के मानस का आचार्य से प्राप्त वस्तु के साथ रागात्मक संबंध स्थापित होता है । कवि का समग्र व्यक्तित्व " वस्तु " पर केन्द्रित हो जाता है । वस्तु के प्रति एक स्थायी " वृत्ति " जगती है । केन्द्रीकरण इतना सघन और आविष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व की अन्य वृत्तियाँ या तो विस्मृत हो जाती हैं अथवा केन्द्रीय वृत्ति के साथ समन्वित हो जाती हैं । इसे भक्ति साहित्य के संदर्भ में " आसक्ति " का नाम दिया जाता है । भक्त कवि एक निर्वैयक्तिकता में परिणत हो जाता है ।

आसक्ति एक ओर तो प्रेम परक ध्यान के केन्द्र को निश्चित करती है, वहाँ यह कवि के व्यक्तित्व में कुछ परिवर्तन भी लाती है । भक्त के प्रकृत व्यक्तित्व के स्थान पर जैसे एक भावात्मक व्यक्तित्व उदित होता है । इस नवोदित या स्वीकृत व्यक्तित्व के आधार पर ही गृहीत वस्तु का भावन होता है । इन परिवर्तनों में भाव स्तरीय लिंग - परिवर्तन, लीला देह या दिव्य देह की प्राप्ति आदि सम्मिलित हैं । भक्त कवि अशेष रूप से भावजीवी होता है, चर्या साधना, सेवा तथा सृजन सभी भावावेग से युक्त हो जाते हैं । कवि अपने को सेवक, रसिक, सखा, और नारी रूप में भावित करता है । प्रकृत मानस पर मानसीय व्यक्तित्व के अध्यारोपण में पहली सीढ़ी " सेवक मानस " की है । " सेवा " एक मनोआध्यात्मिक मूल्य बन जाती है ।

आधुनिक युग में भी स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता के नाम पर कवि की उच्छृंखलता का समर्थन नहीं किया जाता है । मूल्यों और विचार धाराओं के प्रति प्रतिबद्धता कवि का स्वानुशासन ही है । यदि कवि को समाज से जोड़कर देखने और उसके सृजन को समाज के संदर्भ में मूल्यांकित करने का सिद्धांत स्वीकार किया जाता है तो कवि के अनुशासन का सिद्धांत स्वत: स्वीकृत हो जाता है । इस दृष्टि से कवि का अनुशासित मानस आधुनिक दृष्टि से स्पृहणीय बन जाता है ।

4·25 रसिक मानस :

भक्त कवि " रसिक " है । दीक्षा के अनुशासन के पश्चात् ही कवि को रसिक मानस की प्राप्ति होती है । " रसिक " शब्द भक्ति संदर्भ का एक पारिभाषिक शब्द है । भक्ति के जिन संप्रदायों में साध्याश्रित मधुर भावना की प्रगाढ़ता रहती है, उन्हें " रसिक संप्रदाय " कहा जाता है ।

उपनिषद में एक क्रम मिलता है, असत् — सत् — सुकृत । सत का अभिव्यक्त रूप ही " सुकृत " है । सुकृत ही " रस " है । इसी रस को आनन्द का मूल कहा गया है । इसी शब्द के आधार पर संभवत: निर्गुणियाँ और सगुण भक्तों को रसिक कहा

गया । राधावल्लभी व्यास ने निर्गुणियों को भी रसिक परिवार का सदस्य कहा है ।[1] इस प्रकार " रसिक " शब्द भक्ति संदर्भ का एक व्यापक शब्द है ।

रसिक शब्द वैष्णव भक्ति के क्षेत्र का एक पारिभाषिक शब्द भी है । श्री संप्रदाय में भी यह शब्द प्रचलित था । वेदांत देशिकाचार्य की पुस्तक " भगवद् ध्यान सोपान " में रंग नाथ के दरबार का वर्णन है ।[2] इस दरबार को उन्होंने " रसिकों " से सेवित बतलाया है । रसिक शब्द यहाँ आल्वारों के लिए प्रयुक्त है अर्चा-विग्रह के सम्मुख भावाविष्ट गुणलीला गान करनेवाले आल्वारों के लिए " रसिक शब्द रूढ़ हो गया था ।

इससे यह सिद्ध होता है कि " रसिक " केवल रसाश्रय नहीं है । , ऐसा रसाश्रय जो रसावेश को अपनी कुछ कलात्मक चेष्टाओं में ढालने के लिए विवश हो जाये, वही रसिक कहलाता था । साख्य के इस कारणवाद से कि जिसमें रस हो, वही रसिक है - यह सिद्धांत विशिष्ट है । काव्य-शास्त्र में भी यह शब्द गृहीत हुआ । भोज के अनुसार " सुसंस्कृत जन " ( सभी मनुष्य नहीं ) ही रसाश्रय या रसिक है । प्रस्तुत संदर्भ में, दिव्य रस में दीक्षित मानस ही " रसिक " है । भोज ने आश्रयत्व रसिक की आत्मा को प्रदान किया है । प्रेक्षक, स्वयं कवि, कोई पात्र, उन्मुक्त और विस्तृत अंह से निर्गत काव्य, इनमें कोई भी रसिक संज्ञक हो सकता है ।[3] रस कहीं बाहर से नहीं आता वह रसिक की आत्मा से ही प्रकट होता है । सांख्य के "सत्कार्य-वाद " के अनुसार यदि रसिक में रस, नहीं तो प्रकट क्या होगा ।

---

1. इतनौ है सब कुटुम हमारो
   सैना, धना, अरु नामा, पीपा और कबीर रैदास चमारो . ।
   ( वासुदेव गोस्वामी, भक्त कवि व्यास जी, पृ० 196 )

2. भगवद् ध्यान सोपान, श्लो० 12.

3. भोज, सरस्वती कंठाभरण, 5.3, पतंजलि ( महाभाष्य, 5.3.95 ) नेरसिको नर: कहा है । इसके लिए शौमिक और ग्रंथिक शब्द भी चलते थे । ।

कृष्ण रसमय है, रसिक शिरोमणि है ।[1] शुक देव जी ने इस रस कृष्ण का गायन किया है ।[2] यही रसरसिक राधा के साथ वृदांवन बिहार करता है ।[3] इस रस की अनुभूति ज्ञानियों को नहीं हो सकती, केवल रसिक ही इसका अनुभव कर सकता है । भक्त रसिक भी है और साध्य भी ।

ऊपर भक्त कवि की मानसीय सरंचना को स्पष्ट किया गया है । यह मानस आधुनिक भाषा में निर्वैयक्तिक ही कहा जायगा । क्योंकि कवि की वैयक्तिकता अपनी अलग पहचान सुरक्षित नहीं रख पाती । कवि मानस के बृहत्तर संस्कार इतने घनी भूत हो जाते है कि कवि की वैयक्तिकता को अपने में समेट कर उसकी शक्तियों को क्षुब्ध भी नहीं होने देते और बृहत्तर भाव संसार से उनके स्वर को अलग-अलग भी नहीं होने देते ।

5. युग चेतना :

इतिहास में ऐसा बहुत कम होता है कि काव्य वस्तु वैयक्तिक, आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को एक साथ एक सामंजस्य और सहयोग में घटित करके चेले । जब ऐसा होता है तो एक महान साहित्य जन्म लेता है और इतिहास उसे स्वर्ण युग के नाम से अभिहित करता है । आलोच्य साहित्य में यह सब हुआ । रहस्यानुभूति से लेकर भूख और गरीबी तक की समस्त अनुभूतियों को भक्त कवि अपने में संजोये हुए है । इतना होते हुए भी उसका व्यक्तित्व खंडित नहीं होता जैसे एक तत्व ही विविध संदर्भ ग्रहण करके कवि की अनुभूतियों में समा रहा हो । यह तो हो सकता है कि एक कवि समुदाय दूसरे कवि समुदाय की तुलना में सामाजिक चेतना से अधिक प्रवृत्त हो और दूसरा कुछ कम, किन्तु भक्त कवि की सामाजिक चेतना अतर्क्य है । यह सामाजिक चेतना या ऐतिहासिक चेतना आधुनिक कवि का एक प्रमुख लक्षण भी है । अध्यात्म और समाज दो

---

1. रसिक सिरोमनि नदं नदंन
   रसमै रूप अनूप विराजत, गोप वधू उर सीतल चंदन (परमानंद दास, 318)
2. जो रस रसिक कीर मुनि, गायौ (वही, 315)
3. सो रस रसिक दास परमानंद, वृषभानु सुता उरभांम्र समायो (वही, 311)

धुवान्त भी दिखलाई पड़ते है और परस्पर जुड़े हुए भी क्योंकि भक्त कवि ज्ञानवादी की भाँति जगत के मिथ्यात्व की कल्पना करके निवृत्ति मार्गी नहीं बन जाता । भक्त कवि प्रवृत्ति मार्गी है, घर में है, गृहस्थ में है और समाज में है॰ । इसीलिए सामाजिक चेतना कुछ क्षणों में उसे अवश्य उद्वेलित कर देती है । कभी समाज की रक्षा के लिए वह दिव्य शक्तियों का आह्वान करता है और कभी वह सामाजिक द्वन्द्व में अपनी पक्ष धरता सिद्ध करता है ।

5·1 जाति पाँति :

जब भक्त कवि की युग चेतना या सामाजिक चेतना पर दृष्टि जाती है तो जाति व्यवस्था की अमानवीय भूमिका कल्पना में आ जाती है । इस प्रश्न को लेकर भक्त कवियों की दृष्टि कुछ भिन्न तो हो जाती है किन्तु भक्त समाज को जाति निरपेक्ष रखने के संदर्भ में सगुणवादी निर्गुणिया कवि समान दिखलाई पड़ते है॰ । जहाँ तक सामाजिक वर्ण व्यवस्था का प्रश्न है तुलसी एक सीमा तक इसके समर्थक तो लगते है किन्तु कलियुग वर्णन में इसकी विकृतियों की चर्चा उन्होंने विस्तार से की है । सूर सामाजिक वर्ण व्यवस्था के संबंधों का किसी लोक नायक की भाँति वर्णन नहीं करते किन्तु भगवान के स्वभाव वर्णन में प्रेमासक्त होते है॰ । वे प्रेम का ही संबंध मानते है॰ । जातिगत भेद उनकी दृष्टि में निरर्थक है॰ ।

रामानन्द जी की समन्वय साधना दर्शन, साधना और सामाजिक स्तर पर चलती रही । उनके शिष्यों में सभी वर्गों के प्रतिनिधि थे । रामानन्द जी ने चतुर्वर्ण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था । समाज के स्तर पर मानवीय एकता और समानता का घोष ही दर्शन और साधना के सिद्धांतों को एक जनवादी रूप प्रदान करता है ।

कुछ विद्वानों का विचार है कि जाँति पाँति की एकता की प्रेरणा इस्लाम के संगठन से प्राप्त हुई । डा॰भटनागर ने लिखा है - " नया धर्म ( इस्लाम ) किसी भी प्रकार का जाति पाँति भेद स्वीकार नहीं करता था । अल्लाह के सामने सब समान थे

और इस प्रकार इस्लाम जाति भेद का अतिक्रमण कर जाता था । नये भक्तिवाद में इस समानता की भूमि को अक्षरशः मान लिया गया और रामानन्द का उद्घोष - " जाति - पाँति पूछै नहि कोई । हरि को भजै सो हरि का होई । " समस्त उत्तर भारत में गूँज गया । " [1] वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि मध्ययुग से पूर्व भारत में भी कुछ धर्म संगठन ऐसे थे, जिनमें जाति भेद स्वीकृत नहीं था । साथ ही ऐसे सुधारक भी मुस्लिम पूर्व भारत में उत्पन्न होते रहे, जिन्होंने जाति वाद और वर्ण भेद का विरोध किया । इस्लाम की प्रेरणा से केवल इतना हुआ कि उस परंपरा को नवीन बल मिला और ब्राह्मणवाद की उपेक्षा करता हुआ जाति विरोधी स्वर दिगंत व्यापी हो गया ।

दक्षिण में भी जाति-पाँति संबंधी एक सुधारवादी लहर फैली थी । रामानुजाचार्य ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता को सुरक्षित रखते हुए, भक्ति को सर्वसुलभ बनाने की चेष्टा की थी । स्वामी रामानन्द ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता को समाप्त करके भक्ति का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त कर दिया । यह स्पष्ट नही है कि रामानन्द जी ने जातिवाद को आध्यात्मिक स्तर पर अस्वीकृत किया, या सामाजिक दृष्टि से उसका खण्डन किया डा॰हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रथम दृष्टिकोण के समर्थक है " रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम धर्म का बंधन व्यर्थ है इसीलिए भगवद् भक्ति को खानपान के झंझट में नही पड़ना चाहिए । यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते है, तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नही दिया जा सकता ? सभी भाई-भाई है, सभी एक जाति के है, श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं । [2] इस प्रकार केवल भक्ति के स्तर पर जातीय एकता की बात मानी गई । दक्षिण में लोकाचार्य जी और शठकोप स्वामी भी इसी सिद्धांत को मानने वाले थे । तुलसी में इसी सिद्धांत की स्वीकृति मिलती है --

---

1. मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास, पृ॰ 80॰
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ॰ 47॰

शबरी - . " अधम जाति मैं जड़ अति भारी ।
राम - " मानहु एक भगति कर जाता ।

रामानन्द जी का जाति-विरोध सामाजिक क्रान्ति के रूप में परिणत नहीं हुआ । उनकी परंपरा में आने वाले कबीर आदि निम्न कुलोद्भव संतों की वाणी ही इस संबंध में अधिक क्रान्तिकारी हुई । उनका तर्क केवल भक्ति के मूल्य की स्वीकृति से ही संबंधित नहीं था । ब्राह्मण के सामाजिक रूप का भी वे खंडन करते थे । रामानन्द के जातिवाद-विरोध ने उनकी क्रान्ति को एक नवीन शक्ति दी । सिद्धों जो जाति-पाँति विरोध किया था, उन्होंने भी साधना की उच्च भूमि पर पहुँचने पर ही जाति भेद की समाप्ति मानी है ।[1] शूद्र और ब्राह्मण के जन्म लेने की प्रणाली एक ही है, फिर दोनों में अन्तर क्यों ? जो ब्रह्म को जाने वही ब्राह्मण है ।[2] इस प्रकार यदि भेद होना है तो जन्म से नहीं, कर्म से होना चाहिए । कबीर ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को ही नहीं ललकारा क्षत्रियों के प्रति भी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।[3] कबीर की तर्क प्रणाली इस आध्यात्मिक तर्क प्रणाली से हट कर सामाजिक हो जाती है ।[4]इस सारी तर्क प्रणाली में है एक सामाजिक क्रान्ति । इस वर्णविरोध सामाजिक क्रान्ति की स्पष्ट ध्वनि रामानन्द के साहित्य में नहीं मिलती । तुलसी में भी भक्ति-क्षेत्रीय जाति भेद की मान्यता है । संभवत: दोनो ही सामाजिक स्तर पर वर्ण व्यवस्था के प्रति आवाज नही उठा सके । " हरि को भजे सो हरि का होई " ही उनके कथन का सार है ।

---

1· गत शूद्रस्य शूद्रत्वम् गता विप्रस्य विप्रता ।
दीक्षा संस्कार सम्पन्ने, जाति भेदो न विद्यते ।
( पुरश्चार्यार्णव ) महाराज प्रताप सिंह ( बनास, 1901,. पृ· 410 )

2· गुरु ग्रंथ साहिब, राग टोडी, 447, पृ· 324·

3· खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकू होय सबाया करमो ।
जीवहि मारि जीव प्रति पारै, देखत जनम आपनो हारै ।

4· साधो एक रूप सब माही ।
अपने मनहि बिचार कै देखो, और दूसरा नाहीं ।
एकै त्वचा रुधिर पुनि ऐकै, विप्र सूद्र के माही ।

इतना अवश्य है कि भक्ति क्षेत्रीय वर्ण साम्य की स्वीकृति ने सामाजिक स्तरीय साम्य की पुकार को बल दिया । रामानंद जी ने संतो की इस क्रान्ति का न विरोध ही किया और न स्पष्ट समर्थन ही । तुलसी की भाँति रामानंद ने समाज में वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना का भी प्रयत्न नहीं किया । तुलसी ने वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा को आवश्यक माना । संभवत: तुलसी को इस दायित्व का बोध स्मृतियों, उनके भाष्यों एवं स्मार्त विचार धारा से हुआ होगा । तुलसी शुद्ध रामानन्दी परंपरा से संबद्ध रहते, तो इतना आग्रह उनको वर्ण व्यवस्था के प्रति नहीं होता । स्मृतियों के प्रभाव ने तुलसी के ब्राह्मण संस्कारी मन को प्रभावित एवं उत्तेजित किया ।

कोई भी आंदोलन तभी सार्थक एवं चरितार्थ माना जा सकता है, जबकि उसका संबंध समाज के निम्न स्तरों से हो । इसी अवस्था में वह प्रगति व्यंजक भी हो सकता है । उच्च वर्गों में उत्पन्न और विकसित हलचल प्राय: प्रतिक्रिया संज्ञक हो जाती है । सिद्ध और नाथ की वाणी ने भी निम्न स्तरीय जन का स्पर्श किया था । पर भक्ति आंदोलन ने सामान्य जन को बहुत गहराई तक प्रभावित किया । शूद्र वर्ग के सन्त नेताओं ने जातिवाद या वर्णवाद के विरोध में आवाज उठाई । कबीर, रैदास, सेनानाई आदि की श्रृंखला बनी । इनके विचार केन्द्र में मनुष्य है, मनुष्य का जातिगत आभिजात्य नहीं । क्रान्ति का स्वर इस क्षेत्र में तीखा हो उठता है ।

इस क्रान्ति के उद्घोष में उस शास्त्रीय चिंतन परंपरा और पुराण मत का विरोध था, जो उच्च वर्गों की स्थिति को किसी रूप में स्वीकार करता था । सगुण मतवाद इस क्रान्ति की प्रतिक्रिया जैसा ही लगता है । कृष्ण-भक्ति शाखा में भ्रमर गीत की परंपरा निर्गुणवाद का खण्डन करती रही । इस शाखा के कवि भी उच्चकुलोद्भव ही थे । फिर भी वर्णाश्रम धर्म के स्पष्ट और मुखर पक्षपर ये नहीं थे ।[1] तुलसी में वर्णाश्रम धर्म की पुन-र्विजय की अनुगूंज स्पष्ट है । तुलसी ने पुराणमतवादी स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठ कर दी ।

---

1. गजानन माधव " मुक्ति बोध " नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. 15.

इसीलिए निर्गुणवादियों का जाति विरोध आंदोलन सफल नहीं हो सका । "संतो की निर्गुणवाणी का तत्कालीन मानो के अनुसार क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर अपनी सामाजिक स्थीत के निरूद्ध क्षोभ और अपने लिए मानवोचित परीस्थीत की आवश्यकता बतलाता था । इस आंदोलन में धार्मिक वर्गवाद और सामन्तवाद के विरोध में पर्याप्त तत्व थे । सन्तों के तर्क भी सामान्य नहीं थे ।

कबीर ने ब्राह्मण और शूद्र में भेद नहीं माना ।[2] फिर सामाजिक स्तर पर उत्पन्न, वर्गीय स्वार्थो से पुष्ट अन्तर अमानवीय और सर्वथा अग्राह्य है । संभवत: जन्म की अपेक्षा कर्म को वे भेद का आधार स्वीकार कर सकते हैं । ब्राह्मण वह जो ब्रह्म को जाने ।[3] ब्राह्मण वह नहीं जो ब्राह्मण वंश से उत्पन्न हुआ हो । रैदास ने सगर्व अपनी जाति का परिचय देते हुए लिखा है कि अब ब्राह्मण भी मुझे दण्डवत करते हैं ।[4] ब्राह्मण ही नहीं संत की क्रान्ति क्षत्रिय के प्रति भी थी ।[5]

संत की यह क्रान्ति एक सुनिश्चित और दीर्घ परंपरावाली व्यवस्था के प्रति थी । यह भी नहीं कहा जा सकता कि संत में संघर्ष का प्रभाव था । काशी जैसे केन्द्र पर रह कर ये सन्त एक परंपरा को अस्वीकृत करते रहे । यद्यपि यह परंपरा निर्जीव हो गई थी फिर भी इसको दीर्घ कालावधि और धर्म-शास्त्रों का सबल समर्थन प्राप्त था । इस परंपरा को ललकारना संत के क्रान्तिकारी साहस का ही परिचायक है ।

---

1. गजानन माधव "मुक्ति बोध", नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. 95.
2. साधो एक रूप सब माही । अपने मनहि विचारिके देखो और दूसरा नाही ।
   एकै त्वचा रूधिर पुनि एकै, विप्र शूद्र का माहीं ।
3. गुरू ग्रंथ साहब, रागु गौडी, 447, पृ. 324.
4. मेरी जाति कुटवाँ ढला - ढोल ढोवंता । निताहि बानारसी आसपासा ।
   अब विप्र परधान कराहि डण्ड उति । तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा ।
5. खत्री करै खत्रिया धरमो, तिरकूँ होय सवाया करमो ।
   जीवहि मारि जीवन प्रीत पारै, देखते जनम आपनौ हारै ।

5•2 जाति – पाँति बनाम मनुष्य :

भक्ति आंदोलन मनुष्य और उसके गुणों की सत्ता को सर्वोपरि मानता है । मनुष्य की महत्ता जाति या जन्म के आधार पर नहीं मानी जाती । सभी जातिगत भेदभाव तथा जाति एवं धर्म के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का इस आंदोलन ने विरोध किया । संत की वाणी यह घोषित करती है कि सभी पुरुष और स्त्री ईश्वर के सजीव प्रतिबिम्ब हैं । मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सत्य है, सत्य में ही शक्ति है प्रेम और दया उस शक्ति के व्यावहारिक रूप हैं ।

जहाँ प्रेम का मूल्य आध्यात्मिक और सामाजिक धरातल पर स्वीकृत हो वहाँ जातिगत भेदभाव के लिए स्थान नहीं रहता । दामोदरन ने कबीर के विचारों की संक्षिप्त इस प्रकार दी है, ऐसा क्यों है कि कोई शूद्र कुल में जन्म ले और जीवन भर शूद्र बना रहे ? कोई स्वयं एक जनेऊ बनाता है और उसे धारण करता है । इससे संसार में गड़बड़ी ही फैली है, अगर तुम ब्राह्मण हो, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हो तो तुम एक सफेद और काली गाय का दूध दुहो और इन दूधों को मिला दो तो क्या तुम इन्हें अलग कर सकोगे । वे लोग जो ऊँच नीच की बात करते हैं वे नष्ट हो गए हैं । मिट्टी एक ही है और कुम्हार भी एक ही है एक ही सृष्टा है सब भिन्न-भिन्न रूप एक ही चाक पर गढ़े गए हैं ।[1] यही बात नामदेव ने भी कही है : " नाना वर्ण गवाँ उनका एक वर्णदूध तुम कहा के ब्राह्मण हम कहा के सूद । " यह तर्क तात्त्विक और आध्यात्मिक है जिनकी सामाजिक परिणति संत की वाणी में दिखलाई पड़ती है । इस प्रकार संत कवि को वे सारी चीज़े अस्वीकृत हैं जो मनुष्य मनुष्य के बीच दीवारे खड़ी करती हैं

चैतन्य महाप्रभु ( 1485-1533 ) ने बंगाल में सभी को संकीर्तनमय भक्ति साधना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया । उन्होंने जाति पर आधारित धार्मिक प्रणालियों के प्रति असंतोष प्रकट किया । रामानन्द की भाँति इन्होंने समाज तथा मुसलमानों की निम्न तक श्रेणियों मे से आए हुए लोगों को शिष्य बनाया ।

---

1• भारतीय चिंतन परंपरा• पृ• 331•

5·3 जाति बनाम सद्गुण :

संत की विद्रोह भावना जाति का तिरस्कार करके मनुष्य को उसके गुणों के आधार पर ऊँचा या नीचा ठहराती है । संत की कसौटी में उसका ज्ञान है - " जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान " तथा नानक ने भी कहा " जाणव जोति न पूछौ जाति अगै जाति नहैं ।"[1] गुरू नानक के अनुसार ब्राह्मण वह नहीं जो ब्राह्मण वंश मे पैदा हो जाता है । किन्तु वह है जो ब्रह्म चिंतन में लीन है ।[2]

5·4 मानव केन्द्रित धर्म :

अलौकिक सत्य के स्थान पर मानवीय सत्य की प्रतिष्ठा हुई । मानवीय सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही जैसे समस्त क्रान्ति थी । चण्डी दास की वाणी का स्वच्छ घोष —

" सुनह मानुष भाई
शबर उपरे मानुष - सत्य
ताहार उपर नाई । "

लोक में संभवत: मानव सत्य से ऊपर कुछ भी नहीं है । मूल्यगत संक्रमण की इस दिशा में परिवर्तन हुआ ।

मानव - सत्य " और मानव मूल्य भिन्न नहीं है । भक्ति के क्षेत्र में सर्वत्र मानवीय समता को स्वीकृत किया गया । जातिगत विभेद समाज में चलते रहे । कुछ आचार्यों एवं भक्त कवियों ने उसका किसी न किसी प्रकार समर्थन भी किया । भक्ति ही नही न जाने कितने सूत्र इस आंदोलन में एकत्र हो गए ।

---

1· आदि ग्रंथ, रागु आसा ।·3·
2· आदि ग्रंथ, राग धनासरी ।·7·

उन्नीसवीं शती के नवजागरण से संबंधित समाज चेतना नेताओं ने धर्म से अपना संबंध विच्छेद नहीं कर लिया था । नई परिस्थितियों में धर्म सामंतीकाल का धर्म नहीं था । शंकर सायण मेधा तिथि की परंपरा काल धर्म अब नया रूपाकार ले रहा था । धार्मिक परंपराओं का यथोचित सम्मान भी हुआ, परिष्कार भी हुआ और चयन की बौद्धिक प्रक्रिया भी चली । संस्थागत रूढ़ और निर्जीव धार्मिक तत्व अस्वीकृत किए गए । धर्म के साथ जो सड़े गले तत्व चले आ रहे थे, उनको अस्वीकृत करते समय समाज सुधारक सोचता था कि वह पुराने धर्म को ही पुनरूज्जीवित कर रहा है । इस सबके लिए जमीन तैयार की जा रही थी ।

भक्ति साहित्य में परहित और धर्म का संत वाचक शब्द बन गया । विशेष रूप से तुलसी साहित्य में । अध्यात्म रामायण में सन्तों के लक्षणों की सूची कई बार दी गई है । तुलसी ने भी इस परिपाटी का पालन किया है । किन्तु अध्यात्म रामायण में कहीं भी संत के लक्षणों में पराहित की गिनती नहीं की है । तुलसी ने परहित पर अनेक स्थानों पर बल दिया है । उनके अनुसार जिनके मन में परहित का संकल्प निवास करता है, उनके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।[1] उत्तर काण्ड में राम अपने भाइयों को संतों के लक्षण बतलाते हुए परहित को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं ।[2] इसी प्रकार राम नारद को सन्तों के लक्षण बतलाते हुए, परहित का महत्वांकन करते है ।[3] बृहस्पति इन्द्र से भरत के स्वभाव का कथन करते हुए उनको परहित शील बतलाते हैं ।[4] सगुण उपासकों को सबसे बड़ा गुण पराहित ही कहा गया है ।[5] तुलसी आदर्श जीवन की कल्पना में इस तत्व को महत्व पूर्ण स्थान दे देते है ।[6]

---

1. परहित बसु जिन्ह के मन माही ।
   तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाही । ( मानस, अरण्य, दोहा, 31 )
2. परहितु सरिस धर्म नहि भाई ।
   पर पीड़ा सम नहि अधमाई । मानस, उत्तर काण्ड, दो 41.
3. हेतु रहित परहित रत सीला । मानस, अरण्य, दोहा, 43.
4. राम भगत, परहित निरत, पर दुख दुखी दयाल ( मानस . अयो. )
5. सगुण उपासक, परहित निरत, ( सुन्दर काण्ड, दोह 1.48 )
6. परहित निरत निरन्तर, मन क्रम बचन नेम निज हौंगो । ( विनयपत्रिका 6-8 )

## 5.5 राजा और प्रजा :

मुगल शासन सैनिक प्रकृति का था । केन्द्रीय शासन् प्रणाली में जनता या प्रजा का संबंध राजा के साथ सीधा और निकट का नहीं रह पाता । इस शासन के प्रमुख पुर्जे पराभूत हिन्दू राजा थे । प्रजा के प्रति अपने किसी प्रकार के नैतिक दायित्व का अनुभव ही नहीं करते थे । शासन, कुल मिला कर, प्रजा के सामाजिक उन्नयन के प्रति उदासीन था । मनसबदारी अरब और फारस के राज्यादर्शों में ढली एक सैनिक व्यवस्था ही थी । राजसत्ता व्यापारी भी थी । यातायात के उन्नत साधनों का अभाव शासकों को मनमानी करने का अवसर प्रदान करता था । इस प्रकार भक्त कवि का समकालीन समाज शासन की निरकुंशता और न्याय एवं उन्नयन संबंधी उदासीनता से ग्रस्त था ।

शासक विलासी भी था । सैनिक शासन की रक्षा संबंधी आवश्यकता भी व्यय साध्य होती है और शासक की विलासी वृत्ति भी अर्थव्यवस्था पर एक भार बन जाती है । हाँ, यह विलासिता एक सीमा तक कला-विलास में सुरुचिपूर्ण परिणिति अवश्य ले रही थी । मुगल कालीन चित्रकला, संगीत, स्थापत्य - सभी का स्तर उत्कृष्ट था ।

प्रजा की दशा अवनत थी । केवल दरबारी संस्कृति और कला विलास उन्नति शील थे । प्रजा का इस सबसे दूर का संबंध भी नहीं था । राजा को तुलसी ने "चोर" तक कहा डाला है --

वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये ।[1]

सारी प्रजा उपेक्षित, दुर्भिक्ष ग्रस्त और क्षुधार्त थी ।[2] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शासकीय और सामंतीय शोषन ने प्रजा की आर्थिक दशा को शोचनीय बना दिया था । सभी वर्ग एक दुरवस्था को भोग रहे थे ।[3] यह राज समाज के कर्तव्य विहीन होने का परिणाम था । तुलसी राज समाज की ओर से अत्यन्त निराश हैं --

---

1. कविता वली, उ. छन्द, 177.
2. कलि बारहि बार दुकाल परै,
   बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै । ‖ मानस, क. 100. 10 ‖
3. खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
   बनिक को बनिज न चाकर को न चाकरी ।
   जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
   कहै एक एकन सों, कहाँ जाई, का करी ।" कविता. उ. 97.

## 5.6 आर्थिक स्थिति : गरीबी :

मुगल काल में गांवों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई थी । मुगल शासन ने करों में बहुत वृद्धि की [1] दक्षिण में करों का बोझ और भी अधिक था । [2] किसानों की मूलभूत आवश्यक्ताओं से अधिक उनके पास कुछ भी नहीं छोड़ा जाता था । करों की वसूली बहुत कड़ाई से की जाती थी । जो किसान भाग जाते थे उनका कर पड़ोसियों से वसूल किया जाता था । [3]

वस्तुओं के मूल्य कम करने के लिए जो नियम बनाए गये उससे भी ग्राम समाज को बहुत आर्थिक हानि हुई । इनसारी नीतियों के कारण किसानों में अधिक अनाज पैदा करने का उत्साह ही समाप्त हो गया । [4] इसलिए भी गरीबी बढ़ती जा रही थी ।

गांव के किसानों को मुस्लिम शासकों के निर्देश पर सैनिक लूटते भी थे । इसका कारण यह भी था कि सेना में खाद्यान्न की पूर्ति और वितरण की कोई व्यवस्था नहीं थी । सैनिकों को अपने लिए खाने और घोड़ों के लिए चारे की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ती थी । जब जागीरदारों पर अधिक कर लगाया जाता था तो वे इसे किसानों से ही वसूल करते थे । तात्पर्य यह है कि किसानों पर करों का भार इतना था कि उन्हें गरीबी में ही जीना पड़ता था । बाबर ने किसानों की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसानों के पास पहनने को लंगोटी और खाने को खिचड़ी मात्र थी । [5]

गांवों को निर्धन बनाने की नीति अलाउद्दीन खिलजी ने आरंभ की थी और पीछे के शासकों ने इस को चालू रखा । [6]

---

1. डा॰इरफान हबीब, दि अग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल साम्राज्य - पृ॰ 24॰
2. आर॰ सीवेल ए फारगोटेन एम्पायर, 379 फुटनोट 2॰
3. डा॰ इरफान हबीब, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 249 - 50॰
4. के॰एस॰लाल हिस्ट्री ऑफ खिल्जीज, पृ॰ 290 - 01॰
5. बाबर नामा, जिल्द दो पृ॰ 519॰
6. के॰एस॰ लाल, स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री पृ॰ 199॰

गाँव की जनता का कुछ भाग मात्र ही उद्योग धंधों में लगा रहता था । ये लोग अधिकतर खेतों की उपज पर आधारित थे । ये उद्योग परंपरागत थे । उनकी उत्पादन प्रणाली बहुत ही पुरानी थी । इस लिए उनका उत्पादन भी बहुत ही कम होता था ।[1] इस उत्पादन को कोई प्रोत्साहन भी नहीं मिलता था ।[2] इन कारीगरों पर बहुत से सामाजिक प्रतिबंध लगे रहते थे और सरकारी कर्मचारी इन पर अत्याचार भी करते थें । इस कारण ग्रामीण शिल्पकार का आर्थिक विकास असंभव हो जाता था ।[3] धीरे-धीरे ये शिल्पकार जाति प्रथा में विश्वास करने वाले और रूढ़िवादी हो गए ।[4] ग्रामीण शिल्पकार मुख्य रूप से लुहार, जुलाहे, सुनार धनुष बनाने वाले और संगीत यंत्र बनाने वाले होते थे ।[5] सूरदास जी ने बढ़ई, जड़िया, विश्वकर्मा सूतहार, सुनार, आदि का उल्लेख किया है ।[6] ढाढी[7] जगा[8] आदि का उल्लेख भी है । ये जातियाँ अन्य जातियों पर निर्भर रहती थी । मुगल काल में किसान की भाँति जाति वर्ग भी ऋण ग्रस्त रहते थें । किसान रहते थे । किसान और कारीगरों के घरों में दु:ख और विपत्तियों के अतिरिक्त कुछ नहीं था ।[9]

यूरोपीय विद्वानों ने मुगल कालीन ग्रामीण जनता की निर्धनता का वर्णन किया है । आगरे में लोग इतने निर्धन थे कि अधिकतर लोगों को नंगा रहना पड़ता था ।[10] बंगाल में भी स्त्री और पुरूष लुंगी के अलावा कुछ नहीं पहनते थे । उड़ीसा की स्त्रियों की भी यही दशा थी ।[11]

---

1. डा॰अशरफ, बर्नियर, ट्रैवेल्स इन दि मोगल एम्पायर पृ॰ 288॰
2. डा॰अशरफ - वही - 31 - 36॰
3. डा॰अशरफ, पूर्वोद्धृत पृ॰ 91 - 96॰
4. जे एन दास॰ गुप्ता, बंगाल इन दि सिक्स्टीन्थ सैंचरी पृ॰ 158॰
5. एम॰ए॰मैकालिफ : दि सिख रिलीजन : जिल्द 1॰ पृ॰ 284
6. अहममद शाह, दि बीजक आफ कबीर : 125 - 99॰
7. सूर सागर : 659 6॰- वही - 653॰ 8॰ - वही - पृ॰ 657॰
9. फ्रैंसिस्को पेट सर्ट, जहाँगीर्स इण्डिया, अंग्रेजी अनुवाद मोर लैंड और जील, पृ॰ 60॰
10. लैटर्स रिसीव्ड वै दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी फ्राम इट्स सर्वेन्ट्स इन दी ईस्ट, जिल्द 6, सम्पादित पोस्ट लंदन पृ॰ 187॰
11. आइने अकबरी ; जिल्द

इस निर्धनता का एक और भी कारण था । गाँव के लोग सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के लिए बहुत व्यय करते थे । त्योहार, धार्मिक कृत्य, तीर्थ यात्रा, विवाह, अत्येष्टि आदि संस्कारों में बहुत व्यय किया जाता था । इसीलिए वे सदा ऋण ग्रस्त रहते थे ।[1]

गाँवों की उपज नगरों में भेजी जाती थी इससे नगर के लोग तो लाभान्वित होते थे, गाँव के लोगों को कोई लाभ नहीं मिलता था ।[2] इससे ग्रामीणों का उत्पादन में उत्साह बहुत शिथिल हो जाता था ।

किसानों के अतिरिक्त गाँव में भूमिहीन श्रमिक होते थे । ये श्रमिक दलित वर्ग के होते थे ।[3] इन भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति भी अच्छी नहीं थी । गाँवों में जमींदार का शोषण भी चलता था । जमींदार रैय्यती से अतिरिक्त कर भी वसूल करता था । किसान और श्रमिक को बेगार देनी पड़ती थी ।

तात्पर्य यह है कि मुगल कालीन स्वर्ण युग में गरीबी के कटु-अनुभव में किसान और मजदूर जी रहा था । बड़े-बड़े युद्ध, सामंतीय विद्रोह, कला विलास, शृंगार-विलास सभी कुछ इस गरीबी के लिए उत्तरदायी थे ।

मध्यकाल की इस गरीबी का प्रतिमान सुदामा है । नरोत्तमदास ने एक गरीब ब्राह्मण का जो चित्र खींचा है उससे प्रतीत होता है कि सामान्य जनता को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं होती थी ।[4] सूर ने भी विनय के पदों

---

1. अनुवाद मोरलैण्ड जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, जिल्द 16. पृ. 66.
2. डा. इरफान, हबीब : पूर्वोद्दृत, पृ. 118 - 19.
3. देखिए एस. जे. पटेल : एग्रीकल्चरल लेबरर्स, पृ. 63 - 65.
4. कोदो सवा जुरतौ, भरिपेट, न चाहति दौ दधि दूध मिठौती ।
   सीत बितीतव, सौ सिसियात, तौ हौ हटती, मैं तुमे न हटौती ।
   x x x x x x
   या घरते कबहूँ न गयौ पिय टूट्यो तवा और फूटी कठौती ।

मैं सुदामा की दरिद्रता का कई स्थानों पर उल्लेख किया है । [1] सुदामा चरित के कुछ पद भी उन्होंने लिखे हैं । [2] वह सुदामा भिक्षाटन से अपना पेट भरता था - " भिच्छा वृत्ति उदर नित भरै " [3] वह दरिद्रय से बहुत विकल था - " विह्वल विकल भयौ दारिद बस " [4] उसके पास एक पुराना घर था । [5] जो मिट्टी का बना हुआ था । उस पर छप्पर छाा हुआ था ।

इस प्रसंग में, सूर ने सुदामा की दीनता का अधिक चित्रण नहीं किया । कृष्ण के द्वारा अपार धन दान पर अधिक बल दिया गया है । उसको कृष्ण ने अपार संपत्ति का दान दिया । [5] इस प्रकार सुदामा की पत्नी की इच्छा को पूर्ण किया । [6] याचक सुदामा को अयाची बना दिया । [7] ब्राह्मण के दारिद्र्य को नष्ट करने का श्रेय कृष्ण ने लिया । [8] उसको इन्द्र के समान संपत्ति ही नहीं दी, उसको अपने समान ही बना दिया । [9] त्रैलोक्य का वैभव देने में कृष्ण ने आगे-पीछा नहीं सोचा । [10] तंदुल के बदले में सुदामा को " चार पदार्थ " ( धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष ) प्रदान कर दिये । [11] कृष्ण ने सुदामा को " अभय पद " दिया । [12] दान तो दिया ही, कृष्ण सुदामा के चरणों में गिर गए --

---

1. सूर सागर 19.
2. " 4842 - 4863.
3. " 4842.
4. " 4847.
5. " 4854.
6. रोइ के जोर तै सोर धरनी कियौ, चल्यो द्विज द्वारिका द्वार गाढौ ।
   जोरि अंजलि मिले, छोरि तंदुल लए, इन्द्र के विभव तै अधिक बाढौ । ( सू.सा-5 )
7. - वही - 7.
8. - वही - से 18. विप्र सुदामा कियौ अयाची ।
9. दारिद्र नसायौ । वही 20, वही 26.
10. आप समान करै । वही 35, कियौ इन्द्र सम, वही 95.
11. तीनि लोक विभव दियौ तंदुल के खाला । वही 123.
12. - वही - 133.

दूर देखि सुदामा आवत, धाइ परस्यौ चरन, [1] सूर ने विदुर की गरीबी की ओर भी संकेत किया है - " टूटी छानि मेघजल बरसे टूतो पंलग बिच्छैयुयै ( सू·सा·239 )

सूरदास ने कृष्ण के दीनानाथ रूप को बहुत बलिष्ट बनाया है --

1· स्याम गरीबीन हूँ के गाहक
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति निबाहक सू सा· 17· [2]

2· जब जब दीनानि कठिन परी
जानत हौ, करूणामय जन को तब तब सुगमकरी । [3]

3· हमारे निर्धन के धन राम । [4]

4· जब जब दीन दुखी भयौ, तब तब कृपा करी रघुबीर [5]

5· कोटि कुबरे निर्धन को । [6]

6· सूरदास द्विज दीन सुदामा तिहिं दरिद्र नसायौ । [7]

भगवान के लिए दीन बन्धु, दीनानाथ, गरीब निवाज, आदि नामों का प्रयोग करके इस बिम्ब को और भी मुखर किया गया है ।

भारतीय संस्कृति में गरीब का महत्व पूर्ण स्थान रहा है । उसको एक विशेष गौरव दिया जाता था । यहाँ तक कि महल को छोड़कर भगवान कुटी को अपनाते रहे । भगवान उनके साथ नहीं है जो दूसरों के धन को बटोरना चाहते है । [8] भगवान के दरिद्र

---

1· तीनि लोक विभव दियौ तदुंल के खाला । 202·

2· सू· सागर 17·
3· - वही - 16·
4· - वही - 9·
5· - वही - 17·
6· - वही - 9·
7· - वही - 20·
8· महात्मा गाँधी टुवर्ड्स नान वैलेंट सोसीलिज्म : पृ· 148 - 49·

नारायण रूप में गरीब का उदात्तीकरण ही हुआ है । यही निर्धन को न सताने के लिए भी आदेश मिल जाता है । सूरदास के अनुसार सत्य पुरूष वही कहलाता है जो दीन गरीब को अभिमान त्याग कर अपनाए ।[1]

विदुर के संदर्भ में कृष्ण ने यह घोषित किया है -- " सोइ निरधन, सोइ कृपन दीन है, जिन मम चरन बिसारे ।[2] कृष्ण राज प्रासादों की अपेक्षा दीन की झोपडी को अधिक चाहते हैं ।[3] तुलसी ने एक चित्र उपस्थित किया है --

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भलि,
बनिक को बनिक न, चाकर को चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सों कहाँ जाइ, का करी ।[4]

तुलसी ने दरिद्रता की अनुभूतियों को बहुत ही करूण और प्रखर अभिव्यक्ति दी है । कहीं बहुत भीतर से एक आवाज आती है - " नहिं दरिद्र सम दुःख जग माही । वास्तव में जन साधारण गरीबी के हाहाकार के नीचे दबा हुआ था, अनेक दबाव उसकी कमाई को निचोड़े ले रहे थे । जमींदार अमीर और मनसबदार सामान्य श्रमिकों से बेगार वसूल करते थे । करों का दुर्वहभार गरीब जनता को ढोना पड़ता था । अन्याय पूर्ण राजनीतिक अर्थ व्यवस्था के कारण जनता की अतिपुकार क्षितिजों से टकराने लगी थी । सत्ता में केन्द्रीय स्थिति बादशाह की थी और छोटे-छोटे सामंत और कर्मचारी उसके आस-पास स्थित थे । ये सब मिल कर एकतन्त्रीय निरंकुशता और सामंतवादी व्यवस्था के पोषक थे और जनता के शोषक वर्गों के बीच एक व्यापक सामाजिक दूरी थी । भूमि में कुछ उत्पाद

---

1. सत्य पुरूष सो दीन गहत है अभिमानी कौं त्यागै , सू०सागर 244.
2. सूर सागर. 242.
3. ऊँचे मंदिर कौन काम के, कनक कलस जो चढाइग ।
भक्त भवन मै हौं जु बसन हौं , जद्यपि तृन करि धाइग । ‖ सू०सा० 243. ‖
4. कवितावली, उत्तर छंद 97.

हो चाहे न हो किसानों से लगान वसूल किया जाता था ।[1] किसानों के साथ अमानवीय व्यवहार के प्रमाण मिलते हैं ।[2] यह सब दरिद्र को और अधिक दरिद्र बनाने के लिए पर्याप्त था । शोषण का तन्त्र बहुमुखी था । भूमि के विकास का कोई आयोजन राज की ओर से नहीं होता था । किसान भूखें और ऋणग्रस्त थे । सम्राट की विलासिता के लिए भी दरिद्र जनता का रक्त कर वसूल किया जाता था ।[3] तुलसी ने जनता की गरीबी के जो प्रखर अनुभूति बिम्ब दिए हैं उनकी भूमिका में यही आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था है । कृषि भाग्यहीन थी । कृषि अतिवृष्टि अनावृष्टि, पाला के कारण अनुत्पादक होती रहती थी ।[4] तुलसी ने कूड़े के ढेर से अनाज बीनते हुए ढेर को देखा था ।[5] वे अपने युग को " दारिद्रय काल " का नाम देते हैं ।[6] उस समाज को भी उन्होंने देखा है जिसे कृस गात ललात जो रोटिन को "[7] राजकर को तुलसी प्राणान्तक कहते हैं और राजाओं को मरे हुए लोगों को मारने वाला बताते हैं ।[8] ऋण भार भी बढ़ता ही जाता था । प्राय: पाँच वर्ष में ऋण दूना हो जाता था । तात्पर्य यह है कि जनता की गरीबी का गहरा एहसास भक्त कवि को था । अन्य कवियों ने भी प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप में इस प्रकार के बिम्बों की योजना की । चाहे इसका वह रूप न हो जो आधुनिक समाज वादी युग में रुपान्तरित हो रहा है ।

6· क्रान्ति चेतना :

संत साहित्य भक्ति आंदोलन की एक साहित्यिक परिणति है । भक्ति संदर्भ रूढ़ जीवनमूल्यों के प्रति क्रान्ति, श्रेण्य-शास्त्रीय एवं वर्गवादी दर्शन के प्रति असन्तोष एवं अहंमृत तथा बिखरी हुई शक्तियों के पुनरूत्थान का संदर्भ है । मध्य युगीन चिंता-जाड्य,

---

1· डा·बेनी प्रसाद हिस्ट्री आफ जहांगीर · पृ· 812-13·

2· हुसैन कुरैशी : द एडमिनिस्ट्रेशन आफ मुगल एम्पायर पृ· 166·

3· जहांगीर्स इण्डिया : अनुवाद डब्लू·एच· मोरलेण्ड पृ· 54·

4· दोहावल - 316·

5· - वही - 13·

6· - वही - 160·

7· कवितावली उत्तरकाण्ड 46·

8· दोहावली - 349·

आप्त वाक्य, प्रामाण्य पतनोन्मुख दृष्टि और लक्ष्यहीनता के ऊपर यह आंदोलन एक सबल प्रहार था ।

धार्मिक दृष्टि से वैदिक मूल्य ह्वासोन्मुख थे , इस आंदोलन से पूर्व ही उन्हें उग्र विरोधों का सामना करना पड़ा था ।[1] देश की दक्षिणी परिधि पर तीक्ष्ण बौद्धिक आंदोलन प्रस्थानत्रयी पर आधारित शांकर दर्शन की प्रतिक्रिया में उठ खड़ा हुआ । दक्षिण के आचार्यों ने शाकर अद्वैतवाद या छायावाद के प्रति बौद्धिक एक शास्त्रार्थ परक प्रतिक्रिया की और प्रस्थानत्रयी का भक्ति परक भाष्य प्रस्तुत किया । परिधियों पर उग्र, यौन यौगिक भाव की गुह्य साधनात्मक परिणतियों के केन्द्र भी थे ।[2] दक्षिण की परिधि की भक्ति भावना अभिचारों से रही । यह समस्त उद्वेलन एक सांस्कृतिक संक्रमण का परिचय देता है । एक प्रकार से समस्त धर्म और दर्शन वैष्णवीकरण की प्रक्रिया में थे । वैष्णवीकरण का सूत्र निर्गुण और सगुण दोनों क्षेत्रों की एक व्यापक प्रक्रिया कही जा सकती है । निर्गुण मार्गी संतों में वैष्णवता क्रान्ति के तत्वों से अधिक संग्रहीत रही और सगुण मार्गियों में समन्वय और स्वीकृति के तत्व प्रधान हो गए । " वैष्णव " सभी हैं : परिणतियाँ भिन्न हैं ।

---

1· वेदान्त दर्शन की मृदुल प्रतिक्रिया, बौद्ध, जैन आगमवादी तान्त्रिक शैव, शाक्त आदि का इस संदर्भ में नामोल्लेख किया जा सकता है । वेद को प्रमाण मानने वाले भक्ति संप्रदायों में वेद विरोध तो नहीं है, पर वैदिक मूल्यों की अपेक्षा जीवन के भावात्मक मूल्य अधिक मान्य अवश्य है ।

2· उदाहरण के लिए इन केन्द्रों को लिया जा सकता है : सिलहट ४ श्री ८६८, आसाम ४ कामरूप, कामाख्या ४ आसाम ४ विक्रम शिला, नालन्दा, पूना, श्री पर्वत ४ कर्नाटक ४ श्री शैलम् आबू ४ अर्बुद राजस्थान ४ जालंधर ४ पंजाब ४ ओडियान ४ पश्चिमोत्तर प्रदेश ४ पूर्वी परिधि पर तान्त्रिक बौद्ध धर्म, पश्चिमोत्तर में शैवशाक्त, साधनाएँ, काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा शैव मत, दक्षिण में शैव, शाक्त एवं वैष्णव साधनाएँ थीं ।

राजनीतिक उथल-पुथल भी कम नहीं थी । केन्द्रीय शक्ति के अभाव और शैथिल्य की परिस्थिति में, छोटे सामंतों का युद्धशील हो जाना स्वाभाविक था । युद्ध विलासिता और शूरता प्रदर्शन के लिए होते थे । इनके दरबारों में भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदाय आश्रय पाते थे । सिद्ध योगियों के चमत्कारों की ओर भी सामंत आकर्षित था । इस प्रकार की हलचलों से जनता प्रायः असम्पृक्त थी । आर्थिक शोषण तो युद्ध और विलासिता के साथ सम्बद्ध था, फिर भी जनता की शक्ति का क्षय नहीं हो रहा था । इसीलिए जनता और तथाकथित निम्नवर्ग कबीर जैसे नेताओं को जन्म दे सके । (बाह्य) बाह्य आक्रमणों ने अवश्य ही जनता की आस्था और उसके विश्वास को एक सीमा तक हिला दिया । म्लेच्छाक्रान्त चेतना का अनुभव आचार्य आचार्य और भक्त सभी कर रहे थे ।[1] पर इस संघर्ष से देश की मेधा हतप्रभ न होकर मार्ग खोजने में लगी थी ।

---

1. वल्लभ : म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च ।
सत्य पीडा व्यग्र लोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम । (श्री कृष्णाश्रय स्तोत्र 2)

6·1 सत्ता और कवि :

सत्ता वह है जो देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का सचांलन और निमन करे । सत्ता के साथ शासन का भाव भी जुड़ा रहता है । सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न वर्गों में संघर्ष होता आया है । अंत में जनता के हाथों में सत्ता देने के लिए क्रान्तियाँ भी होती हैं । सत्ता की सामाजिक परिणतियाँ भी होती है : दास प्रथा, सामंत प्रथा, पूंजीवादी तंत्र आदि । सत्ता का समर्थक पुरोहित वर्ग सत्ताधारी को " दिव्य " भी बना देता है कि सामान्य जनता उसके सामने सिर झुकाए रहे । उसकी अवतार के रूप में पूजा भी होती है । सत्ता अपने को सुरक्षित रखने के लिए इस प्रकार के वर्गों के साथ गठजोड करती है ।

सत्ता साहित्य के प्रभाव और उसकी शक्ति को भी भली भाँति जानती है । साहित्य क्रान्ति, समाज परिवर्तन, समाज की पुनर्रचना जैसे अभियानों में महत्व पूर्ण भूमिका अदा कर सकता है । इस के विपरीत वह यह भी जानती है कि साहित्य उसका गुणगान करके उसकी सुरक्षा का अस्त्र भी बन सकता है । यही कारण है कि सत्ता साहित्य को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए कोशिश करती रहती है । वह चाहती है कि साहित्य सत्ता के निहित स्वार्थों की पूर्ति में सहायक हो । इसी रूप में वह साहित्य का इस्तेमाल करना चाहती है ।

जिस युग में भक्ति साहित्य की धारा फूटी, उस युग में सत्ता सामंत के हाथों में केन्द्रित थी । सामंत चाहता था कि साहित्य और साहित्यकार उसके रंग महलों और दरबारों की चहार दीवारी में गिरफ्त हो जाये । साहित्य, सामंत और उसके परिकर का मनोरंजन करनेवाला एक साधन हो जाये । कवि की प्रतिभा केवल सामंत की प्रशस्ति के लिए नियोजित हो । कवि और काव्य को फंसाने के लिए सामंत प्रलोभनों का एक स्वर्ण जाल फैलाता है और कवि फंस भी जाता है ।

अकबर अनेक दृष्टियों से एक आदर्श सत्ताधारी था । फिर भी आखिर सामंती युग का ही प्रतिनिधि था । उसने भी अपने दरबार में कवियों को रखा । शायद उसकी यह इच्छा भी थी कि सूर और तुलसी जैसे कवि भी दरबारी बन जायें । अकबर पूर्व सामंतों ने भी इस प्रकार का प्रयत्न किया था । किन्तु भक्त कवियों ने दरबारी बन ने से इनकार कर दिया और वे लोक के प्रति अपनी प्रतिबद्धता रखे रहे । ये कवि सत्ता के हाथों बिक नहीं गए । संतों की इस की सामंत विरोधी स्वर की एक परंपरा है ।

स्वयंभू और राज्याश्रय :

राज्याश्रय की उपेक्षा की परंपरा स्वयंभू तक जाती है । उन्होंने स्पष्ट लिखा कि कंद-मूल और फल फूल खाकर वन्य जीवन बिताना राज्याश्रित जीवन से कहीं श्रेष्ठ है -

बक्कल जिवसनु कंदर मंदिरू, बणहल भोयण वरतं सुंदर ।
बर दालिद्द सरीरह दंडणु, णहुपरिसहु अहियान बिहंडणु ।

स्वयंभू का स्वर भी निश्चित रूप से राजविरोधी था । उनके अनुसार राज्याश्रय में रहने की अपेक्षा अभिमान सहित मर जाना श्रेष्ठ है ।[1] राजा या सामंत के प्रति उनका भर्त्सना भरा आक्रोश इस प्रकार फूट पडा गिरि कंदराओं में घांस-पात खाकर रहना श्रेयस्कर है, परन्तु दुर्जनो ( = सत्ताधारियों ) की टेढ़ी भौंहें देखना ठीक नहीं है । माता के पेट से जन्म लेते ही मरजाना है, किन्तु किसी राजा के भृकुंचित नैनों को देखना और उसके दुर्वचन सुनना अच्छा नहीं है । राजलक्ष्मी राजा के गुणों को दुरते हुए चमरों की वायु से उड़ा देती है ।[2] राजाओं पर तीखा व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है : पर द्रव्य हरण करनेवाले तथा कलह के कारण राजा ही होते हैं ।[3] अधिक बलवान चोर

---

1. महापुराण 1.4.6.
2. जसहर चरिउ 1.1.4.
3. महापुराण 16.21.2.

ही राजा बन जाता है - "जो बलवंत चोरु सो राजडर [1] पुष्पदंत किसी कीमत पर सामंत की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकते । राजा से जो आर्थिक सुविधा आश्रित कवि को मिलती है, उसके संबंध में पुष्पदंत का मत इस प्रकार है :- दूसरे की दी हुई भूमि पर वास करने की अपेक्षा वन के फल खाकर रह जाना ही अच्छा है । 'दूसरे के प्रभा से आलोकित विशाल महल की अपेक्षा गिर कंदरा को मै श्रेष्ठ समझता हूं । [2] अपने आश्रयदाता से उन्होंने कहा : मै धन को तृण वत समझ कर तुम्हारे गृह में वास कर रहा हूं । [3] उन्होंने कहा कि मेरी कविता जिन भक्ति के लिए समर्पित है । [4] इस प्रकार धार्मिक कवि के रूप में पुष्प दंत ने सत्ता के भय और प्रलोभन से मुक्त रहने का संकल्प अनेक प्रकार से दुहराया है ।

नम्मालवार ने कहा है : मै अपनी मधुर रचनाएँ भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य को समर्पित नहीं करूँगा । प्राकृत जन के गुण गान के संबंध में उन्होंने लिखा है - प्राकृत या नश्वर मनुष्य के गुणगान के लिए काव्य रचना करना व्यर्थ है । प्राकृत जन के गुण गान करके संपत्ति प्राप्त करने से क्या लाभ है । संपत्ति - सुख क्षण भंगुर है । इसलिए भगवान का गुणगान करना ही श्रेयस्कर है । [5] इस प्रकार लौकिक सत्ता धारियों का गुणगान करना और उनको साहित्यिक कृतियाँ समर्पित करने का स्पष्ट निषेध नम्मालवार ने किया है । सारे भारत के भक्त कवियों के स्वर जैसे एक साथ गूज उठे हो ।

भक्त कवि पोतन्ना के विचार भी इसी प्रकार के है : मेरी काव्य-कन्या नव-रसाल के पल्लवों के समान कोमल है । मै इसको नीचों और क्लीवों के हाथ बेचकर (समर्पित करके) धन प्राप्त नही करना चाहता । सत्कवि यह कार्य करने की अपेक्षा, अपने सुत दारा (परिवार) के उदर-पोषण के लिए किसान बनना अथवा जंगलो से कंदमूल

---

1. महापुराण 16. 21. 4.
2. - वही - 81. 15. 1-4.
3. - वही - 38. 5. 10-11.
4. - वही - 38. 63.
5. तिरुवोइ मौलि, 3. 9.

एकत्र करके, उनसे अपना पोषण करना अधिक अच्छा समझता है ।[1] कवि माँ सरस्वती को विश्वास दिलाता है - " माँ भारती । अपनी कजरीश आँखों से आँसू क्यों बहा रही हो ? मैं (अपनी भूख मिटाने के लिए) तुम्हें ले जाकर उन कर्नाट-किरात कीचकों के हाथ नहीं बेचूँगा ।[2]

इसी प्रकार के भाव अन्नमाचार्य जी ने व्यक्त किये हैं । एक बार विजय नगर के राजा सालुवनर सिंगराय ने अन्नमाचार्य जी का एक श्रृंगार कीर्तन सुना इससे प्रभावित होकर उन्होंने कवि से प्रार्थना की कि मेरे विषय में ऐसी ही कविता सुनाओ । द्रोण की शक्ति को जानते हुए जिस प्रकार राजा द्रुपद ने गर्व किया था, उसी प्रकार अन्नमाचार्य जी की महिमा को न जानते हुए भी, राजा ने उनसे अपने संबंध में कीर्तन गायन के लिए कहा । अन्नमाचार्य जी ने उत्तर दिया - मेरी जिह्वा केवल भगवान का ही लीला गान करती है । वह साधारण लौकिक श्रृंगार का गायन कैसे कर सकती है ? इस पर राजा ने उनको बंदी बना लिया । उनकी प्रार्थना पर स्वयं भगवान ने उनको मुक्त कर दिया । राजा ने पश्चाताप किया और स्वयं कवि की पालकी ढोयी ।

अकबर और सूरदास की भेंट का विवरण वल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य में मिलता है ।[3] तानसेन ने अकबर के सामने सूर का एक पद गाया । अकबर के पूछने पर तानसेन ने बतलाया कि इस कीर्तन के रचने वाले कवि ब्रजवासी हैं । अकबर के मन में सूरदास से मिलने की इच्छा जगी । जब अकबर दिल्ली से आगरा आया तब मथुरा में उसने सूरदास से भेंट की । सूर का सम्मान करके, अकबर ने उनसे वैष्णव गीत गाने के लिए प्रार्थना की । सूर ने गाया —

---

1. कल रसाल साल नव पलभव कोमल काव्य कन्यकम् ।
कूरूण्ठ किन्चि यघड्पु गूड्ड मुंजि पुट कंटे सत्कनकु ।
हासि कुलैन नेमि गहनांतर सीमल कंद मूल कौ -
दूदालि कुलैन नेमि ! निज दार सुतो दर पोषणी मै । (पोतना, महाभागवतम्- सं. भीमसेन निर्मल)

2. - वही - पृ. 13.

3. प्रभु दयाल मीतल (सं.) गो. हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता, पृ. 27-32.

" मना रे, माधव सों करि प्रीति ।[1]

यह पद वैराग्य मूलक है । साथ ही इसमें प्रेम भक्ति मूलक साधना का समर्थन भी है । जब राज-पुरस्कार का लोभ देकर अकबर ने सूरदास से अपनी प्रशंसा में गाने के लिए कहा तो सूर ने गाया --

नाहिन रह्यो मन में ठौर ।
नंद नंदन अछत कैसे आनिए उर और ।
स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास ।
" सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास ।

अकबर समझ गया : सूर भौतिक सुविधाओं का लोभी नहीं है । वह मेरा यश-गीत क्यों गाने लगे । फिर भी अकबर ने कुछ सेवा करने की इच्छा प्रकट की - " कछु तो मो कों आज्ञा करिये । " सांसारिक वैभव को " छीलर " समझनेवाला सूर बोल उठा - " जो आज पाछे हमको कबहूँ फिरि मति बुलाइयो और मो सों कबहूँ मिलियो मत । " इस प्रकार अकबर और सूरदास की भेंट का संकेत वार्ता साहित्य में मिलता है ।

उत्तर मध्यकाल में भक्ति, धर्म सभी क्षेत्रों में सामान्य जन के लिए आकर्षण केन्द्र बन गया था । के.ए. निजामी ने अपने मध्यकालीन साहित्य और संस्कृति के अध्ययन में अपनाध्यान राजनीति की तानाशाही व्यवस्था पर केन्द्रित करते हुए बतलाया है कि किसी कारण से सामान्य जन भक्ति मूलक रहस्यानुभूतियों के प्रति अनुरक्त हुआ । के.ए. निजामी के अनुसार, जनता ने तानाशाही और अन्याय पूर्ण शासन के अन्तर्गत बड़ा संत्रास झेला था । इस संत्रस्त जन ने इस विचार में एक संतोष का अनुभव किया कि यह भौतिक जगत अंतिम सत्य नहीं है । भक्ति और रहस्यानुभूति पूर्ण साधना से ऐसा कुछ पाया जा सकता है जो तानाशाहों की पहुँच से परे है ।

---

1. सूर सागर 325.

भारतीय मुसलमानों में भक्ति प्रेम-मूलक धर्म के नेता हुए । इनमें सूफी संत फरीदुद्दीन ( 1175 - 1265 ) तथा उनके उत्तराधिकारियों का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है । अंतिम सुल्तान शासन तथा आरंभिक मुगल व्यवस्था के समय में यह मार्ग बहुत लोक प्रिय हुआ । पन्द्रहवी शती में कबीर ने, तथा सोलहवीं शती के आरंभ में नानक ने इसी प्रकार का धार्मिक नेतृत्व दिया । इस प्रकार हिन्दू शासक मुसलमान शासन दोनों ही रहस्यात्मक प्रेम । भक्ति परक धर्म की भावना में विभोर हो गए थे । भक्ति और सूफी आंदोलन 18 वीं शती तक देश में बहुत लोक प्रिय रहे । इनकी सीमाएँ अब्दुल लतीफ के सिंध से लेकर दरिया साहब के बिहार तक विस्तृत हो गई थी ।

अकबर ने भी धार्मिक मामलों में तथा प्रेम मूलक रहस्यवाद में विशेष रूचि ली । उसकी भविष्य दृष्टि ने भक्ति प्रेम-मूलक धर्म के व्यापक प्रभाव में अपने लिए और अपने शासन के लिए एक सुअवसर भी देखा ।[2] अनेक भक्त / संत / सूफी साधकों के साथ उसने साक्षात्कार किया । इससे सिद्ध होता है कि भक्ति मार्ग के संतों ने नेताओं के लोक प्रिय धर्म पर बहुत कम ध्यान दिया है । अकबर की सफलता में उसके इस धार्मिक दृष्टिकोण का बहुत बड़ा हाथ था ।

अकबर के समकालीन इतिहासकारों[3] ने अकबर कालीन राजनीतिक तथा सैनिक घटनाओं के तो ब्यौरे दिये हैं, अकबर के दरबारियों तथा अमीरों के विवरणों में भी रूचि ली है, किन्तु तत्कालीन संत कवियों से क्या संबंध रहा, इस पर वे प्राय: मौन हैं । उनकी रूचि तत्कालीन दरबारी जीवन तक सीमित दिखलाई पड़ती है । इन इतिहासकारों से प्राप्त समग्री के आधार पर जिन आधुनिक इतिहासकारों ने तत्कालीन इतिहास

---

(Shir - ul Ajam) Fourth volume.
Mohammed Sadiq, A history of Urdu Literature (London, 1964) 281-282
Fritz Lahmann, Akbar and Surdas, IndicaVol.19, No.1(March,1982)P.28

4. अब्दुल फजल, अल्लामी अब्दुल कादिर, इब्ने मुलुक,शाह उलबदाउनी, तथा ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद का नाम उल्लेखनीय है ।

का पुनर्लेखन किया है, उनकी दृष्टि भी उस समय के राजनीतिक तथा सैनिक इतिहास तक ही सीमित हो गई है ।

यह सच है कि अकबर और भक्त कवियों के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री बिखरी हुई और कुछ क्रम विहीन ही मिलती है । इस पक्ष पर विचार किए बिना अकबर की सफलता के रहस्य को जानना कठिन है । जहाँ अकबर पूर्व सुल्तान किसी स्थायी राज्य की स्थापना नहीं कर पाये । वहाँ अकबर ने एक स्थायी राज्य को संभव बनाया ।

अबुल फजल ने अकबर के संगीत प्रेम की चर्चा की है । अकबर संगीतज्ञों का आश्रयदाता था । अनेक हिन्दू, ईरानी, काश्मीरी स्त्री पुरूष गायक उसके दरबार में रहते थे ।[1] इस रूचि के परिणाम स्वरूप एक समन्वयात्मक मुगल संस्कृति का विकास हुआ । संभवत: यह अकबर की चेतन-क्रिया थी जिसके द्वारा वह अपनी प्रजा को समन्वित करना चाहता था । संगीत के कई धराने आज भी अपना उद्‌भुत अकबर के समय में मानते है ।[2] इस प्रकार संगीत के क्षेत्र में अकबर का नाम प्रतीकात्मक हो गया था । अन्य कलाओं को इस प्रकार अकबर का आश्रय मिलता रहा । संगीत में केवल क्लासिकल कला को ही प्रश्रय नहीं मिला था, भक्ति या प्रेम मूलक लोक शैली को भी सम्मान दिया गया था ।[3]

---

1• आइने अकबरी I, 68I•

2. David. M. New Man, The life of Music in North India: re-organisatio of an Asiatic Tradition, (1979) P.141 . 47

3. The musiciams on the other hand, were closely connected with the pohepar movements of fölk culture, especially of devotional religio On the muslim side the most popular Sufi brotherhörds, and on the Hindu side the various Bhakti seets, all emphasised the composition and perfomance of devotional lyrics in praise of god. Even a musician who was not a member of one of these devotional sects would have such lyrics in his professional repertoire, because of the great demand for them. Thus there was considerable over lapping between musicians and the cults popular devotionalism in Akbar's day".

'Fridz Lehmann, Akbar and Surdas, Indica, Vol.XIX No.1, March, 1982 P.29.

अकबर ने केवल कलावंत को ही आश्रय नही दिया उसके दरबार में सांस्कृतिक नेताओं को भी सम्मान दिया गया था । उसने कई सूफी संघटनों को आश्रय दिया । मुस्लिम धार्मिक नेताओं को भी अकबर के द्वारा आश्रय दिये जाने के प्रमाण मिले ।[1] अकबर ने पंजाब के एक नये जोगी संघटन को 1571 ई॰ में सहायता दी थी । अकबर स्वंय अजमेर के सूफीमत के प्रति अनेक वर्ष तक श्रद्धालु रहा । सन् 1562 में इस सम्प्रदाय के कुछ घुमंतू गायकों से उसकी भेंट हुई थी । ये गायक ख्वाजा मोइनुद्दीन का जयगान कर रहे थे । इन्ही के द्वारा उसके मन में ख्वाजा के प्रति भक्ति उत्पन्न हुई ।[2] जब अकबर 20 वर्ष का था उसका झुकाव रहस्यानुभूतियों की ओर हो गया था । अबुल फजल के अनुसार कंथा धारी जोगियों, सन्यासियों और कलंदरों के साथ वह भेंट करना था ।[3] उसको ऐसे सूफियों के साथ भी मिलने में संकोच नहीं होता था जिनको कट्टर मुसलमानों के बीच सम्मान प्राप्त नहीं था । ये रहस्यवादी संत अशिक्षित और असंघटित भी होते थे । उच्चवर्गीय मुस्लिम साहित्य में इन कलदरों का कोई स्थान नहीं था । इसी प्रकार वह हिन्दू संतों के साथ भी समागम करता था । उनके साथ संवाद भी चलता था । इस दृष्टि से अकबर का सांस्कृतिक व्यक्तित्व पूर्वकालीन सुल्तानों से विशिष्ट हो जाता है ।

इस बात का प्रमाण कम ही मिलता है कि अकबर बहुत से हिन्दू भक्तों से मिला था । फिर भी इस संदर्भ में कुछ भक्तों के नाम तथा उनके साथ अकबर की भेंट के विवरण अवश्य मिल जाते हैं । मीरा बाई से उसकी भेंट (1498-1563) या 1565 ( की चर्चा की जाती है ।[4] यह कल्पना ही प्रतीत होती है क्योंकि इसके लिए कोई लिखित

---

1) B.N.Goswamy and J.S.Grewal, The Mughals and the Jogis of Jakhbar (Simla 1967) i,21,25,27; see also K.M. Thaveri; Imperial Farmans (A.D.1577 to A.D.1805) Granted to the Ancestors of the Tikayat Maharaj (Bombay 1958) and K.K.Datta, some Farmans, Samads and Parwance (1578 - 1802 A.D.) (Patna 1962) 70,81.

2) Abul - Fazl, Akbar nama (H.Beveridge, Tr.Delhi, 1972).

प्रमाण नहीं है । यह अनुमान किया जाता है कि अकबर का जिन राजपूत राजाओं के साथ संबंध था उनमें से बहुत से मीराबाई के शिष्य थे ।

अकबर से मिलने वाले भक्तों में सूरदास के गुरु भाई कुंभनदास का नाम आता है । [1] अकबर के निमन्त्रण पर कुंभन दास फतेहपुर सीकरी गये थे । इकबर ने उनका सम्मान भी किया था, किन्तु कुंभनदास ने इसको कोई महत्व नहीं दिया । कुंभनदास जी ने कुछ कटु शब्दों में अपनी मन: स्थिति प्रकट की है । [2] इसी प्रकार यह माना जाता है कि दादू [3] को भी अकबर से निमन्त्रण मिला था । बीरबल के द्वारा इस संत को बुलवाया था । रज्जब दास ने इस घटना का उल्लेख किया है । [4]

जहाँगीर ने अपनी दैनदिनी में लिखा है कि अकबर यदुरूप गोसाई से अनेक बार मिला था वह उनकी हमेशा याद भी करता था । [5] अकबर से मिलनेवाले संतों की सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है ।

इन भेंट वार्ताओं के आधार पर इनकी रचना का विधान स्पष्ट हो जाता है । सूर की वार्ता का विधान चार सूत्री है : 1. अकबर के द्वारा प्रशंसा सुनना और सूर को निमन्त्रण 2. सूर के साथ साक्षात्कार 3. सूर की कला की प्रशंसा और पुरस्कार सेवा का प्रस्ताव 4. सूर का उस प्रस्ताव को अस्वीकार करना । यही रचना अन्य भेंट वार्ताओं की है । हो सकता है, ये सभी कल्पना-कथाएँ हो क्योंकि दरबारी इतिहास-

---

1. इनका समय सं्. 1582 लगभग माना जाता है (2) इस सबंधं में ये पंक्तियाँ कही गयी हैं-

   संतनु कहाँ सीम करी सो काम
   आवत जात पन्हैय्या टूटे, बिसरिजात हरि नाम
   जिनको मुख देखत दुख उपजत तिनको करने परे सलाम ।

3. इनका जन्म अहमदाबाद में 1540 में हुआऔर इनकी मृत्यु राजस्थान के नराइना नामक स्थान पर 1603 में हुई ।

4. D.D.Barathwal, Traditions of Hindu Mysticism based upon Nirguna school of Hindi poetry.(New Delhi,1978) 258.59 पद्य इस प्रकार है -

   अकबरी साहि बुलाइया गुरु दादू कौन आप
   साह झूठ ब्योरो हुओ तब रह्यो नाम परताप ।।

कारों ने इनका उल्लेख नहीं किया है । संत चरित्र को उदात्त और त्यागपूर्ण सिद्ध करने के लिए उनके शिष्यों ने इनमें कुछ जोड़ा हो । यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ सत्य हो । किन्तु इनके आधार पर और अकबर के धार्मिक दृष्टिकोण को देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्रवृत्ति अवश्य रही होगी । अबुल फज़ल और जहाँगीर के लेख प्रमाण पूर्ण रूप से उपेक्षणीय भी नहीं है ।

अकबर और सूरदास समकालीन हैं । सूर एक भक्त-कवि गायक के रूप में प्रसिद्ध भी थे । आगरा से केवल 35-40 मील दूर ही सूर का निवास स्थान था । इसलिए इस भेंट की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता । हो सकता है कि चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता में इस भेंट को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर दिया गया हो ।

अकबर से पहले के सुल्तानों के संबंध में भी इसी प्रकार की कुछ वार्ताएँ कहीं जाती हैं । उनके अनुसार संत की राजवर्ग के प्रति धारणा और उसके दान का तिरस्कार सिद्ध होता है । महान सूफी संत फरीदुद्दीन ने अपने शिष्य सइदी मौला को यह परामर्श दिया था सुल्तानों और अमीरों से बचना । उनके आने की एक सकंट की सूचना समझना । जो संत राजाओं और अमीरों के लिए अपने द्वार खोल देता है, वह अभिशाप्त है ।[2] किन्तु सईदी मौला ने इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया था । बहुत से फकीरों ने व्यक्तिगत रूप से और कई सूफी संगठनों ने राजवर्ग तथा इस के दिये हुए प्रलोभनों का तिरस्कार भी किया । उनका विश्वास था कि राजन्यों का साथ आध्यात्मिक साधना में बाधक होता है ।

सूरदास ने भी अंतिम रूप से यही कहा कि उसे आगे फिर कभी न बुलाया जाये और अकबर फिर कभी वहाँ न आये । यह सूत्र भी उपर्युक्त पूर्वकालीन परंपरा में आता है । दिल्ली के शेख निजामुद्दीन औलिया ने भी सुल्तान को इसी प्रकार का उत्तर दिया था "मेरे घर के दो द्वार हैं । यदि एक द्वार से सुल्तान प्रवेश करेगा,

---

1) Tuzuk-e-jahangiri (Rogers and Beveridge, Tr.Delhi, 2nd ed. 1968, 1, 357; II 49, 52.

2) Zia-ul-din Barani) Tarikh i-Firuz

तो दूसरे मैं बाहर चला जाऊँगा ।[1] राज प्रलोभन एक प्रकार से संत के लिए परीक्षा बन जाता है । यदि संत अपने लक्ष्य और मूल्य के प्रति ईमानदार है, तो इस प्रकार के प्रलोभन को उसे ठुकरा देना चाहिए ।

सामान्य प्रवृत्ति शाही प्रश्रय और संरक्षण को ठुकराने की रही है । दिल्ली के अधिकांश सुल्तान धर्म के नाम पर या राज्य विस्तार के लिए जघन्य हिंसा कार्यों में प्रवृत्त होते रहे । दरबार के तानाशाही वातावरण में न सच्चे संत को शांन्ति ही मिल सकती थी और न वह दरबार की संस्कृति के उन्नयन में कुछ योगदान ही दे सकता था । यद्यपि अकबर इस दृष्टि से पूर्वकालीन हिंसक सुल्तानों की कोटि में नहीं आता, संत को उसके प्रति कुछ भिन्न व्यवहार करना चाहिए था, किन्तु वह भी संतों के परंपरा गत दृष्टिकोण को नहीं बदल सका । अबुल फजल का पिता शेख मुबारक इस परंपरा का एक अपवाद है । उसका जीवन शाही संरक्षण के खतरे का एक प्रमाण है । अबुल फजल राजनीति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त हो गया । और अंतत: उसकी हत्या हुई । हिन्दू संत के लिए मुस्लिम सुल्तान बिल्कुल भी विश्वसनीय नहीं हो सकते थे ।

तात्पर्य यह है कि सामंतशाही, राजतंत्र और राज्याश्रय की उपेक्षा की परंपरा भक्त कवियों में बनी । सूफी संतों, निर्गुणियाँ संतों तथा सगुण भक्तों ने इस प्रलोभन का त्याग किया और वे राजशाक्ति के सामने झुकने को तैयार नहीं हुए । बादशाहों और कवियों की जो भेंट वार्ताएँ मिलती है, उनकी सूत्र रचना प्राय: एक सी है । किन्तु तुलसी और अकबर की भेंट का जो रूप अनुभूति में प्रकट हुआ है, वह उस इस सूत्र रचना से भिन्न है ।

अकबर के कानों तक तुलसी की ख्याति पहुँची । अकबर ने तुलसी को अपने दरबार में बुलाया । तुलसी गये भी । अकबर ने तुलसी से कुछ चमत्कार दिखलाने के लिए कहा । चमत्कार प्रदर्शन तुलसी की प्रवृत्ति और प्रकृति के प्रतिकूल था । तुलसी ने इस संबंध में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी । अकबर ने तुलसी को बंदी बना लिया ।

---

1) K.A.Nizami, Studies in Medieval Indian History, and Culture (Allahabad, 1966) 88-89.

अब चमत्कार स्वत: घटित हुआ । राजमहल के चारों ओर बंदरों की भीड़ और उनका अभूतपूर्ण उपद्रव । किसी ने अकबर से कहा कि यह हनुमान जी का क्रोध है । यही तुलसी का चमत्कार है तो अकबर ने अभिभूत होकर तुलसी को मुक्त कर दिया ।

सं॰ 1670 में तुलसी से मिलने जहाँगीर आया यह अनुश्रुति भी है । इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं है । इसीलिए डा॰माता प्रसाद गुप्त ने इन घटनाओं को संक्षिप्त कह कर अमान्य ठहराया है । शहशाहों की संतों से भेंट वार्ताएँ प्राय: इतिहासकारों के द्वारा उपेक्षित रही हैं । सामंत और संतों की भेंट का जो सूत्र मध्यकाल में बना, वह तुलसी से भी जुड़कर रहा ।

ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी के व्यक्तित्व का पुराणी करण और अलौकिकी करण अन्य संतों की अपेक्षा अधिक हुआ । "मूल गोसाई चरित "[1] में इस प्रकार की चमत्कार मूलक अनुश्रुतियों को संग्रहीत किया गया है । नाभादास जी ने तुलसी को वाल्मीकि का अवतार कहा ।[2] प्रियादास जी ने "भक्ति रस - बोधिनी " में लिखा है कि तुलसी ने एक प्रेत को वश में किया था । यह भी लिखा है कि एक हत्यारा ब्राह्मण तुलसी के पास आया । तुलसी ने राम का प्रसाद देकर उसका उद्धार कर दिया । जि जाति में इसको लेकर विवाद हुआ तो तुलसी ने नदी के द्वारा इसका समाधान कराया । पत्थर के नदी ने उस ब्राह्मण के हाथ से भोजन कर लिया । एक दिन चोर तुलसी के यहाँ आये । उनको राम-लक्ष्मण पहरा देते हुए मिले । किसी मृत ब्राह्मणा को भी तुलसी ने जीवित किया । इस प्रकार की चमत्कार गाथाएँ अकबर के कानों तक पहुँची होंगी । उसने तुलसी को करामात दिखलाने के लिए बुलाया होगा । किन्तु यह वार्ता उन वार्ताओं से भिन्न है जिनमें अकबर किसी भक्त कवि की कविता या उसके संगीत से प्रभावित होकर उनको आमंत्रित करता है या उन के यहाँ स्वयं जाता है । साहित्य के दोनों क्षेत्रों से

---

1॰ इस ग्रंथ का सबसे पहले शिवसिंह सरोज में उल्लेख हुआ है । इसके लेखक तुलसी के साथी वेणीमाधवदास बतलाएँ गए हैं ।

2॰ कलि कुटिल जीव, निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयौ ।

अस्वीकृत एवं बहिष्कृत किया । एक ओर उन्होंने धर्मान्धता, जातिवाद, सम्प्रदायवाद आदि जर्जर, सामंती मान्यताओं पर कटु प्रहार किए और दूसरी ओर रीति परंपरा, छंद शास्त्र, रस शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि की सभी शिल्पगत सामंती मान्यताओं को लात मारी । तुलसी ने भी जनता के बीच रह कर मानवतावादी साहित्य परंपरा का पालन किया ।[1] जनवादी भक्ति साहित्य " की परंपरा आधुनिक युग तक चली आई आधुनिक युग के अग्रदूत भारतेन्दु ने भी भक्ति गीत लिखे, जिनमें राष्ट्रीयता भी प्रतिबिंबित है । द्विवेदी युगीन कवियों में से कुछ ने भक्ति कालीन साहित्य का नव संस्कार किया । शुक्ल जी ने भक्ति साहित्य को लक्ष्य करके हिन्दी समीक्षा के लोकवादी प्रतिमानों की स्थापना की ।

## 7. समन्वय बनाम, क्रान्ति चेतना : लोकनायकत्व :

अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य मंच पर भक्ति साहित्य का प्रवेश शायद सबसे पहले सन् 1866 में हुआ । डा. ग्रियर्सन ने " इंटरनेशनल ओरिएंटल कान फ्रेन्स " रायल एशियाटिक सोसाइटी के प्रतिनिधि के रूप में एक लेख पढ़ा - " हिन्दुस्तान का मध्यकालीन साहित्य : तुलसी दास के विशेष संदर्भ सहित । " उसी में उन्होंने यह घोषित किया था कि बुद्धदेव के बाद उत्तर भारत के सबसे बडे लोक नायक तुलसीदास थे । " यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व पूर्ण है - शायद बौद्ध धर्म के बाद भक्ति आंदोलत भी भारत का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आंदोलन था जिसके नेताओं में तुलसी का महत्वपूर्ण स्थान है । इस कवि नेता की " समन्वयवादी प्रवृत्ति को उस संदर्भ में रेखांकित किया गया । शायद इस कथन के मूल में तुलसी की लोक प्रियता रही होगी । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी तुलसी के मूल्यांकन में उनकी समन्वय बुद्धि को प्रमुख स्थान दिया और इससे लोक नायकत्व के तत्व को जोड दिया । समन्वय और लोक नायकत्व को भारत की सांस्कृतिक विविधता की भी चर्चा की । समन्वय-वृत्ति को मात्र सामाजिक परिप्रेक्ष्य में खींच कर द्विवेदी जी साहित्य तक ले आए अनेक काव्य पद्धतियों का समन्वय वैचारिक धरातल पर उन्होंने लोक और वेद के समन्वय की बात कही । एक प्रकार से समन्वय भक्ति साहित्य के मूल्यांकन का ही एक प्रतिमान बन गया ।

---

1. ललित मोहन अवस्थी, वामचिंतन, पृ. 35.

" समन्वय " शब्द राजनीति में तटस्थता का वाचक बन जाता है । क्रान्ति और सांस्कृतिक नवनिर्माण के परिप्रेक्ष्य में समन्वय एक कमजोर शब्द लगता है और तटस्थता क्रान्ति के संदर्भ में बाईं लगती है । द्वन्द है साहित्य के सामजस्य और क्रान्ति के प्रतिमानों के बीच । हेगेल के सौन्दर्य शास्त्र में सामंजस्य का महत्व पूर्ण स्थान है । " उन्नीसवी शताब्दी के आरंभ में बर्लिन विश्व विद्यालय में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि विश्व की वीरत्वपूर्ण अवस्था कलात्मक सृजन के लिए सबसे अनुकूल होती है । विश्व की वीरत्वपूर्ण अवस्था का उसने प्रधान लक्षण मानव तथा विश्व के मध्य पूर्ण सामंजस्य को माना था । सामन्वय मनुष्य को महापुरूष बना सकता है ।

समन्वय, सामजस्य, समझौता, तटस्थताये शब्द देखने में बडे निरापद और भोले लगते हैं । इतिहास में शब्दों की व्यावहारिक परिणति की परंपरा है ये शब्द लोक प्रियता और महानता के संवाहक भी रहे हैं । पर, यह सब व्यक्ति पूजा या व्यक्ति के स्तर पर ही रहे है । जब सामाजिक सोंच की बात आती हैं तथा व्यापक " परिवर्तन " और " क्रान्ति " के दर्शन समाज के संदर्भ में उभरते हैं, तो अमर के शब्दों के अर्थ से स्थितिवादिता को गंध आने लगती है । लगता है कि समन्वयवाद सामाजिक परिर्वतन के लिए अदम्य व्याकुलता को कमजोर बनाता है । बुद्ध देव का लोक नायकत्व राजतन्त्र से समझौता करके चला – अलबत्ता तत्कालीन नृप-तंत्र में उन्होंने धर्म पर आधारित आदर्श की स्थापना की । तुलसी ने तत्कालीन राजतन्त्र से तो समझौता नहीं किया किन्तु आदर्श राज्य व्यवस्था को समाज के लिए एक आवश्यक समाधान माना । " रामराज्य " के साथ जनतन्त्रीय तत्वों का चित्कीचत सयोग करके उन्होंने राजतन्त्र का सर्मथन किया ।

महापुरूष और लोक नायक शब्द भी निरापद नहीं है । लोक नायक अपने व्यक्तिगत वैशिष्टय के कारण सामान्य जनता का अगुआ बन कर और जनता को साथ लेकर चलता है । वह समूह से अलग दिखलाई पड़ता है : समूह का अंग नहीं होता । जब

---

1. इसकी स्थापना सन् 1784 में विलियम जोन्स ने की ।

2. डा. जय प्रकाश, तुलसीदास नये हस्ताक्षर पृ. 14.

सर्वहारा के सामूहिक नेतृत्व की बात उठती है तो " महापुरूष " का वैशिष्ट्य अपना अर्थ खो देता है । यह संदिग्ध हो जाता है कि वह समाज की जड़ता को निर्ममता से और गैर - भावुक तरीकों से समाज की पुर्नरचना करने और यथास्थिति को तोड़ने में सफल हो सकेगा । महापुरूष समाज की उमड़ती हुई श्रद्धा का भाजन बन कर अति-मानवीय होता जाता है ।

समन्वय " द्वन्द्व - दर्शन के विपरीत दिखलाई पड़ता है । यह अतिवादों और विरोधों के समाहार का प्रतीक है । विरोधों का समाहार कभी कभी ऊपरी ही होता है : भीतर - भीतर तनाव और घुटन भरी रहती है । फलत: उग्र प्रतिक्रिया जन्म लेती है । फिर समन्वय की प्रक्रिया कभी पूर्ण नहीं हो सकती है । खंडन और उग्र अस्वीकृति के तत्व लगे रहते हैं । ये तत्व भक्त कवि और भक्ति काव्य की तथा कथित समन्वय वृत्ति के साथ लगे हुए है - निर्गुणियों में कुछ अधिक, सगुणियों में कुछ कम ।

तुलसी की प्रेरक शक्ति चाहे धर्म हो परधर्म के नाम पर बनने वाले साधु - समाज की विकृतियों के प्रति वे असहिष्णु थे और उापर उन्होंने करारी चोट भी है । राम के विरोधियों को वे महाशत्रु के रूप में देखते है ।[1] शैवों योगियों, कापालिको तंत्र वादियों का उग्र विरोध तुलसी की वाणी से फूट पड़ता है । भक्ति के कट्टर पक्ष-धर होने के कारण तुलसी अन्य साधनाओं की व्यर्थता का कथन आक्रामक शब्दों में कहते है : अन्य प्रकार के साधक पशु हैं ।[2] खास तौर से ज्ञानियों पर प्रहार किया गया है । अलखवादी ज्ञानियों और योगियों को उन्होंने " नींच " कह कर गाली दी है ।[3] योगियों के एक वर्ग पर चोट करते हुए उन्होंने लिखा - " असुभ वेष भूषण धरेभच्छाभच्छ जे खाहि । तेई जोगी तेई सिद्ध नर पूज्य ते " कलियुग माँहि । " ( मानस, उत्तर काण्

---

1. जाके प्रिय न राम वैदेही । तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि पर सनेही ।

2. रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पदनिर्वान ।
ज्ञानवंत अपिसो नर पसु बिनु पूँछ विषान ।।

3. हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच ।। ( दोहा. 19 )

इनको असामाजिक और उग्र व्यक्तिवादी धर्म साधना में लगे हुए माना गया है । निर्गुणिया संतो के साथ भी उनका कोई समझौता नहीं प्रतीत होता ।[1] भक्ति तत्व ही दोनों को जोड़ता है । भक्ति के अतिरिक्त किसी सिद्धांत के विरोध में ही उनका स्वर उठता है । समन्वय का स्वर ऊपरी ही है । " उन्होंने देखा कि दंभी और प्रवंचको ने अपने हित साधन के लिए अनेक " पंथ " चला रखे है ।[2] मध्यकाल में धर्म एक प्रर्वतक शक्ति के रूप में माना गया है । जब वह शोषक का रूप धारण करता है, तो तुलसी की समन्वय वृत्ति क्षुब्ध होने लगती है । भक्ति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता अडिग रहती है ।

सांमत या तत्कालीन सांमत वाद से उनका कोई समझौता नहीं था । सूर ने भी स्पष्ट कह दिया कि सामंत के लिए उनके मन में जगह नहीं था । " नाहिन रहयौ मन में ठौर । " कुंभन दास ने घोषणा कर दी " जिनको सुख देखत दु:ख उपजगत, तिनकौं करनी पैर सलाम । " और तुलसी की उक्ति भी उतनी ही बेलाग है --

हम चाकर रघुवीर के, लिख्यौ दरबार ।
तुलसी अब का हो हिंगे, नर के मनसबदार । "

तुलसी मनसबदारी के प्रलोभन से बहुत दूर थे। यह एक प्रकार से अकबर की राजनीति के प्रति एक विद्रोह ही था । वास्तव में तुलसी का समन्वयवाद एक सुविचरित और सामाजिक विवेक से प्रेरित है । समझौता किस से और विरोध किसका - यह निर्णय वे सामाजिक गतिविधि को ध्यान में रखकर कर रहे हैं । इसी अर्थ में वे लोक नायक कहे जा सकते हैं । उन्होंने राजवर्ग और " धनी " (पूँजी पति) के यथार्थ को देखा और कहा भी है -- धर्म ध्वज ब्राह्मण का जहाँ पक्ष लिया । वहाँ उसका पतित रूप भी दिखलाया इनसे पीड़ित और भूखी जनता को देखकर उनके मन में करूणा भी उमडी --

---

1. साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपर वान ।
भगति निरूपहि भगत कलि, निंदहि बेद पुरान । (दो० 554)
2. " दंभिन्ह निज मति कल्पिकर प्रकट किए बहु पंथ (मानस, उत्तर काण्ड)

नृप पाप परायन धर्म नहीं, करि दंड विदंड प्रजा नित ही ।
धनवंत कुलीन अपी, द्विज चिन्ह जनेउ उतारत थी ।
x x x x
कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अंत दुखी सब लोग मरैं ।।

लगता है तुलसी की समन्वय चेतना अपने लिए मार्ग नहीं निकाल पा रही है । उसे अपने विस्तार के लिए क्षेत्र नहीं मिल रहा था ।

ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा के संत कई जातियों के मिलते हैं । विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक मुसलमान संत भी ज्ञानाश्रयी शाखाएँ में सम्मिलित किए जाते हैं । इन मुसलमान निर्गुणिया संतो में कबीर के अतिरिक्त ये संत परिगणित किए जाते है : कमाल ( कबीर के पुत्र ), काजी कदम [1] काजी महमूद [2] काजी मुहम्मद [3] गरीबदास [4] दरिया साहब [5] ( बिहार के ) दरिया साहब[6] ( मारवाड़ी ), दादू दयाल, [7] दीन दरवेश [8] फकीर शाह [9] बालक राम, बावरी साहिबा [10] बुल्ला बुल्लाशाह [11] यारी साहब [12] रज्जण जी, वषना जी आदि ।

इन मुसलमान निर्गुणियाँ संतों ने माधुर्य भाव से रिक्त पद भी लिखे है ।

---

1. मिश्रबंधु विनोद, द्वि॰भाग, कवि संख्या 349.
2. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण ( प्रथम खंड ) पृ॰ 147, 536.
3. - वही - पृ॰ 533. ( द्वितीय खंड ) पृ॰ 138.
4. संत सुधासार, वियोगी हरि, पृ॰ 502.
5. संत कवि दरिया, एक अनुशीलन, धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ॰ 32.
6. मोतीलाल मेनारिया ( राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ॰ 47 ) इनको मुसलमान नहीं मानते हैं ।
7. डा॰हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का इतिहास : उसका उद्भव और विकास, पृ॰ 142.
8. डा॰बड़थ्वाल, द निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री, पृ॰ 263.
9. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का अठारहवाँ त्रैमासिक विवरण प्र॰ भाग पृ॰ 96.
10. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य ( उद्भव और विकास ) पृ॰ 140-41.
11. द निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री, पृ॰ 266.
12. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ॰ 475.

8• कवि और समाज :

इस युग में सभी वर्गों से कवि उत्पन्न हुए । यह इस युग का एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है । सगुण भक्ति साहित्य के क्षेत्र में उच्च वर्गों के साथ निम्न वर्ग के कवियों की स्थिति भी मिलती है । वल्लभ की शिष्य परंपरा में शूद्रों, मुसलमानों और स्त्रियों को स्थान था । यही रामानंद की भी स्थिति है । सारे भारत में कवयित्रियाँ भी पैदा हुई, कश्मीर में लल्लेश्वरी, कर्नाटक में अक्क महादेवी तमिल नाडु में गोदा देवी, राजस्थान में मीरा आदि भक्त कवयित्रियों का प्रतिनिधित्व करती है ।

भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में एक सोद्देश्य साहित्य रचना का आरंभ दिखलाई पड़ता है । संत और भक्त का व्यक्तित्व ही सोद्देश्य सृजन के क्षण में कवि बन जाता है । कवि और संत का मिला जुला व्यक्तित्व समाज शास्त्रीय दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो जाता है । संत का सुधारवादी रूप सृजन के माध्यम से समाजोन्मुख होता है । संत का व्यक्तित्व रामानुज की इस घोषणा से अनुप्राणित था कि सभी मनुष्य ईश्वर के साथ संबंध स्थापित कर सकते हैं और भक्ति की साधना का द्वार सभी के लिए खुला है । यह सैद्धांतिक आधार कवि मानस को प्राप्त हुआ और उसने जो रचना की वह सामाजिक जीवन में क्रान्ति जगाने वाली थी । इसी परंपरा में रामानंद हुए, जिनके बारह शिष्य इसी प्रकार के संत कवि थे । इनमें रैदास चमार थे और धर्मदास अछूत या जाट किसान थे । सेना जाति के नाई थे और कबीर जुलाहा । इस प्रकार समाज के उन वर्गों से उगने वाले कवि दिखलाई पड़ते हैं जो शताब्दियों से सामंतवाद और पुरोहितवाद के द्वारा दमित और शोषित थे । इन जातियों का असंतोष और आक्रोश ही जैसे इन कवियों के रूप में मूर्तिमान हो उठा था । राजस्थान में भक्ति आंदोलन के नेता दादू दयाल बुनकर जाति के थे । मराठी कवि नामदेव दर्जी थे और तुकाराम नीची जाति के एक व्यापारी थे। चैतन्य बंगाल के एक गरीब परिवार में उत्पन्न होकर भक्ति के नेता बने । आंध्र के वेमन्ना रेड्डी थे । केरल के एलुत्तच्छन जिन्होंने मल्यालम भक्ति काव्य का आरंभ किया, चक्काल अर्थात् तेली जाति के थे । इस प्रकार निम्न वर्गीय या निर्धन कवियों की एक परंपरा भारत के प्रत्येक क्षेत्र में पैदा हुई । भक्ति आंदोलन की यह एक बहुत बड़ी देन है। ये कवि एक धार्मिक, सामाजिक प्रतिबद्धता से प्रेरित होकर ही साहित्य सृजन कार्य में लगे ।

भक्तिकालीन काव्य की भूमिका में दो तत्व प्रमुख है : भक्ति आंदोलन और आचार्य मानस । प्रथम तत्व ने कवि को सामाजिक चेतना प्रदान की और दूसरे ने एक बौद्धिक या दार्शनिक पीठिका की रचना की । भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित किया गया । इस काल की मूल चेतना दार्शनिक सामाजिक है । दार्शनिक पररलौकिक प्रेम सर्वान्त दोनों सुखाय करना था । आत्म चित्त और परचित का ऐसा सामंजस्य प्राय: दुर्लभ होता है । जहाँ कलि कलुष से मुक्ति उनके उद्देश्य में मानव मन का संतुलन भी था । मानव मानव के बीच एकता के भाव की प्रतिष्ठा करना तात्विक भी था और सामाजिक भी । प्रेम और एकता के मार्ग के रोड़े थे, धार्मिक और साम्प्रदायिक आडम्बर । इन्हें समाप्त करना भक्त कवि का उद्दिष्ट था । जन सामान्य को एक मनोसामाजिक दार्शनिक बिन्दु की ओर कवि को आकर्षित करना था । इसके लिए काव्य व्यापक और शुद्ध, मानवीय सामाजिक संबंधों के लिए एक सेतु था । दार्शनिक तत्व ( = भक्ति रस ) और काव्य को एक तथा अभिन्न बना कर भक्त कवि ने विश्व साहित्य में एक कीर्तिमान स्थापित किया । ग्राहक के साथ कवि ने एक घनिष्ठ संबंध का अनुभव किया । तुलसी ने " उपजहि अनत अनत छवि लहई " के द्वारा यही सत्य प्रकट किया है । सूर ने भी कहा - " रस की बात माधुर्य नीरस सुनि रसिक होत सो जाने " रस की बात रसिक ही जानते हैं । जायसी ने भी इस संबंध में महत्वपूर्ण बात कही है --

भवंर आइ बन खंड सन, लेइ कमल की बास ।
दादुर बास न पावई, भलेहि जो आछे पास ।

भक्त कवियों के अनुसार काव्य " रस " का ग्रहण बुध या रसिक ही करते हैं । भक्ति रस के सभी अधिकारी हैं ।

भक्ति साहित्य : आधुनिक निकष

## 7. भक्ति साहित्य : आधुनिक निकष

प्रस्ताविक

1. वस्तु बनाम शैली

2. काव्यांग और काव्यात्मा

3. सोद्देश्य साहित्य : लोक मंगल की भूमिका

4. भाषा, शैली और लोक

5. वस्तु ग्रहण : पाठक का संदर्भ

6. भक्ति साहित्य जन साहित्य

7. साहित्य के आधुनिक प्रतिमान और भक्ति साहित्य

8. पुनर्मूल्यांकन की संभावनाएँ

## भक्ति साहित्य : आधुनिक निकष

### 0• प्रास्ताविक :

भक्ति साहित्य की भूमिका में एक सशक्त आंदोलन है । इसे साहित्य का आंदोलन भी कहा जा सकता है । आंदोलन में पुनर्जागरण नवोत्थान और प्रगति की शक्तियाँ सक्रिय होती हैं जो व्यापक यथास्थिति को चुनौतियाँ देकर सृजन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती हैं । कवि एक अनुशासित और उच्चतर मानव मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्तित्व को लेकर साहित्य सृजन में प्रवृत्त होता है । वह सोद्देश्य साहित्य रचना करके जन जन का प्रतिनिधित्व करता हुआ, लोक नायक की स्थिति तक पहुँच जाता है । आधुनिक साहित्य दृष्टि इसी प्रकार की साहित्य-रचना का अनुमोदन और स्वागत करती है । सामान्य जन जो उच्च वर्गीय रुचियों और उपकरणों से निबद्ध साहित्य से वंचित हो गया था उसे साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश मिला और इस साहित्य ने

जन जीवन में प्रवेश किया । काव्य सिद्धान्त, वस्तु, शिल्प, दृष्टि और ग्राहक की ओर रूझान ये सभी आधुनिक साहित्य के आधार स्तम्भ है एक प्रकार से एक साहित्यिक प्रजातंत्र की स्थापना हुई जिसका निर्माण जनता के प्रति-निधि कवियों ने किया और जिसका उद्देश्य जनहित रहा । प्रस्तुत अध्याय में इन्ही का विवेचन किया गया है और आधुनिक प्रतिमानों को रेखांकित किया गया है ।

आधुनिक युग के साहित्य चिंतन के सिलसिले में शैली और कथ्य के बीच एक द्वन्द्व दिखलाई पडता है । अधिकांश विचारक काव्य में वस्तु की महत्ता को स्वीकार करते है । शिल्प की अस्वीकृति तो साहित्य चिंतन के लिए असंभव ही है किन्तु मूल्यांकन की प्रक्रिया में इसको द्वितीय स्थान दिया जाता है अथवा शैली और शिल्प, कथ्य और ग्राहक के बीच एक सेतु मान लिया जाता है और यह कह दिया जाता है कि शिल्प और शैली कथ्य की अनुगामी उपकारक और प्रेषनीय तत्व है । भक्ति साहित्य भी काव्य में वस्तु की महत्ता को स्वीकार करता चलता है ।

## 1.1 मूल्यांकन का आधार :. वस्तु :--

मध्यकालीन कवियों ने सामान्यत: और विशेषकर तुलसी ने आधुनिक समाजवादी समीक्षकों की भाँति काव्य की वस्तु को महत्व दिया है । काव्य का मूल्यांकन काव्य के बाह्य रूप के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए । यदि " रूप " काव्य के मूल्यांकन का आधार बन जाता है, तो कवि की साधना रूप-चमत्कार पर केन्द्रित हो जाती है । रूप चमत्कार के प्रधान होते ही काव्य का प्रेषण सीमित वर्ग के लिए हो जाता है । वह जन-प्रवाह से कट जाता है । तुलसी या कबीर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भाषा कोई भी हो, वस्तु " सच्ची " होनी चाहिए ।[1] उपमान में कामरी और " कुमाच " की तुलना करके व्यंजना की गई है कि " कामरी " यहाँ जन भाषा का प्रतीक है । आगे कहा गया : चाहे ग्राम्य वाणी में वस्तु ( सिय राम यश ) का निरूपण हो, सुजान लोग उसको ग्रहण करते है ।[2] उपमानों में जनभाषा और अभिजात भाषा की तुलना है और समर्थन जनभाषा का किया गया है । डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने टिप्पणी की है, " काव्य में भाषा रूप साधन यदि दुरूह और बोझिल हो गया, तो फिर " हरि भजन के उद्देश्य में " कपास ओटना " ही रह जाता है । ध्यान भाषा की दुरूहता और जटिलता में उलझ जाता है और वास्तविक उद्देश्य पीछे पड़ जाता है ।[3] " इसलिए तुलसी ने सरल ( सर्वगम्य ) भाषा का पक्ष लेते हुए कहा है - सरल कवित कीरति विमल सुनि आदरहि सुजान । " इससे उनकी दृष्टि की सामाजिकता स्पष्ट हो जाती है ।

---

1. का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच ।
   काम जो आवै कामरी, का लै करै कुमाय ?

2. स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहि सब पान ।
   गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहि सुनहि सुजान ।
   हरिहर जस सुननर गिरहुँ बरनहि सुकवि समाज
   हाँडी हाटक घटित चरु, राँधे स्वाद सुनाज ?

3. हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा, विशेषांक, पृ॰ 451॰

काव्य के रूप गत उपकरणों के विषय में कवि का दृष्टि कोण उपेक्षा से भरा हुआ प्रतीत होता है --

कवि न होऊँ नहि वचन प्रवीनू

सकल कला सब विद्या हीनू ।

आखर अरथ अलंकृति नाना । छंद प्रबन्ध अनेक विधाना ।
भाव भेद रस भेद अपारा । कवित दोष गुन विविध प्रकारा
कवित विवेक एक नहिं मेरे । सत्य कहंहु लिखि कागद कोरे ।

भनित मोरि सब गुन रहित, विश्व विदित गुन एक ।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके विमल-विवेक ।[1]

बस प्रधानता एक " वस्तु " की है । रूपगत उपकरण वस्तु के आश्रित रहते है । उन्होंने कहा --

एहि मह रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा
मंगल भवन अमंगल हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।
और भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ।
विधु वदनी सब भांति संवारी । सोह न बसन बिना नर नारी ।
सब गुन रहित कुकवि कृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ।
सादर कहा हि सुनहि बुध ताही । मधु कर सरित संत गुन ग्राही ।[2]

तुलसी के काव्य में भक्ति भाव का महत्व है । इस बात को उन्होंने इन शब्दों में दुहराया :-

जदपि कवित रसए कौ नाही । राम प्रताप प्रकट ऐहिमाही
भनिति भवेस वस्तु भलि बरनी । राम कथा जग मंगल करनी ।[3]

---

1. रामचरित मानस तुलसी दो - चौपाई - 9.
2. - वही - -10.
3. - वही -

इस प्रकार कविता में वस्तु की महत्ता पर भक्त कवि तुलसी ने अधिक बल दिया है ।

1.2 वस्तु रचना :-

भक्त कवि का वस्तु क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । अलौकिक से लौकिक और लौकिक से अलौकिक रूप धारण करती हुई भक्ति काव्य की वस्तु दो ध्रुवों को जोड़ कर चलती है । पशु, पक्षी, मनुष्य, दानव, देवता प्रकृति सभी भक्ति काव्य की वस्तु में अनुस्यूत हैं । इन सबके बीच सामांजस्य स्थापित करते हुए और एक बिंदु पर सबको संकेंद्रित करते हुए भक्त कवि की कल्पना ग्राहक को चमत्कृत कर देती है । वस्तु खंड में अखण्ड वस्तु झांकने लगती है और अखण्ड वस्तु में वस्तु खण्ड भी महिमार्जित करता चलता है । ज्ञात वस्तु खण्ड अज्ञात का संकेत देता है और इस प्रकार अगोचर इन्द्रियानुभव का रूप धारण करता है । यह सब कुछ काव्य वस्तु संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण के साथ संबंध जोड़कर चलता है ।

कविता वस्तु की सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए समर्पित होती है । सम्पूर्णता का पूर्ण कथन स्थूल रूप से संभव नहीं होता । अतः वह ज्ञात खण्डों के आधार पर अज्ञात वस्तु-स्तरों को व्यंजित करने के लिए बाध्य हो जाता है । इस प्रकार काव्य वस्तु के दो स्तर स्पष्ट रूप से होते है - ज्ञात - अज्ञात, स्पष्ट - रहस्य, कथित-व्यंजित किसी भी शब्दावली में इसका कथन किया जा सकता है । संपूर्णता का बोध कवि यथार्थ परिवेश में वस्तु को बांधकर करता / कराता है । परिवेश की शक्तियाँ वस्तु के समग्र यथार्थ को उभारती है । कवि को ज्ञात के प्रति जागरूक और संवेदन शील रहना होता है । क्योंकि ज्ञात के माध्यम से ही अज्ञात उजागर होता है । एक ओर तो कवि ज्ञात का विश्लेषण करके वस्तु के प्रत्येक सूक्ष्म तंतु की निजी सत्ता और शक्ति को उत्तेजित करता है, दूसरी ओर उन तंतुओं की रचना, और आंतरिक संरचना को सृजनात्मक पुनर्रचना में निविष्ट करता है । यही कवि की वस्तु साधना है । उसका साध्य है - वस्तु की

आंतरिक संघटना को संवेद्य बनाना । " संवेद्य " शब्द को बुद्धि प्रवणता और तर्क के सादृश्य में देखना चाहिए । इसी साधना से कवि ज्ञात और साधारण वस्तु की आंतरिक प्रकृति को प्रकट करके उसमें असाधारण प्रभाव को जगाता है । कवि वस्तु की संभावनाओं की खोज उसके अज्ञात स्तरों पर करता है । इन्हीं स्तरों से वह शक्ति संचरित होती है जो ज्ञात, सहज और सामान्य स्तरों को भी आकर्षक बनाती हैं । अति परिचय को अपरिचित सी नवीनताओं से पुलकित कर देती है । इस प्रकार ज्ञात और परिचित को वह एक नवीन धरातल प्रदान करता है । " कवि जब ज्ञात को भी अज्ञात और सहज को भी अपरिचित के रूप में अभिव्यक्त करता है तब वस्तुत: वह " आभास " और " संकेत " की दुनियाँ से हटाकर वस्तुओं को अपनी सत्ता और संरचना के संदर्भ से हमारा परिचय कराता है । "[1] इस परिचय में ज्ञात वस्तु खण्ड एक नवीन सौन्दर्य बोध से युक्त हो उठते हैं ।

जहाँ काव्य वस्तु के स्तरों की चर्चा की जाती हैं, वहाँ यह समझ रखना चाहिए कि ये स्तर काव्य वस्तु में एकाकार और परस्पर अविच्छिन्न रहते हैं । इन स्तरों में साधन साध्य का यदि संबंध स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, तो वह कवि की समाधि की खंडित एकाग्रता के कारण धीर कवि का साध्य है - बहु स्तरीय वस्तु को एक समग्र इकाई में ढालना । वस्तु के ग्रहण और बोध में उसके विविध स्तर झलकते तो रहते हैं, किन्तु बोध की प्रक्रिया अखण्ड ही रहती है । संदर्भवादी पेपर के मत का रूपान्तरण डॉ॰रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने इस प्रकार किया - " कलात्मक संघटना, कला वस्तु की वह संरचना है जहाँ उसके बहुस्तरीय पक्षों की आंतरिक विषमता को बिना मिटाये ही उसमें आंतरिक अन्विति स्थापित की गयी हो ।[2] क्रम प्राय: यह रहता है —.

---

1• डॉ॰रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव : शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका - पृ॰ 8•

2• शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका - पृ॰ 8•

| | | | |
|---|---|---|---|
| पूर्ण वस्तु — | विश्लष्ट खंडित — | बहुस्तरीय वस्तु — | संश्लिष्ट वस्तु |

विश्लष्ट खंडों का योगमात्र संश्लिष्ट काव्य वस्तु नहीं होती । ये खण्ड कवि की विशेष सृजनात्मक प्रक्रिया में पड़कर, एक ओर तो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम होते है और दूसरी ओर पुन: सृजन या संश्लेषण में अन्य खण्डों के साथ संबंध स्थापित करते है ।

कविता वस्तु के ज्ञात खण्डों के आधार पर एक मानव जीवन सापेक्ष परिवेश की रचना करती है । इस परिवेश में आकर अमूर्त, अगोचर और मूल वस्तु मूर्त बनती है । यही प्रतीकात्मक पुनर्रचना कवि की रचनात्मक साधना का लक्ष्य है । यही पूर्ण की अभिव्यक्ति है ।

विभिन्न दृष्टियों पर चार "अभिगमों" केअनुसार भी वस्तु गत यथार्थ के भेद किये जाते हैं ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | वैज्ञानिक दृष्टि | बुद्धि परक | भौतिक यथार्थ ज्ञान |
| 2. | धार्मिक दृष्टि | रहस्य परक | आधिभौतिक यथार्थ ज्ञान |
| 3. | दार्शनिक दृष्टि | आदर्शपरक | अमूर्त यथार्थ ज्ञान |
| 4. | साहित्यिक दृष्टि | सृजनपरक | कलात्मक यथार्थ ज्ञान |

" पर अवान्तर से कवि अपनी साहित्यिक दृष्टि के अतिरिक्त वैज्ञानिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टियों में से किसी एक-दो या सभी दृष्टियों को स्वीकार कर यथार्थ के अन्य प्रकारों को अपनी कृति में स्वीकृति दे सकता है । "[1] अर्थात ये सभी

---

1. शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका – पृ. 8.

दृष्टियाँ " प्रस्तुत " या " अप्रस्तुत " रूप से उसकी सृजनात्मक प्रक्रिया को सक्रिय और व्यापक बनाने में सहयोग दे सकती हैं । कवि अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार इनका प्रयोग करता है । इस प्रयोग में प्रमुखताओं को दृष्टि में रखकर प्रधानता के आधार पर कवि कोटि निरूपित की जा सकती है जो निम्न प्रकार है -

| | | |
|---|---|---|
| ‖ 4 ‖ | = | गौण कवि |
| ‖ 4 + 2 ‖ | = | दार्शनिक कवि |
| ‖ 4 + 1 + 3 ‖ | = | ऐतिहासिक कवि |
| ‖ 4 + 2 + 3 ‖ | = | प्रमुख कवि |
| ‖ 4 + 1 + 2 + 3 ‖ | = | महान कवि |

वस्तु के बहुपक्षों को कवि एक रूप बनाता है । कवि की चेतना में वस्तु का अनुभव घटित होता है । अनुभव का माध्यम इन्द्रियाँ होती है । ऐन्द्रिय अनुभव सूक्ष्म अनुभूतियों में संक्रमित होता है । अनुभूतियाँ सृजन व्यापार की सामग्री है । वस्तु प्रकृति और इन्द्रिय संनिकर्ष की रीति के अनुसार अनुभव बहुपक्षीय और बहुरंगी हो सकते है, किन्तु अनुभूति की प्रक्रिया में वे एक रूप भी हो जाते हैं । एक रूप अनुभूति खंड अनुभवों के बीच संबंध स्थापित हो जाने के परिणाम स्वरूप घटित होती है । अभिव्यक्ति खंड अनुभवों के सौन्दर्य की भी होती है और इन सौन्दर्य बिंबों से उद्भूत संश्लिष्ट सौन्दर्य की भी ।

2. काव्यांग और काव्यात्मा :-

काव्यांग प्रेषण - प्रक्रिया के उपकरण हैं । अपने उत्कर्ष के क्षणों में काव्यांग काव्यात्मका से पूर्ण तादात्म्य करते हैं । काव्य शास्त्र के अनुसार शब्द, अर्थ, अलंकार छन्द, काव्य रूप, गुण दोष, भाव आदि काव्यांगों में परिगणित किए जाते हैं ।

तुलसी ने अपने को " कवित - विवेक शून्य " कहते हुए भी इनका उल्लेख किया है ।[1] तुलसी की मान्यता है कि इनके प्रयोग से विचित्र काव्य रचना हो सकती है । वह काव्य रचना चमत्कार भी उत्पन्न कर सकती है । किन्तु सत्य रूप काव्यात्मा के बिना न तो यह सारा संविधान सजीव ही हो सकता है और न पण्डित समाज ही ऐसी कृति का आदर कर सकता है ।[2] इसके विपरीत सभी काव्यांगों से रहित सत्याश्रित कृति प्रबुद्ध पंडित वर्ग के द्वारा भी सम्मानित होती है और सन्त भी इससे गुण-ग्रहण करते हैं ।[3] ऐसी ही कृति से समाज का कल्याण होता है ।[4] यद्यपि तुलसी ने विशेष रूप से ग्राहक वर्ग में प्रबुद्ध पाठकों और साधुओं का नाम लिया है, तथापि चतुर्विध संवाद योजना के द्वारा उन्होंने पाठक वर्ग के विस्तार को ही सम्पन्न किया है । सभी वर्गों के लिए, एक ही सत्य को कवि तुलसी ने सुलभ बनाया है । यही कारण है कि तुलसी यह विश्वास करके चलते हैं कि समाज के सभी लोगों के लिए उनकी " भणिति में सामग्री है । इसका कारण सत्य वस्तु की प्रतिष्ठा है, न कि कवि - कुशलता ।[5]

इस प्रकार तुलसी काव्य का मूल संस्थान सत्य वस्तु को ही स्वीकार करते हैं । कवि कोशल गौण हैं । सत्य वस्तु ही काव्य को " यशसे " बना देती है ।

---

1. आँखर अरथ अलंकृति नाना । छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ।
   भाव, भेद रस भेद अपारा । कवित दोष गुन विविध प्रकारा
   कवित विवेक एक नहि. मोरे । सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे ।
2. भनित सुकवि कृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ।
3. सब गुन रहित कुकवि कृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ।
4. जदपि कवित रस एकौ नाहीं । राम प्रताप प्रगट एहि माही ।
   भनित भदेस वस्तु भलि बरनी । राम कथा जग मंगल करनी ।
5. प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनित राम जस संग ।
   दारु विचार किकरइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग ।

## 3. सोद्देश्य साहित्य : लोकमंगल की भूमिका :-

यद्यपि लोक मंगल शब्द आदि के साथ साथ तुलसी का बिंब हमारे सामने खड़ा कर देता है, तथापि यह काव्य प्रतिमान होकर समस्त भक्ति काव्य पर व्यवहृत होने की संभावनाओं से भर जाता है । किसी न किसी रूप में भक्ति साहित्य लोक मंगल के प्रति प्रतिबद्ध दिखलाई पड़ता है । इस साहित्य के कथ्य और शिल्प दोनों ही लोक तत्वों से संचारित हैं ।

यदि काव्य रचना से स्वातं: सुख मिल जाये तो कोई अपराध नहीं है । पर, कवि के साध्य का अपने सुख तक सीमित होना काव्य का समाज निरपेक्ष होना है । तुलसी ने भक्त कवि के रूप में अपने काव्य को समाज के लिए ही रचा । समाज के द्वारा यदि उसका ग्रहण संभव नहीं होता तो काव्य निरर्थक ही है । वह साधु समाज में सम्मानित होना चाहिए -- "साधु समाज भनिति सम्मान् ।" काव्य सौन्दर्य का सृजन तो कवि करता है किन्तु उसकी चरितार्थता समाज गत होने में ही है :--

> मणिमानिक मुक्ता छवि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोहन तैसी ।
> नृप किरीट तरूनीतिनपाई । लहहि सकल सोभा अधिकाई ।
> तैसेई सुकवि कवित बुध कहई । उपजहिं अनत छवि लहहि ।
> जो प्रबंध बुध नहिं आदर ही । सो श्रम काहि बाल कवि करहीं ।[1]

इससे काव्य का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है । प्रयोजन सामाजिक हित ही है । काव्य का सौन्दर्य सर्जन ग्रहण की प्रक्रिया में प्रकट होता है ।

सवाल पुराना है -- काव्य / साहित्य किसके लिए ? कवि क्यों लिखता है ? एक उत्तर -- समाज के लिए लोक मंगल के लिए, मानव / मानवता के अभ्युतथान के लिए । दूसरा उत्तर -- अपने लिए, सिर्फ अपने लिए, सृजन सुख के लिए ।

एक पक्ष कहता है - अपने लिए कुछ नहीं । दूसरा स्वर आता है -- अपने से बाहर कुछ नहीं । तुलसी में दोनों उत्तर मिलते हैं --- " स्वांत: सुखाय " और सुरसीर सम सब कर हित होई । " और रामचन्द्र शुक्ल मूल्यांकन की एक कसौटी देते है -- " लोक मंगल " । आज की भाषा में साहित्य जब जनता के लिए ही होता है, जो मंगलमय होता है ।

" लोक " और " मंगल " दोनों ही शब्द संभवत: शुक्ल जी ने तुलसी के लिए दिये हैं । उनका काव्य लोक और वेद के दो किनारों के बीच प्रवाहित हुआ और उनके राम - " मंगल भवन, अमंगल हारी " है । लोक मंगल शब्द कवि के सौद्देश्य लेखन या और आगे बढ़े तो प्रतिबद्ध लेखन की प्रेरणा देता है । लोक का मंगल विधि पक्ष है, तो " अमंगल " का नाश एक निषेधात्मक या विद्रोहात्मक पक्ष है । इस सिद्धांत सूत्र में व्यक्तिवाद या व्यक्ति केन्द्रित आत्म रीत परक साहित्य सृजन का अस्वीकार भी है और समाज स्थित आदमी की स्वीकृति भी । और उन वर्गों को एक चुनौती भी है, जो प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिनिधि है । मंगल वहाँ नही हो सकता जहाँ सामाजिक न्याय बाधित हो जाता है । और कवि का " स्वान्त: " प्रतिफलित होता है तो अनिवार्यत: " मंगल " की ओर अग्रसर होता है । दोनों का सामंजस्य ही मंगलमय सृजन की शुरूआत करता है ।" .... दो बातें तय है कि समाज के नाम पर व्यक्ति का बलिदान और व्यक्ति के नाम पर समाज का तिरस्कार दोनों ही बातें एकांगी है और दोनों ही गलत है । " { अमृतराय }

लोक मंगल का सिद्धान्त साहित्यकार के सामाजिक दायित्व की याद दिलाता है । फिर भी कवि का स्वतंत्र कवि - कर्म न बाधित होता है और न तिरस्कृत ही । साहित्यकार अपनी स्वतंत्रता को इतना विस्तृत और मर्यादित करे कि सामाजिक दायित्व की समाई भी उसमें हो सके । साहित्यकार का जागरूक अंत:करण समाज के साथ एक आत्यंतिक लगाव का अनुभव करता है । व्यापक जीवन जो साहित्यकार के आस-पास बिखरा है, उसकी चेतना की परिधि को अपनी ओर खींचता है । यही " स्वान्त:

सुखाय " और " लोक मंगल " का सामंजस्य उपस्थित होता है । इसी अवस्था में साहित्यकार चाहे जीवन का सीधा चित्र न उतारे, उसका नैतिक संस्कार करता है, उसको एक नया सौन्दर्य बोध देता है । और एक स्वस्थ जीवन दृष्टि की सृष्टि करता है । कवि की आत्मा उसके परिवेश के साथ एक हो जाती है, यही लोक मंगल का सिद्धान्त है ।

यदि रचनाकार समाज की दृष्टि से ही सृजन व्यापार में प्रवृत्त होता है तो भी सृजन – सुख, और सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म तुष्टि तो उसके हाथ लगती ही है । शुक्ल जी तुलसी के उत्तर के अखण्ड सत्य को समझ कर ही लोक मंगल की संधारणा का समर्थन करते हैं ।

इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि साहित्य काव्य लेखक की आत्माभिव्यक्ति है । तो, यह उक्ति भी मान्य होनी चाहिए -- " स्वान्तः सुखाय " तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबद्ध मीत मंजुल मातनीति " एक पुराने मिथक ( = रघुनाथ गाथा ) को भाषा ( संस्कृत नहीं ) में उतारेने का उपक्रम ( = अभिव्यक्ति ) तुलसी को आत्म सुख दे रहा है । तुलसी ने इसमें एक मिथकीय परंपरा के अर्थ विकास या इसके द्वारा किसी नये अर्थ की स्थापना की बात नहीं कही, बल्कि अभिव्यक्ति के माध्यम " भाषा " की चर्चा उठाई । " भाषा का संबंध जनसाधारण से है । अर्थात् वह अभिव्यक्ति तुलसी को आत्म – सुख भी देती है, जिसका सबंध साधारण जन से हो । यह सुख मिथक को जन-जन से जोड़ने का सुख है । एक ओर अभिव्यक्ति का यह उपक्रम आत्मगत राग केन्द्र को विस्तुत भी कर रहा है, और दूसरी ओर वह जनगत परिधियों तक फैल रहा है -- फैलता जा रहा है । शायद तुलसी और शुक्ल जी के लोक मंगल में व्यक्ति और समष्टि दोनों ही रूपों में मनुष्य का उत्कर्ष अभीप्सित है । शुक्ल जी इस अन्तर्विरोध को स्वीकार करके भी चलते हैं और इनको अपने दृष्टि फलक में समेटते भी हैं । यदि तुलसी से प्रश्न किया जाय कि वे क्यों लिखते हैं, तो शायद उनका उत्तर यह होगा – " मैं सबके सुख और सबके उत्कर्ष के लिए लिखता हूँ और उसी

क्षण अपने सुख और अपने उत्कर्ष के लिए भी लिखता हूँ क्योंकि मै सब में से ही एक हूँ । मैं आत्मभिव्यक्ति के लिए लिखता हूँ, लेकिन मेरा आत्म अपने परिपार्श्व से पृथक है । मैं उस क्षण को, उस अनुभव को वाणी देने का प्रयास करता हूँ जबकि मेरा " मै " उस विराट जीवन के साथ विद्युत-सम्पर्क में आता है, जिसका ही एक कण मैं हूँ ।[1] शुक्ल जी का लोक मंगल सिद्धान्त इसी सत्य से अनुप्राणित है ।

काव्य में वर्णित विषय को लेकर शुक्ल जी ने काव्य को दो श्रेणियों में विभक्त किया, साधनावस्था का काव्य ( मानस ( पद्मावत, पृथ्वी राज रासो आदि ( तथा उपयोग या साध्यावस्था का साहित्य ( सूर-सागर, तथा कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ, छायावादी रचनाएँ आदि ( । पहले प्रकार के साहित्य में कर्म का सौन्दर्य सन्निहित रहता है । दूसरे प्रकार के साहित्य में प्रयत्न या कर्म का सौन्दर्य शिथिल हो जाता है । कर्म का क्षेत्र जगत है । जगत और कर्म के संयोगसे मार्मिक पक्ष उपस्थित होते हैं । इन मार्मिक दृश्यों में मनुष्य की छवियाँ छिटकी रहती हैं । शायद शुक्ल जी कहना चाहते हैं कि साहित्य मनुष्य के लिए है । उनकी दृष्टि में रहस्य का कल्पना लोक नहीं, गोचर जगत है, " काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्व व्यापिनी और त्रिकाल वर्तिनी अनुभूति में लीन करे । इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान के लोक रक्षक और लोक रंजक हृदय से भी मिलता है तो वह भक्ति में लीन कहा जाता है । "[2] इस प्रकार भक्ति को जगत और साधना पक्ष से जोड़ने का प्रयत्न शुक्ल जी ने किया ।

इस दृष्टि कोण में कोई पक्षपात नजर नहीं आता । स्वाभाविक मनो - विज्ञान के सूत्र को पकड़ कर उन्होंने काव्य के महत्तम ध्येय के लिए साधनावस्था अथवा प्रयत्नावस्था को उपयोगी माना है । सगुण गोचर जगत तथा उसकी विराटता के साथ

---

1. अमृतराय, सह चिंतन - पृ. 48.

2.

दीधीच इस आशय का बहुत शक्तिशाली मिथक है । अगस्त्य लोक हित के लिए समुद्र का पान करते हैं । तुलसी ने स्पष्ट स्थापना की -- " परहित - सरस धरम नहीं भाई " और तुलसी की चेतना में नरसिंह मेहत्ता की यहपंक्ति गूंजती रही -- " वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे । " बौद्ध, जैन जैसे परवर्ती धर्मों ने लोक सेवा को चरम मूल्य के रूप में व्यक्त किया है ।

भक्ति साहित्य का लोकोन्मुख सांस्कृतिक दृष्टि से संश्लिष्ट जनमानस से समन्वित और उदात्त जीवन मूल्यों से प्रेरित वस्तु तंत्र एक लोकोन्मुख प्रेषण तंत्र की अपेक्षा रखता है । इस प्रकार के प्रेषण तंत्र के अभाव में काव्य वस्तु जनमानस के अन्त-प्रदेश में प्रविष्ट होकर प्रफुल्लित नहीं हो सकती । यह भी संभव हो सकता है कि प्रेषण तंत्र वस्तु ग्रहण में बाधा उत्पन्न करे । इस संबंध में शुक्ल जी की दृष्टि स्पष्ट और स्वच्छन्द है । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते मिलते हैं कि वे सभी प्रयोग जो यथार्थ प्रेषणीयता में बाधक हो, काव्य के लिए हित कर नहीं हो सकते । अलंकारों के संबंध में भी यह न्याय दृष्टि है । अलंकार को किसी भी स्थिति में अनुचित महत्व देना काव्य सौन्दर्य की विकृति का ही कारण हो सकता है । " विचार बीथी " में उन्होंने अपनी दृष्टि को इस प्रकार स्पष्ट किया है - " किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायेगी । पर यदि कोई वैचित्र्य या चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मन - बहलाव चाहे हो जाय, पर काव्य की लीन करने वाली सरसता न पायी जायेगी । केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है । कविता सुनाना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है ।[1] " रूप विधान के संबंध में यह उनकी निष्पक्ष धारणा ही है । इसमें काव्य की अन्तर्वस्तु को अधिक महत्ता देने की चेष्टा भी है ।

---

1. श्री रामचन्द्र शुक्ल -. विचार वीथी ।

भक्त कवि जहाँ भारतीय संस्कृति और लोक जीवन के विविध स्तरों से जुड़कर वस्तु संरचना में प्रवृत्त होता है वहाँ वह एक उचित माध्यम की खोज भी करता है । यह पहले देखा जा चुका है कि भक्त कवि का सबंध सामाजिक जीवन के विविध वर्गीय स्तरों से है । शैली और भाषा के चुनाव में कवि की क्रान्ति चेतना मार्ग दर्शन करती है । स्वभावत: संत में यह चेतना अधिक दिखलाई पड़ती है । संस्कृत के प्रति प्रतिक्रिया के स्वर संजोता हुआ वह लोक भाषा की शक्तियों का उपयोग अपने प्रेषण में करता है । संत मुख्यत: निम्न वर्गों का प्रतिनिधि है और उसका क्षेत्र बहु भाषिक है । इन सबको जोड़कर वहएक मिश्रित भाषा का सूत्रपात करता है जिसको इतिहासकारो ने सदुक्खडी नाम दिया है । संत की भाषा संबंधी नीति भी क्रान्तिकारिणी है । " संस्कृत कूप जल " कहकर संत ने भाषा के बहते नीर को ग्राह्य समझा । इनकी भाषा मिश्रित सधुक्खड़ी है । संस्कृत ही नहीं, साहित्य के क्षेत्र की परिनिष्ठत ब्रजभाषा से भी संत का विशेष लगाव नहीं था । रेख्ता या खड़ीबोली के ढाँचे में पूर्वी बोली, राजस्थानी और पंजाबी का रंग भर गया था और एक लोक-सुलभ सधुक्खड़ी भाषा का जन्म हो गया था । जहाँ मिश्रित खड़ी बोली निर्गुणियाँ संत की वाणी थी, वहाँ ब्रजभाषा में भावात्मक सगुणवाद, या राज्याश्रित प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त पा रही थी । संतों के विद्रोही स्वर का वहन इसी रेख्ता या खड़ीबोली पर आधारित सधुक्खड़ी ने किया । चाहे अपने भाव संकुल क्षणों में वे भी ब्रज भाषा की ओर मुड़ जाते हों ।

जहाँ तक सगुण भक्त कवियों का प्रश्न है वे ब्रजभाषा या अवधी को लेकर चले किन्तु उस ब्रजभाषा और अवधी से यह कवि नहीं जुडना चाहता जिसका संस्कार दरबारी वातावरण में राजरूचि के अनुसार हुआ था । ये कवि भी एक मिश्रित भाषा की प्रश्रय देते हैं यद्यपि इनकी भाषा का मिश्रण संत प्रकृति की भाषा से भिन्न है । तात्पर्य यह है कि कवि अपने वर्गीय संबंधों के प्रति जागरूक है निश्चित रूप से वह उस शिल्प की रचना में संलग्न है जो उसे निम्न वर्ग से भली प्रकार जोड़ सके ।

पाठक और लेखक की इतिहास में एक निश्चित स्थिति होती है । एक ही भौतिक परिवेश के दोनों भोक्ता होते है । पाठक और कृति का संबंध देखते समय यह देखा जाता है कि पाठक का ऐतिहासिक अस्तित्व कृति में कितना और कहाँ तक प्रवेश पा सका है । मध्यकालीन भक्तिकाव्य के रचना - लोक में सामान्य पाठक का बहुविध प्रवेश होता है । वह यह अनुभव करता है कि उसके भौतिक परिवेश और तत्संबंधी चेतना को भक्त कवि के सृजन में उचित रूप से बिंबित और प्रतिबिंबित किया गया है । कवि अपने आसपास के द्वन्द्वात्मक परिवेश को इस प्रकार रचनान्तरित करता है कि पाठक उसको प्रामाणिक मान लेता है । यही प्रेषण की सफलता है । इसीलिए पाठक यह अनुभव करता है कि वर्गीय द्वन्द्व के प्रति उसका दृष्टिकोण साफ हो रहा है । कवि की कृति, ऐसा माध्यम बन जाता है कि वह अपने आपको और समाज को समझ लेता है । उसको अपनी अस्मिता का पुनर्बोध होता है यहाँ तक कि पाठक को यह सारी रचना ऐसी लगती है जैसे कि उसने ही यह सब किया हो । जिस प्रकार सौन्दर्य बोध की प्रक्रिया का आधार कृति होती है उसी प्रकार यह सौन्दर्य ग्रहण का माध्यम भी बन जाती है । अन्तत: यथार्थ, साहित्यकार, कृति और ग्राहक, एक रागात्मक सह अस्तित्व रखने लगते है ।

भक्ति काव्य का पाठक यह भी अनुभव करता है कि भक्त कवि की भाषा में और कृति के भाषागत सम्प्रेषण के मुहावरे में पाठक के भाषिक तत्व निर्बाध रूप में प्रविष्ट हुए । जिस प्रकार कवि सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ की पुनर्रचना करता है । उसी प्रकार वह माध्यम का भी पुनर्गठन करता है । यह तो सत्य है कि काव्य गत भाषा का परिवेश नहीं होता जो समाजगत यथार्थ की भाषा का होता है । यह अन्तर ही सौन्दर्यतात्त्विक अनुभूतियों को प्रमाणित करता है । यह ग्राहक के सौन्दर्य बोध का ही एक भाग है ।

4. भाषा - शैली और लोक :-

विविध त्योहारों एवं पर्वों पर लोक साहित्य के विविध रूप व्यक्तिगत रूप में या सामूहिक रूप में प्रकट होते थे । इन साहित्य रूपों से संत ने बहुत कुछ लेकर लोक की अभिरूचि को आकर्षित किया । बसंत, होली, रमैनी आदि से लोक मानस का सीधा भी सबंध था । संत की रहस्यानुभूति का तादात्म्य लोक रूचि से यद्यपि नहीं था, तथापि अपने निजी काव्य रूपों में, नवीन वस्तु गौरव को पाकर उसे एक नवीन रूचि संस्कार का अनुभव हुआ । लोक को अपने ही माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ उससे निम्न वर्गों के हीनताभाव का भी निराकर हुआ । यह वस्तु लोक की सामान्य चर्चा का विषय तो अवश्य ही बन जाती थी ।

सिद्धों की काव्य-भाषा के समान संतों की काव्य भाषा के भी दो स्तर हैं : उपदेश मूलक साखी साहित्य की काव्यभाषा खड़ी बोली और राजस्थानी की मिश्रित संरचना पर आधारित सधुक्कड़ी है और रमैनी तथा पद साहित्य की काव्य भाषा ब्रजी की प्रकृति की है और कहीं कहीं पूर्वी बोली भी है । डॉ. चटर्जी ने कबीर की काव्य भाषा को मुख्यत: ब्रजभाषा कहा है । जिसमें कोसली या पूर्वी बोली तथा खड़ीबोली के तत्व भी पर्याप्त मात्रा में मौजूद है ।[1] इसे हिन्दी ( हिन्दुस्तानी ) और ब्रजभाषा का मिश्रित रूप कहा जा सकता है ।[2]

गुजरात से लेकर बंगाल तक ( 13 वीं चौदहवीं शती तक ) पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित काव्य भाषा ही मान्य और प्रयुक्त रही । उसी समय आधुनिक आर्य भाषाएँ भी विकसित और संगठित हो रही थी । इन भाषा / बोलियों का प्रभाव भी समस्त आर्यभाषा भाषी प्रदेशों में व्याप्त काव्य-भाषा पर पड़ा । नवोदित आधुनिक आर्य भाषाएँ भी कुछ विशिष्ट काव्य रूपों और रचनाप्रक्रिया के कुछ निजी

---

1. भारत की भाषाएँ - पृ. 60.
2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी - पृ. 198.

क्षेत्रों में काव्य भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगी ।[1] काव्य भाषा की यह दुहरी पंरपरा ही सिद्धों नाथों और संतो के साहित्य में लक्षित है ।

कवि की रचना संबंधी चेतना सदा ही एक स्तर पर नहीं चलती । इसके मोटे रूप से दो स्तर होते हैं : समाजोन्मुख चेतना तथा आत्मोन्मुखी चेतना । जब समाजोन्मुखी चेतना से प्रेरित होकर कवि उपदेशात्मक या महाकाव्यात्मक रचना में प्रवृत्त होता है तो उसे परीनिष्ठित, प्रचलित और अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्रीय भाषा को अपनाना होता है । और जब वह प्रगीतात्मक रचना - प्रक्रिया को समर्पित होता है, तो वह भाषा संबंधी स्वच्छन्दता को भोगते हुए, निजी, सहज मुक्त और क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करके भाषा संबंधी बोझिल कर्तृत्व से मुक्ति का अनुभव करता है । सिद्ध कवि, नाथकवि, संतकवि और विद्यापति का साहित्य का दुहरा - भाषा स्तर इसका प्रमाण है ।

दुहरी काव्य भाषा का कारण यह भी हो सकता है कि कभी-कभी काव्य शास्त्र भाषा प्रयोग संबंधी कुछ रूढ़ियाँ निर्धारित कर देता है । ये रूढ़ियाँ प्राय: काव्य रूपों के संदर्भ में निर्धारित की जाती हैं । संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की भाषा अनिवार्यत: संस्कृत होनी चाहिए, प्राकृत या अपभ्रंश नहीं । " आख्यायिका आदि में काव्य भाषा संबंधी छूट रहती है । यदि कवि दोनों प्रकार के काव्य रूपों की रचना करता है, तो उसे काव्य भाषा के दो स्तर रखने पड़ेंगे ।

काव्य के भेद के अनुसार संघटन या संरचना में भेद हो जाता है ।[2] काव्य रूप का भी काव्य भाषा के चयन और उसके रूप से संबंध होता है । प्रबन्ध काव्य के लिए अवधी उपयुक्त बनी तो गीतिकाव्य के लिए ब्रज भाषा / काव्य रूप के अनुसार काव्य भाषा की रचना में भी अंतर आ जाता है । महाकाव्य जैसे वृहत् काव्य रूप में अन्य काव्य रूप

---

1. डॉ॰ चटर्जी, ओ डी बी एल॰, वॉल्यूम॰ 1 - पृ॰ 134॰
2. आनन्द वर्धन : ध्वन्यालोक : 3 / 7

भी समाविष्ट रह सकते हैं । इसलिए इसमें भाषा संरचना भी बहुस्तरीय हो जाती है । महाकाव्य में वर्णन वैविध्य संबंधी रूढ़ि की चर्चा भारतीय काव्य शास्त्र में मिलती है । इस वैविध्य के कारण प्रयुक्त काव्य भाषा में भी विविध स्तर घटित हो जाते हैं । पात्र और घटनाएँ भी महाकाव्य की काव्य भाषा को नियंत्रित और संचालित करते हैं । महाकाव्य में वर्णनात्मक स्थलों के अतिरिक्त गीतात्मक और नाटकीय स्थल भी होते हैं । इसके अनुसार काव्य भाषा का स्तरीकरण चलता रहता है । इस प्रधान महाकाव्य की काव्य भाषा इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य की भाषा से भिन्न स्तर की होगी ।[1] रस प्रधान प्रबंध की भाषा असमासा अथवा अल्प समासा होगी ।

महाकाव्य के कवि का भाषा चयन गीतकार की अपेक्षा अधिक सजग सचेतन होता है । महाकाव्य की शब्द योजना सचेतन रूप से सांस्कृतिक और उत्कृष्ट बनाई जाती है ।[2] जहाँ चरित्र या विचार की प्रधानता हो, वहाँ अनलंकृत काव्य भाषा होनी चाहिए । अन्य स्थलों पर अलंकृत शब्दावली का प्रयोग हो सकता है ।[3] इसके विपरीत गीति-विधा में पात्र, कार्य व्यापार और विचार प्रमुख नहीं होते । उसमें अनुभूति ही सर्वातिशय होती है । फलतः गीति काव्य की काव्य भाषा में महाकाव्योचित भाषा स्तरों का वैविध्य नहीं मिलता । गीतिकाव्य की भाषा सहज, अनौपचारिक, अधिक नादात्मक और निजी होती है । यह भाषा सामाजिक या बाह्य भाषा की अपेक्षा आंतरिक भाषा के अधिक समीप होती है । महाकाव्य की भाषा जहाँ अतिव्यवस्थित होती है वहाँ गीतिकाव्य की भाषा अल्प व्यवस्थित होती है क्योंकि गीति में अनुभविता और वक्ता दोनों ही कवि होता है । इन विशेषताओं के अनुसार ही बहु अनुभवों और अनुभूतियों की भक्तिकाव्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए

---

1. ये भेद ध्वन्यालोक § 3.7 § में बतलाए गए हैं ।
2. अरस्तू " आन दि आर्ट आफ पोयट्री " § अनु. टी. एस. डोर्स. पेंग्विन बुक्स, 1965 - पृ. 66.
3. - वही - पृ. - 69.

अनेक रूपीय भाषा प्रकारों की विविध विधाओं में प्रयुक्त की है । यह मध्य कालीन भाषा परक विशिष्टता रही है ।

5. वस्तु ग्रहण : पाठक का संदर्भ :-

आज भी हिन्दी प्रदेश में कबीर की छाप से अंकित अनेक श्रृंगारिक पद होली आदि के अवसरों पर गाए जाते है । चाहे वे कबीर रचे क्यों न हों । " कबीर " नामक एक लोक साहित्य - रूप ही पूर्वी क्षेत्रों में मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि लोक जीवन के स्वत: सद्य रूपों को लेकर संत ने एक ऐसा रसायन लोक को दिया, जो लोक की रुचि का बहुत दूरी तक परिष्कार कर सका । जिन वैवाहिक या श्रृंगार रूप को कबीर आदि संतों ने अपने आध्यात्मिक मिलनोत्सव की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए ग्रहण किया, उनमें लोक मानस रम गया । जिस असंस्कृत श्रृंगार की झांकी लोक के अनगढ़ साहित्य में मिलती थी । उसको एक उदात्त भूमिका प्राप्त हुई । घोर से घोर श्रृंगार गीतों की आध्यात्मिक व्यंजना संभव होने लगी । लोक रुचि इन नवीन चमत्कार से चमत्कृत हुई । जिस प्रकार संत दर्शन की मूल विशेषता लोक धर्मिता है, उसी प्रकार संत साहित्य की विशेषता उसका लोक रुचि से सम्पृक्त होना माना जा सकता हैं ।

साधना परक साहित्य जिन उलटवासियों में प्रकट हो रहा था, वे भी लोक रुचि में चमत्कार और कौतूहल भरने लगीं । साधना का पारिभाषिक रूप प्रेमानुभूति के संस्पर्श में सजल हो जाना है । नीति साहित्य तो लोक जीवन में खरे सिक्कों की तरह चलने लगा । इस साहित्य में सामाजिक जीवन के सत्य अनूठे लोक परक अप्रस्तुतों के माध्यम से प्रकट होते हैं । काव्य के क्षेत्र में संत की क्रान्ति चेतना इसी रूप में प्रकट होती है कि उसने जितने काव्यरूपों का प्रयोग किया, उन्हें शास्त्रीय परंपरा से ग्रहण नहीं किया गया । सभी के स्रोत लोक साहित्य में हैं । यही कारण है कि संत साहित्य में प्रयुक्त सभी काव्य रूपों की सज्जा में लोक जीवन की उन्मुक्तता और क्षिप्रता मिलती है ।

काव्य की समग्र प्रक्रिया काव्योत्पत्ति तक सीमित नहीं है । उद्दिष्ट पाठक वर्ग तक उसका प्रेषण और प्रेष्य का ग्राहक द्वारा ग्रहण एवं मूल्यांकन ही इस प्रक्रिया को पूर्ण बनाते हैं । प्रेषण और मूल्यांकन ही इस प्रक्रिया के अनिवार्य अंग है । इस सिद्धान्त का कथन तुलसी की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में है ।

मणि मानिक मुक्ता छवि जैसी । अहि गिरि गजसिर सोह न तैसी ।
नृप किरीट, तरूनी तन पाई । लहहि सकल सोभा अधिकाई
तैसेइ सुकवि कविता बुध कहही । उपजहि अनत छवि लहई ।[1]

आत्म मुखी या कलावादी कवि काव्य की ग्राहक द्वारा परख के प्रति अधिक सजग नहीं रहता । यदि कवि ग्राहक के प्रति अधिक प्रतिबद्ध अनुभव करता है, तो काव्य की कवि गत प्रक्रिया अचेतन तत्वों को छोड़ती हुई चेतन तत्वों को सहेजती है । इस काव्य की मूल प्रकृति में ही अंतर उपस्थित हो जाता है । यह अंतर कुछ कुछ सूर और तुलसी की काव्य प्रक्रिया की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है । तुलसी के ध्यान में सदैव प्रबुद्ध पाठक वर्ग रहता है । सामान्य जन का भी विलय प्रबुद्ध पाठक में हीं जाता है --- इसीलिए कवि कह उठते है --

जो प्रबन्ध नहिं बुध आदरही । सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ।[2]

इस प्रकार तुलसी का काव्य प्रयोजन और उसकी कसौटी दोनों ही स्पष्ट हो जाते है । काव्य का प्रयोजन तो सामाजिक हित है, पर वह कवि के द्वारा कह देने मात्र से उत्पन्न नहीं हो जाता । उसका यह पक्ष तो समाज में उसके प्रचार और विद्वानों द्वारा

---

1. रामचरित मानस, तुलसी दो - चौपाई - 11, बाल कांड
2. रामचरित मानस, चौपाई - 13, बाल कांड

उसके आदर के साथ सिद्ध होता है ।[1] रसवादी, कृष्ण भक्त कवि प्रबुद्ध ग्राहक या साधुं समाज में सम्मान पाने की इतनी बलवती आकांक्षा में नहीं भूलता था —

" होउ प्रसन्न देहु बरदानू । साधु समाज भनिति सम्मानू ।।

तुलसी की इन्ही उक्तियों के प्रकाश में उनके स्वान्त: सुखाय " वाली उक्ति को समझना चाहिए । संभवत: तुलसी का " स्वान्त: सुख " बुध जनों और साधु समाज में सम्मान पाने से ही सिद्ध होता है । काव्य की समग्र प्रक्रिया भी इसी पक्ष तक फैलती है और " स्वान्त सुख " समग्र प्रक्रिया का की परिणाम है ।

---

1. डॉ. भागीरथ मिश्र, तुलसी का काव्य दर्शन, हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, - पृ. 452.

6· भीक्त साहित्य : जन साहित्य :-

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि भीक्त साहित्य न विशेष रूप से उच्च वर्गों के लिए लिखया गया था और न उच्च वर्गीय रूचि और प्रेरणा ही इसमें प्रीतफलित हुई थी । कवि भी उच्च वर्गों में उत्पन्न नहीं हुए और जो उच्च वर्गीय कवि दिखलाई भी पड़ते है, वे अभिजात्य को ठाट को भूल कर ही साहित्य रचना में प्रवृत्त हुए हैं । इस प्रकार जन कवि के द्वारा जन साहित्य की सृष्टि हुई है ।

समाज में वर्गों के अनुसार भी साहित्य की पहचान कराई जाती है । उच्च वर्गीय साहित्य कुछ ऐसी दुरूहताओं से भरा रहता है जिनको उच्च वर्ग, कला या कला का चमत्कार मानता है । यही दुरूहता एक दीवार बन जाती है जो उच्च वर्गीय साहित्य और जन साहित्य को अलगाती है । सामान्य जन के बोध से ऐसी रचना परे हो जाती है । एक प्रकार से यह लादी हुई दुरूहता है । समाजवादी दृष्टि से यह साहित्य प्रतिक्रिया और ठहराव से संबंधित है । समाजवादी विचारक जन सुलभ साहित्य को ही स्वीकार करके चलता है । टालस्टाय ने एक बार कहा था कि जिन पुस्तकों को जनता समझती है पसंद करती है वे जनता से ही उद्भुत पुस्तकें हैं । इस दृष्टि से भक्ति साहित्य जनता का साहित्य है जिसकी रचना जनता के प्रतिनिधियों ने की है ।

भक्त कवि मानव और उसके परिप्रेक्ष्य से साहित्य की सामग्री और उसकी प्रेरणा ग्रहण करता है । यह मानव साहित्य को ही ग्रहण करके चलता है ।

हमारे अर्वाचीन भारतीय मनीषियों ने यही उद्घोष किया है, " न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् " मानव ही सम्पूर्ण वस्तुओं एवं मूल्यों का प्रतिमान है । उसी मानव जीवन के चिरंतन मूल्यों एवं शाश्वत् सतगुणों की व्यंजना में करूणा एवं मानव बंधुता की शिक्षा देते हुए महात्मा बुद्ध " कन्फ्यूशियस ", जरंघुष्ट, ईसा एवं महात्मा गांधी जैसे धार्मोपदेशकों ने अपना जीवन उत्सर्ग किया । महावीर एवं ईसाई संत फ्रांसिस ने प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव जगाने में जीवन रूपाकार गीता की " आत्मवत् " सर्वभूतेषु की भावना को पुनर्जीवित किया । मानव मानव के मध्य जब मानवता का अतीत लोप हो चुका था, मानवीय सदवृत्तियों, प्रेम, क्षमा, करूणा, शील, सेवा, विनय त्याग एवं अहिंसादिक चिरन्तन मूल्य जब लुप्त प्राय: होते प्रतीत हुए, ऐसे मानवतावादी आदर्शों को मनुष्य ने सभ्यता के विकास में धीरे-धीरे प्राप्त किया । अतीत के आदर्श कालक्रम में संस्कृतियों के अन्तर्गत आधार भूत नैतिक तत्वों के रूप में समाहित हुए । प्राणित्व मात्र के प्रति आदर अनेक युगों में जाकर मानवता का गुण बना ।

साहित्य की सभी विधाएँ किसी न किसी प्रकार आदमी से जुड़ी होती है । एक समय था जब मनुष्य का अध्ययन उसे ईश्वर उसे जोड़कर ही किया जाता था । फिर समय आया कि मनुष्य का अध्ययन ईश्वर से निरपेक्ष होकर किया जाने लगा । यही मनुष्य का " यथार्थ " अध्ययन होता जा रहा है । ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त कवि का " मनुष्य " ईश्वर और धर्म की भावना से परिचालित है । यदि यह बात हो तब भी इसके द्वारा न मनुष्य का तिरस्कार ही दिखलाई पड़ता और न ईश्वर न मनुष्य में भेद ही रह जाता है । भक्त कवि ने जिस लोक धर्म में परंपरा गत धर्म का रूपान्तरण किया वह भी मानव धर्म की संज्ञा पा सकता है ।

मानवतावाद का एक अभिप्राय धार्मिक है - ईसा को दिव्य न मानकर मनुष्य मानना ईसाई मत में मानवता वाद कहलाता है । हिन्दु अवतारों को महापुरुषों के रूप में कल्पित करना भी इसी प्रकार का मानवतावाद कहा जाएगा । किन्तु इस शब्द का सामान्य व्यवहार मानव सेवा के आधार परक अर्थ में होता है । डॉ• श्वाइत्जर के अनुसार " मानवता " शब्द से हमारा तात्पर्य होता है -- " साथी इंसान के प्रति आदमी की वास्तविक सदिच्छा । इस शब्द से यह संकेतित है कि हमें न केवल इसलिए करूणाशील होना चाहिए कि यह एक नैतिक आदर्श है, अपितु इसलिए कि यह ( करूणाशीलता ) मानव स्वभाव की स्वयं एक विशेषता है ।[1]

हीगल ने एक स्थान पर लिखा है, " कला में मनुष्य की सर्वसाधारण आध्यात्मिक दशा का प्रकाशित होना आवश्यक है । आध्यात्मिकता को जितना ही रूप के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है, उतनी ही कला सार्थक होती है । आध्यात्मिक शब्द से इस स्थान पर " मनुष्य के अन्तर का समस्त भाव " अर्थ ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् प्रेम, वात्सल्य, वीरत्व, उत्साह तथा क्रोध आदि को ग्रहण करना चाहिए । "[2]

---

1• Humanity - UNIVERSTAS VOC.5 1962 No.3.

2• डॉ•सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, सौन्दर्य तत्व ।
( अनु• डॉ•आनन्द प्रकाश दीक्षित ) पृ• 272 पर उद्धृत

दार्शनिक मतवादों की विभिन्नता के कारण किसी संप्रदाय के दार्शनिक तत्ववाद के साथ उन्हें सम्बद्ध किया गया और अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, सूफी एकेश्वरवाद आदि के दर्शन इनके उपदेशों में किए गए हैं । फलस्वरूप मतवादों के साथ पूर्ण-संगति नहीं मिलने के कारण इन्हें, अविचारक, संगतिहीन, अशिक्षित दंभी कोरे उपदेशक आदि कहा जाता रहा । इन संतों की विचार धारा को समझने के लिए किसी मतवादी दर्शन की प्रणाली से सम्बद्ध करना उचित नहीं । विचारों की स्वतंत्रता इनमें पर्याप्त है, किन्तु शास्त्र व्यवस्था और पुस्तकीय ज्ञान को इन्होंने प्रमाण नहीं माना है जिसकी सुदीर्घ परंपरा है । इन शास्त्रीय आधारों पर निर्भर आचार-नीति सामाजिक व्यवस्था और अनुशासन इनके लिए अमान्य हो जाते हैं ।

इन संतों का मुख्य लक्ष्य है मानव की प्रतिष्ठा, उसके आन्तरिक सद्भाव और सात्विक वृत्ति में आस्था । धर्म, सम्प्रदाय, विद्याधन आदि की भूमिका में देखने के कारण व्यक्तियों की दृष्टि अवरूद्ध होती है । अत: इनका परिहार आवश्यक होता है और परम तत्व की एकता स्थापित कर व्यक्ति की सामाजिक असमानता का निराकरण, जीव, जगत और ईश्वर संबंधी सभी विचारों की संगति इस मूल चेतना के अनुबंध में है । मानव की एकता प्रेम और सद्भाव के द्वारा ही स्थापित हो सकती है । जिस काल में संत हुए थे उस समय इनका अभाव था, अत: प्रेम ही उस परम तत्व का स्वरूप बन गया जहाँ नाना प्रकार के मतवाद के कारण विचारगत विश्रृंखलता को दूर कर श्रृंखला उपस्थित करने का प्रयास उपनिषदों में हुआ, जहाँ ज्ञान ही अमृत और जीवन बना, वहाँ प्रेम के तत्व की व्यापकता द्वारा उस अमृत को रस (भाव) पूर्ण किया गया ।

अंत में यह कहा जा सकता है कि संत दर्शन और साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है । केन्द्र से वर्गीय स्वार्थों को हटाकर मानव की प्रतिष्ठा करने के लिए संत ने एक चर्तुमुखी क्रान्ति की है । मानव-मानव के बीच खड़ी जो दीवारें समाज के खंड कर रही थीं, उन्हें धराशायी करने में संत निर्भय रूप से प्रयत्न करता रहा । उसका धर्म पूर्व-

ग्राही नहीं, सार ग्राही था -- "सार - सार को गहि रही " -- उसका संदेश था । संदेश की जटिल पद्धतियों को वह सहज जीवन की ओर उन्मुख कर रहा था । प्रेम और भक्ति के क्गारों में संत का समन्वित जीवन दर्शन प्रवाहित होता है । योग, ज्ञान आदि सभी एक रासायनिक प्रक्रिया में पड़कर सजीव और सुडौल बन गए थे । सभी प्रकार के वर्गगत, जातिगत एवं सम्प्रदायगत संघर्षों का शमन संत की हार्दिक कामना थी । उसका व्यक्तित्व एक महान, क्रान्तिकारी का व्यक्तित्व है । उसमें एक आँधी है जो थोथे और निर्जीव मूल्यों को उड़ा देना चाहती है । उसमें एक रसधारा है जिसके सहारे मानववादी जीवनमूल्यों की जड़ें मानव मन की गहराइयों को भेदती चली जाती है और यह सब एक लोक सम्मत शैली और भाषा के माध्यम से उत्पन्न होता है । संत की क्रान्ति चेतना उस लोक व्यापी चेतना की अभिव्यक्ति है, जो युग-युग में उभरती चली आई है ।

तुलसी ने कहा है कि यदि काव्य साधना - प्राकृत जन के गुणगान में समर्पित कर दी जाती है, तो प्रतिभा और साधना का अपमान और दुरूपयोग ही होता है --

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना ।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना ।। [1]

इसका स्पष्टीकरण डा॰भगीरथ मिश्र ने इस प्रकार किया है, " वास्तव में उनका अभिप्राय उस समय की चारण वृत्ति से है जिसमें कवि अपने आश्रय दाता से धन और वैभव की प्राप्ति की अभिलाषा में झूठी-सच्ची प्रशंसा करता था । निश्चय है कि लोक हृदय इन अनेक अत्याचारी और दुराचारी व्यक्तियों की प्रशंसा में तन्मय हो नहीं सकता था । " [2] कवित्व जैसे प्रभावशाली माध्यम का उपयोग कवि को सचेतन होकर करना चाहिए । समाज विरोधी जनों का गुणगान करने से समाज की बहुत हानि हो सकती है ।

---

1.

2. हिन्दी अनुशीलन, " धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक " पृ॰ 455.

## 5·7 साहित्य के आधुनिक प्रतिमान और भक्ति साहित्य :-

भक्ति साहित्य के परवर्ती युगों में भक्ति कालीन काव्य मूल्य किसी न किसी रूप में बने रहे । उन पर पुनर्विचार भी हुआ । ऐतिहासिक रूप से मध्य युग से सबंधित होने पर भी भक्ति साहित्य के सौन्दर्यगत मूल्यों का योगदान प्रतिमानों के निर्माण में भी हुआ । शुक्ल जी इसके पुरोधा बने । इसकी समीक्षा के माध्यम से भक्तिकालीन प्रतिमान भी आज तक किसी न किसी रूप में चले आ रहे हैं । यही कालजयी साहित्य की विशेषता है ।

## 5•7•1 मध्यकालीन प्रतिमान :-

प्रतिमान के निर्माण का कोई सचेतन प्रयास तो मध्यकाल में नहीं हुआ, फिर भी कुछ उपकरण ऐसे मिल जाते हैं । निर्गुणियाँ संतों ने किसी निश्चित साहित्यिक प्रतिमान की प्रतिष्ठा तो नहीं की, पर उनके लक्ष्य साहित्य के आधार पर एक प्रतिमान निश्चित किया जा सकता है । इस प्रतिमान में आधुनिक प्रगतिशील तत्व अधिक मुखर होंगे । कृष्ण भक्त कवियों के साहित्य पर व्यवहृत करने के लिए एक प्रतिमान अवश्य मिल जाता है -- बंगाली वैष्णव गोस्वामियों द्वारा निर्धारित प्रतिमान । इसमें परंपरागत रस-सिद्धान्त का आधार लेकर उज्जवल भक्ति के सिद्धांत का सन्निवेश है । रस सिद्धान्त की भक्ति परक परिणति प्राय: सभी कृष्ण भक्त कवियों के साहित्य में मिलती है । इस प्रकार शुद्ध रस-भाव को लेकर एक प्रतिमान रचा गया जिसमें भावों की लौकिक तीव्रता और अलौकिक परिणति का समन्वय था और जिसमें रसाश्रयी रहस्यवाद की झलक थी ।

भक्त कवियों ने अस्फुट रूप से काव्य के प्रतिमानों पर अपने विचार प्रकट किए हैं । तुलसी ने व्यवस्थित रूप से उन प्रतिमानों का कथन किया है जो सारे भक्ति कालीन साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं । तुलसी द्वारा निर्धारित इन प्रतिमानों को इसलिए देखना आवश्यक है कि उनको आधुनिक प्रतिमानों की संगत में रखकर देखा जा सके ।

## भक्ति साहित्य के प्रतिमान तुलसी के आधार पर :-

तुलसी के प्रतिमान की मूल दृष्टि उपयोगितावादिनी है । काव्य को वर्गोपयोगी नहीं, सर्वोपयोगी होना चाहिए ।[1] यदि समस्त भक्ति साहित्य को देखा जाय तो उसकी तीन मूल प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती है, सामाजिक मूल्यों की स्वीकृति,

---

1• कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कर हित होई ।

इस प्रकार तुलसी की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता का तात्पर्य है विकार ग्रस्त चेतना की मुक्ति ।[1] नैतिक उपयोगिता पर तुलसी का ध्यान दृढ़ता से केन्द्रित है । अस्त व्यस्त नैतिक मूल्यों को सुस्थिर रूप देना अवश्य ही उनकी दृष्टि में काव्य का मुख्य प्रयोजन है । भारत में इस प्रकार के उपयोगितावादी काव्य की सुदीर्घ परंपरा रही है, महाभारत, रामायण, पुराण स्तोत्र काव्य एवं नीति काव्य इसी श्रृंखला की कड़ियाँ हैं । तुलसी ने इन सभी का उपयोग करके, वैष्णव उपयोगितावाद या धार्मिक उपयोगितावाद का प्रतिमान खड़ा किया है । तुलसी का उपयोगितावाद या लोक मंगल वैयक्तिक एवं सामाजिक सुरक्षा की प्रवृत्ति की ही विवृत्ति है । उपयोगितावाद का लक्ष्य सामाजिक मूल्यों की पुर्नव्यवस्था है । आत्म सुरक्षा अपनी प्राकृतिक स्थिति से उभर उदात्त नैतिक भावना में परिणत हो जाती है । मूल वृत्ति का यही उदात्त एवं परिष्कृत रूप काव्य वस्तु का श्रृंगार बन जाता है ।

उपयोगितावादी प्रतिमान काव्य में वस्तु की महत्ता का समर्थक होता है । वस्तु की महानता से ही काव्य महान बनता है । भाषा शिल्प का स्थान इस दृष्टि से गौण ही है ।[2] रामचरित मानस की महानता किसी शैलीगत भव्यता का परिणाम नहीं, उसकी महानता इसलिए है कि, " इहि में रघुपति नाम उदारा । " वस्तु के गौरव से " ग्राम्य गिरा " भी महान हो जाती है ।[3] माध्यम के प्रति तुलसी सजग नहीं थे, यह बात तो उनकी काव्य साधना और समाधि को देखने से प्रकट नहीं होती, पर सिद्धान्त बल देने के लिए उन्होंने माध्यम के उपकरणों के प्रति कुछ उदासीनता ही प्रकट की है ।[4] चाहे भाषा-अलंकरण सब प्रकार से हीन और निम्न कोटि का हो,

---

1. विविध दोष - दुख दारिद-दावन, कलि कुचालि कलि कलुष नसावन ।।
2. का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच । काम जो आवै कामरी, का लै करे कमाच
3. स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद कर हि सब पान ।
   गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहि सुजान ।।
4. कबित विवेक एक नहि मोरे । सत्य कहहुँ लिखि कागदकोरे ।

" रामयश " अंकित होने से सर्वग्राह्य हो जाता है ।[1] वस्तु गौरव की यह परंपरा राम काव्य धारा में बहुत पहले से चली आरही थी । स्वयंभू ने अपने काव्य शास्त्रीय सीमित ज्ञान की ओर संकेत किया है ।

वस्तु का गौरव दो प्रकार का हो सकता है : सौन्दर्य मूलक और वस्तु मूलक । प्रथम कोटि के गौरव को अंकित करने वाला माध्यम कुछ शिल्पगत सौन्दर्य भी रखना चाहता है । वस्तु गौरव और शिल्प सौन्दर्य का समन्वय इस पद्धति में रहता है । नीति गौरव से युक्त वस्तु को शास्त्रीय अनुमोदन, परंपरा का बल, और लोक का समर्थन प्राप्त होता है । अत: शिल्प के उपकरण अपेक्षाकृत उपेक्षित एवं गौण हो जाते हैं । इसमें वस्तु गौरव उपयोगिता मूलक हो जाता है ।

भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा में वस्तु की अपेक्षा कवि प्रतिभा पर अधिक बल दिया गया है । काव्य प्रतिभा होने पर काव्य के विषय अनन्त हो जाते है ।[2] प्रतिभा के संस्पर्श से चिर परिचित पुरानी वस्तु भी नवीन हो सकती है ।[3] " रीति " के उपकरणों के बिना अर्थ-सम्पदा ( = वस्तु ) का उत्कर्ष नहीं हो सकता ।[4] काव्य में वस्तु अपने प्रकृत रूप में नहीं रह सकती । कवि प्रतिभा वस्तु का नव-संस्कार करती है ।[5] इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र में वस्तु के स्वतंत्र गौरव को स्वीकार नहीं किया है । फिर भी नीति प्रधान, धार्मिक परंपरित और उपदेश प्रधान वस्तु कवि प्रतिभा और शैली की इतनी मुखापेक्षी नहीं होती, जितनी प्राकृतिक या रागात्मक वस्तु । यह विश्वास मध्यकालीन भक्त कवियों का रहा है ।

---

1. सब गुन रहित कुकवि कृति बानी । राम नाम जस अंकित जानी ।
   सादर कहहि सुनहि बुध ताही । मधुकर सरिस संत गुनग्राही ।।
2. आनन्द, ध्वन्यालोक 4 / 6
3. - वही - 4 / 4
4. डॉ॰नगेन्द्र (वामन का मत) हिन्दी का काव्यालंकार सूत्र, भूमिका - पृ॰12॰
5. ... विदग्ध मणित भीग निवेद्य वस्तुनो रूपं न नियत स्वभावम् इति ।
   अवन्ति सुन्दरी, दाह वस्तु स्वभावोड क्वेर तंत्रं गुणागुणावुक्ति वशेन काव्यम्
   राजशेखर : काव्य मीमांसा ।

पाश्चात्य जगत में भी वस्तु संबंधी कुछ विवाद रहा है । विवाद के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व आई॰ए॰ रिचर्ड्स करते है और दूसरे पक्ष के समर्थक ब्रेडले कहे जाते हैं । रिचर्ड्स ने विषय वस्तु को साहित्य का महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य तत्व माना है । इस मान्यता का समर्थन एक दीर्घ वस्तुवादी परंपरा करती है । नैतिक और मूल्य परक वस्तु गौरव की परंपरा ग्रीक दार्शनिकों तक जाती है । रिचर्ड्स इस परंपरा में परम आश्वस्त है ।[1] तुलसी भी वस्तु गौरव संबंधी मान्यता को लेकर चले थे । पर प्रकृतिक: गौरव नैतिक और धार्मिक वस्तु का ही सिद्ध होता है ।

सरल भाषा की वस्तु गौरव के साथ संगति बिठाना और सरल माध्यम को उचित सौन्दर्योपकरणों से सुसज्जित करना कोई सरल बात नहीं है । इसकी संभावना तभी होती है जब वैचारिक अन्विति सरल और सुलझी हुई हो । इसीलिए तुलसी ने कह दिया, " सो न होय बिनु बिमल मति ।" यदि वैचारिक पीठिका स्वच्छ व सरल है तो भाषा योजना भी ऐसी हो सकती है ।

भाषा प्रयोग में कवि को किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित नहीं होना चाहिए । भाषा संबंधी पूर्वाग्रह भाषा प्रयोग को स्वाभाविक नहीं रहने देते । साथ ही भाषा बोध का क्षेत्र भी संकीर्ण हो जाता है । यदि माध्यम को विस्तृत प्रभाव क्षेत्र से सम्बद्ध करना है तो भाषा मिश्रण एवं समन्वय आवश्यक हो जाता है । तुलसी ने ब्रजी और अवधी का सामंजस्य करके एक महत्वपूर्ण कार्य किया । डॉ॰श्रीधर सिंह ने इस संबंध में लिखा है, " अत: तुलसीदास के लिए हिन्दी की केवल दो भाषाएँ ब्रजी और अवधी बच रही जिनका उत्कर्ष करना आवश्यक था । हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी और पूरबी दो छोर ऐसे थे जिनकी सम्यक अन्विति अपेक्षित थी । "[2] अपने काव्य के लिए एक विस्तृत क्षेत्र निर्माण करना भी उपयोगितावादी कवि के लिए आवश्यक होता है ।

---

1. युनानी विद्वानों का तो यह मत था ही । मैथ्यू आर्नल्ड भी वस्तु गौरव वाले सिद्धान्त के समर्थक है । शुक्ल जी भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते है ।
2. तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन - श्रीधर सिंह - पृ॰ 140॰

कवि मानस में ही काव्य खिलता है । उत्पत्ति क्रम तुलसी ने यह बतलाया ---

हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वांति सारदा कहैं सुजाना ।
जो बरषइ बरबारि बिचारू । होहि कबित मुक्तामनि चारू ।[1]

यह रूपक प्रतीकात्मक है । कवि का हृदय एक विशाल राग-सागर है । " राग के माध्यम से ही इसमें अनुभवों और भावनाओं का जल उमड़ता है । कल्पना और वस्तु शिल्प योजना में सक्रिय बुद्धि राग-सागर की एक सीपी है । " सारदा प्रतिभा की प्रतीक है । प्रतिभा स्वत: संभूत है । राग और प्रतिभा के संस्पर्श से बुद्धि " वस्तु " को काव्य में परिणत कर देती है । इस प्रकार कवि के मन में होने वाली सृजन प्रक्रिया को तुलसी ने ऊपर की पंक्तियों में दिया है । इस प्रक्रिया में प्राय: सभी किसी न किसी प्रकार, राग, बुद्धि और प्रतिभा का सहयोग मानते हैं ।

## 7•2 आधुनिक प्रतिमान : शुक्ल मानस :-

आधुनिक युग में भक्त कवियों का स्वर बदला । रीतिकालीन प्रतिमान अस्वीकृत हुए । मात्र उपयोगितावादी दृष्टि ही अब मान्य नहीं रही ।" कविताई " की भव्यता भी स्वीकृत हुई । रत्नाकर जी ने उसके जीवनोपयोगी प्रभाव और काव्य-गत सौष्ठव, दोनों को ही स्वीकार किया : " दास तुलसी की नीकी कविता उदार, चारु जीवन आधार और सिंगार कविताई की । " हरि औध जी तुलसी की कला के कायल है । उनकी अनूठी स्वीकारोक्ति इस प्रकार है - " कविता करके तुलसी न लसे कविता लसि पा तुलसी की कला ।" इस प्रकार द्विवेदी युगीन कवियों ने तुलसी के वस्तु गौरव को स्वीकार करते हुए तुलसी की कला पर ध्यान केन्द्रित किया । एक प्रकार से द्विवेदी युगीन काव्य प्रतिमान, तुलसी के काव्य प्रतिमान से अधिक भिन्न नहीं है ।

<u>आधुनिक प्रतिमान शुक्ल जी के आधार पर</u> : तुलसी के साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर आधुनिक युग में शुक्ल जी के प्रतिमानों का भवन खड़ा है । आधुनिक युग में इन प्रतिमानों की परिणति को मुख्य रूप से शुक्ल जी के आधार पर देख लेना उचित होगा ।

तुलसी की मान्यताओं एवं संधारणाओं पर आधारित शुक्लीय प्रतिमान इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है । शुक्लजी के प्रतिमानों के रूप में जैसे तुलसी के प्रतिमानों का ही नव जन्म हुआ हो । तुलसी के प्रतिमानों को नवीन विस्तृतियाँ शुक्ल जी ने दी । हिन्दी में आधुनिक आलोचना का उदय ही तुलसी के प्रतिमानों और उनके शुक्लकृत नव -संस्कारों से हुआ । रीतिकालीन मानदण्डों के प्रति आधुनिकता ने सिर तो भारतेन्दु काल से ही उठाना प्रारंभ कर दिया था, पर समीक्षा के क्षेत्र में आधुनिक समीक्षा का तब न रूप ही स्थिर हो पाया था और न परंपरा ही चल पाई थी । द्विवेदी युग प्राचीन मानदण्डों के पुनरूत्थान का युग था ।[1] इसके प्रभाव स्वरूप द्विवेदी युग में संस्कृत साहित्य का अनुशीलन हुआ ।[2] इस प्रकार संस्कृत समीक्षा के मानदण्ड साहित्यिक पुनरूत्थान के अंग बन गए ।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा में पुनरूत्थान आधुनिकता के हाव भाव से युक्त हो गया है । इसीलिए पुनरूत्थानवादी आधुनिक समीक्षाओं के प्रवर्तक के रूप में शुक्ल जी की मान्यता होना स्वाभाविक है । संस्कृत के रसवाद और तुलसी के नैतिक प्रतिमानों के पुनरूत्थान के साथ-साथ शुक्ल जी पर आधुनिक पाश्चात्य मानदण्डों का भी

---

1. आर्य समाज, सनातन धर्म, ब्रह्म समाज, विवेकानन्द, रामकृष्ण परम हंस सभी की टेक सांस्कृतिक पुनरूत्थान की थी ।

2. द्विवेदी जी ने स्वयं " विक्रमाक्देव चरित चर्चा ", " कालिदास की निरंकुशता " जैसी छोटी - मोटी रचनाएँ दीं ।

असर है । [1] यदि भाव विवेचन शैंड के " फाउन्डेशन ऑफ कैरेक्टर " से प्रभावित है, तो तुलसी के प्रतिमान के मूलाधार लोक मंगल को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने थियोडोर वैट्स, डंटन से प्रेरणा ली है । " काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था नामक निबंध में " सिद्धावस्था और " साधनावस्था " की चर्चा की है । इस पर डंटन के " शाक्तिकाव्य " ( पोयट्री एज एन एनर्जी ) और " कला काव्य " ( पोयट्री एज एन आर्ट ) इस विभाजन का प्रभाव है । भक्ति कालीन साहित्य की दो प्रमुख धाराओं को समझने में यह सूत्र अवश्य ही उपयोगी रहा । इस प्रकार प्रतिमान के पुनरूत्थान को आधुनिक बनाने की चेष्टा की गयी । चाहे प्रेरणा सूत्र कहीं बाहर का हो, मीमांसा शुक्ल जी की अपनी है । इस प्रकार बीसवीं शती के आरंभ और उन्नीसवीं शती के अंत के पश्चात् सिद्धान्तों की उद्धरणी और व्याख्या के आधार पर शुक्ल जी ने रसवादी एवं लोक मंगल परक प्रतिमानों के आधुनिकी करण का प्रयत्न किया ।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुक्ल जी के निजी संस्कारों और तुलसी के अत्याधिक प्रभाव से बाधित रही । शुक्ल जी लोक-मंगल के सिद्धान्त की चर्चा तुलसी की भाँति ही करते है । उसके लिए सामाजिक समता और अधिक से अधिक लोगों का अधिक उपकार जैसी आधुनिक शब्दावली का प्रयोग भी उन्होंने किया है । पर प्राय: हम उन्हें मध्य वर्गीय और मध्यकालीन संस्कृति की हिमायत करते पाते हैं । अपने संस्कारों के कारण ही मध्यवर्गीय संस्कारों से वे मुक्त नहीं हो पाते । तुलसी के संस्कार भी मध्यवर्गीय थे । कबीर के से निम्न वर्गीय संस्कार यदि " लोक मंगल " प्रतिमान को जन्म देते तो बात कुछ दूसरी ही होती । जिस प्रकार तुलसी वर्गसंघर्ष, मध्यवर्गीय संस्कारों च्छेदन और वर्गहीन समाज की स्थापना के प्रति वितृष्ण रहे, उसी प्रकार शुक्ल जी भी " लोक मंगल " की इन व्यावहारिक परिणतियों से झिझकते हैं । इसके साथ ही " तुलसी द्वारा निर्धारित मध्यकालीन नैतिकता से इनकी चेतना दिशा ग्रहण करती है । चेतना आधुनिकता की प्रसव पीड़ा का अनुभव नहीं करती ।

---

1. आई.ए. रिचर्डस में उन्हें अपनी पुनरूत्थान वादी प्रवृत्ति का समर्थन मिला । प्रभाव वादी समीक्षा के विरोधी " स्पिंगर्न के उल्लेख भी मिलते है । क्रोचे और ब्रेडले का प्राय: उन्होंने विरोध ही किया है । ये दोनों " अभिव्यंजनावाद और कला " कला के लिए प्रवृर्त्तक एवं समर्थक है । प्लेटो अरिस्टाटल, जी.डब्ल्यू, मकेल, ए.डी. स्ट्रांग राबर्ठ ग्रेब्ज लारा राइडिंग, गिडिंग, पेटर आदि के नामोल्लेख भी मिलते हैं ।

शुक्ल जी के सिद्धान्त-बोध में विशुद्ध वाद और शाश्वत वाद की वही ध्वनि मिलती है, जो तुलसी में थी । अन्तर इतना ही है कि शाश्वत वाद को भावों एवं मनोविकारों के नवीन विश्लेषण से पुष्ट किया गया है । इनके विवेचन में यदि सामाजिक आधार दृढ़ता से लिया जाता, तो शुक्ल जी के गृहीत प्रतिमान अवश्य ही आधुनिक हो जाते इनके विश्लेषण में सामाजिक आधार न लेकर, अर्द्ध मनोवैज्ञानिक पद्धति से स्वानुभवों को काम में लिया गया है । भाव विकारों का विश्लेषण अन्ततः रस मीमांसा के भाग बन जाते हैं । यह प्रक्रिया पर्याप्त मौलिक है ।

तुलसी की माध्यम संबंधी जो संधारणाएँ थीं, उन्हें शुक्ल जी ने स्वीकारा है । वे सदा कला-पक्ष की सरलता, सुबोधता एवं स्वाभाविकता के पक्षपाती रहे । भाषा और अभिव्यक्ति के प्रसाद गुण का समर्थन रीतिकालीन प्रतिमान के प्रति एक प्रतिक्रिया भी कहा जा सकता है । तुलसी और शुक्ल दोनों का यह एक प्रमुख मान है । जहाँ शुक्ल जी के प्रतिमान में " सुरसरि सम सब कर हित होई " की स्पष्ट गूँज है वहाँ " सरल कवित " की भी दृढ स्वीकृति है ।

तुलसी के प्रभाव से शुक्ल जी के समीक्षा प्रतिमान की दृष्टि से गीतिकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य अधिक महत्वपूर्ण होता है । इसीलिए गीतिमुक्तककार निर्गुणियों, कृष्ण भक्त कवियों और आधुनिक कवियों के काव्य में इन्हें हीनता ही मिलती है । इस मान्यता के कारण भी शुक्लीय प्रतिमान मध्यकालीन से लगते हैं ।

इस प्रकार शुक्लजी ने तुलसी के साहित्यिक प्रतिमानों की पुर्नस्थापना की । इस साधना में आधुनिकता और मौलिकता का पर्याप्त पुट है । इस प्रतिमान का प्रयोग शुक्लजी ने मध्यकालीन साहित्य पर ही सफलता पूर्वक किया है । तुलसी के प्रतिमानों को यदि शुक्ल जी और अधिक जनवादी उदारता से आधुनिक संरचना में ढालते तो शायद शुक्लोत्तर समीक्षा-प्रविधियाँ भी तुलसी के मानों को लेकर चली होतीं । पर आज शुक्ल निकाय में आने वाले समीक्षक " न " के बराबर हैं ।

आज के समीक्षा-मान, विशुद्धवाद, [1] शाश्वतवाद और व्यावहारिक जनवादी परिणतियों से रहित लोक मंगल को मध्यकालीन प्रवंचनाओं से अधिक नहीं मानते । इन परिस्थितियों में तुलसी और शुक्ल के मानदण्ड ठिठक गए हैं और समीक्षा आगे बढ़ गयी है ।

## 7·3 शुक्लोत्तर प्रतिमान :-

शुक्लोत्तर इतिहास प्रखर आधुनिकता और नवीनता का इतिहास है । साहित्य की अनेक पुरानी धाराओं और साहित्य के प्रतिमानों के लिए यह संकट का युग है । मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ का बहुत कम आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आ सका । छायावाद भी आगे चलकर रीतिकालीन वृत्तियों का वायवी और आधुनिक संस्करण कहा जाने लगा । " प्रयोगवाद " का प्रच्छन्न छायावादी रूप भी नाच नाच कर आहत कर डाला गया । इन आकुल-व्याकुल परिस्थितियों में प्रतिमानों का टकराव हुआ । मूल्यगत संक्रमण हुआ और पुराने और मध्यकालीन साहित्य के संरक्षण की समस्या उत्पन्न हुई । इस साहित्य को तो पुनर्मूल्यांकन के लिए भी उपयुक्त नहीं समझा जाने लगा । जैसे कि पुनर्मूल्यांकन की सारी संभावनाएँ ही चुक गई हों । उक्खड निर्गुणियों की वाणी में बासीपन नहीं आया । पुनर्मूल्यांकन तो अब " कामायनी " जैसी आधुनिक काव्य कृतियों का किया जाने लगा । छायावादी साहित्य साधना ही आधुनिक मध्यकाल की साधना के रूप में देखी जाने लगी ।

तुलसी तथा अन्य भक्त कवियों के साहित्य पर नवीन विस्तृतियों वाले पुराने प्रतिमानों का भी प्रयोग हुआ है और नवीन प्रगतिशील प्रतिमान भी प्रयुक्त हुए हैं । पहले प्रयोग ने भक्ति साहित्य की नवीन ग्राहिता को जन्म दिया । इस

---

1. सामाजिक परिणति की दृष्टि से मार्क्स ने निश्चय ही मानव के किन्ही शाश्वत मूल्यों को स्वीकार नहीं किया ।

साहित्य के सौन्दर्य बोध के नवीन धरातलों को इस प्रक्रिया ने उजागर किया । निर्गुणियाँ प्रतिमानों के सत्याश्रित मूल्यों एवं कृष्ण भक्त कवियों के शुद्ध सौन्दर्यपरक मूल्यों की तुलना में तुलसी के लोकमंगल शिव परक मूल्यों को चमकाया गया । रीतिकालीन साहित्य की तुलना में भक्ति साहित्य के नैतिक धरातलों को प्रकट किया गया । द्विवेदी युगीन, गाँधीवादी वातावरण में, इस प्रकार साहित्य की पुनर्प्रतिष्ठा हुई ।

छायावादी सौन्दर्य बोध के साथ भक्ति साहित्य की संगति तो ठीक नहीं बैठती थी, फिर भी प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई । छायावाद की वायवी भूमिकाओं की तुलना में भक्ति साहित्य कुछ अधिक ठोस प्रतीत होता रहा । जब प्रतिमानों को प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि ने ढाला, तो भक्ति साहित्य के लिए संकट उपस्थित हुआ । नवोदित इतिहास बोध के प्रकाश में निर्गुणियाँ संतों की सांस्कृतिक परंपरा का उद्घाटन किया जाने लगा । जो नवीन सुधारवादी आंदोलनों एवं राम-राज्य के आदर्श को लेकर चलनेवाले गाँधी जी के कार्यक्रमों की योजना संतों के सामाजिक कार्यक्रम के समीप ठहरती थी । रवीन्द्र के माध्यम से जब निर्गुणियाँ और सहजिया रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवादी कल्पनाओं में संजीव हो उठा, तब उपेक्षित भक्तिकालीन धाराओं पर युग की दृष्टि अधिक केन्द्रित होने लगी ।

आगे चलकर समाजवादी दृष्टि अधिक प्रखर हुई । फलत: सन्त साहित्य और तुलसी साहित्य की तुलना बरबस होने लगी । प्रगतिशील प्रतिमानों की दृष्टि से तुलसी साहित्य संत साहित्य की अपेक्षा अधिक पुराना और प्रतिक्रियाशील लगने लगा । नारी आंदोलन, अछूतोद्धार आंदोलन और वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए चलने वाली क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में तुलसी साहित्य बिल्कुल शक्तिहीन प्रतीत होने लगा । इस आघात से तुलसी साहित्य का संरक्षण कठिन हो गया । तुलसी साहित्य में यद्यपि निराब्राह्मणवाद ही नहीं था, उसमें मानवतावादी तत्व भी थे, फिर भी तुलसी का सारा वातावरण प्रतिक्रियावादी सा लगने लगा । तुलसी साहित्य को यदि संरक्षण मिला तो प्रतिक्रियावादी उच्च वर्गों में । तुलसी साहित्य के संरक्षण के लिए संस्थाएँ बनी । गीता प्रेस,

गोरखपुर के पौराणिक साहित्य के संरक्षण की योजना में " मानस " का प्रमुख स्थान हो गया । पूँजीपतियों की साधुओं और भक्तों के साथ जो साठ-गाँठ हुई, उसमें भी तुलसी साहित्य का आधार ग्रहण किया गया । तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रियावादी धार्मिक प्रसार में तुलसी साहित्य का माध्यम ग्रहण किया गया । मानस की पुरानी लोकप्रियता का पूरा लाभ इन धार्मिक संस्थाओं ने उठाया । इस प्रकार तुलसी साहित्य प्रगतिशील साहित्यिक प्रतिमानों एवं समाजवादी क्रान्ति से दूर पड़ता गया । धार्मिक संरक्षण ने इस साहित्य की प्रतिक्रियावादी प्रकृति को जैसे और उघाड़कर रख दिया ।

तुलसी साहित्य या तो शोध का विषय रह गया अथवा शोध परक समीक्षा का । प्रगतिशील विचारकों की शोध दृष्टि भी इस साहित्य का स्पर्श नहीं करना चाहती थी । सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य अथवा सन्त साहित्य से प्रगतिशील शोध कार्य अपना नाता जोड़ता था, शुद्ध मानवीय भावों के आधार पर जब शाश्वत साहित्य की मान्यता उभरती थी, तब कृष्ण साहित्य मार्ग में आकर तुलसी से समीक्षक मेधा,को विच्छिन्न कर देता था । स्वच्छन्द प्रेम की रस-वृत्ति का तो तुलसी साहित्य से कोई समझौता सम्भव ही नहीं था । " नये साहित्य " में उभरते हुए, पीड़ित सैक्स के संदर्भ में तो तुलसी अपना नैतिकता भी खो बैठता है । यहाँ प्रश्न यह नहीं कि ठीक क्या है, पर वस्तु स्थिति कुछ ऐसी ही बन गई है । " शुद्ध काव्य " की खोज हुई और धार्मिक एवं नैतिक उपयोगितावाद से भास्वर तुलसी साहित्य, किनारे रह गया । फिर भी सूर का सौन्दर्यवादी स्वर और कबीर की क्रान्ति चेतना आधुनिकता से जुड़ी रही ।

8· पुनर्मूल्यांकन की संभावनाएँ :-

तीन शब्द सामने आते हैं : पुनरूद्धार, पुर्नव्याख्या और पुनर्मूल्यांकन । ये शब्द वस्तुतः समीक्षा के तीन दायित्वों या आयामों को ही व्यक्त करते हैं । इन शब्दों से द्योतित प्रक्रिया उस समय आरंभ होती है जब किसी मूल्य, कवि कृति की अस्वीकृति होने लगती है अथवा मूल्यगत संक्रमण और बदलते मानदण्डों के कारण उनकी स्वीकृति बाधित होने लगती है । पुनरूद्धार की प्रक्रिया शुद्ध बौद्धिक न होकर कुछ रागात्मक भी होती है । अस्वीकृत कृति के प्रति जब सहानुभूति और श्रद्धा उमड़ने लगती है, तब उसके उद्धार की बात की जाती है । शेष दोनों आयाम प्रायः बौद्धिक है । " पुनः विशेषण से युक्त समीक्षावाची शब्द सामयिक मस्तिष्क की अतीत के प्रति बौद्धिक प्रतिक्रिया को ही प्रकट करते हैं ।

पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता मूल्यगत संक्रान्ति या नवीन मूल्यों की स्थापना के पश्चात् ही होती है । मूल्यगत संक्रमण और मानदण्डों का बदलाव साथ-साथ चलते हैं । 19 वीं शती के यूरोप ने मूल्यगत संक्रान्ति को जन्म दिया जो बीसवीं शताब्दी में चरमोन्मुख है । इस समय में मानदण्ड भी बदलने लगे । इस परिस्थिति ने पुन -र्मूल्यांकन की आवश्यकता को जन्म दिया । नवीन मानदण्डों पर पुराने को कसे, तो कितना खरा उतरता है । आज़ादी के बाद पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता और स्पृहा और भी बलवती हुई । आधुनिकता और नवीनता तेज और लम्बे कदम रखकर आने लगीं । आधुनिकता ने नवीन प्रश्न दिए । इनमें से कुछ पर विचार हुआ और कुछ प्रश्न चिह्न बन कर " पुराने " पर जा लटके । भारतीय संविधान नवीन सामाजिक संरचना को जन्म देने लगा । दिनकर जी ने अपने ( आधुनिक और भारत धर्म ) में सही कहा है कि मनु, शंकराचार्य और तुलसीदास आदि के वर्णाश्रम को समाज की आधार भूमि न मानकर, बुद्ध कबीर और राजाराम मोहनराय आदि के जीवन दर्शन को ग्रहण किया जाने लगा है ।

इस नवीन संरचना में तुलसी साहित्य के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न उठा है । कमलेश्वर ने तुलसी संबंधी वस्तु स्थिति, " नयी कहानी की भूमिका " में यूँही कह दी : " आजादी के निकट आते जाने के साथ-साथ ही अपनी विचार सम्पदा का पुनर्मूल्यांकन शुरू हो गया था और उस गंभीर मंथन में कहीं तुलसी की अस्तित्ववादी साकार भक्ति अपने तमाम सामाजिक संकेतों और संबंधों को महान आदर्शात्मकता और ईश्वरीय भय के बावजूद अप्रासंगिक होती दिखाई दे रही थी । " परिस्थिति का व्यंग्य यह था : " भारत का बहुसंख्यक हिन्दू समाज तन से परंपराबद्ध था और मन से परंपरा विरूद्ध । यह परंपरा की जड़ता का ही प्रमाण है । इस वस्तु स्थिति में तुलसी साहित्य का संकट स्पष्ट हो गया । तुलसी के पुनर्मूल्यांकन से समाजवादी या आधुनिक समाज संरचना को बल देनेवाले निष्कर्षों की आशा नहीं रही ।

शुक्ल जी की यह घोषणा कि तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि है निरर्थक या सीमित अर्थवाली लगने लगी । दूसरी ओर तुलसी का परंपरा से अपने को और अपने साहित्य को विच्छिन्न कर लेना भी पीड़ा पहुँचाने लगा । तब एक स्वर डॉ. देवराज ने दिया : " हमारे लिए प्राचीन क्लासिकल साहित्य का मुख्य उपयोग यह है कि यह मारी संवेदना अथवा काव्य रुचि को परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए हमें उच्च कोटि का सृजन करने में मदद दें । "[1] समझ में नहीं आता जो परंपरा जड़ हो गयी है, वह कैसे प्रेरणा देगी । उच्च कोटि के सृजन में सहायता क्लासिकल साहित्य शायद आज नहीं दे पायेगा । शुक्लीय शैली के प्रभाववादी प्रशस्ति कथन - " वे सच-मुच ही इतने बड़े कवि है " कि खरे - से - खरे विश्लेषण की आँच को सह सके । "[2] बेमानी पड़ गए है ।

---

1. प्रतिक्रियाएँ, " राम चरित मानस " — पुनर्मूल्यांकन - पृ. 78.
2. प्रतिक्रियाएँ, " राम चरित मानस " — पुनर्मूल्यांकन

समाज रचना के तुलसी द्वारा दिए गए संकेत आधुनिक संदर्भ में उपयुक्त नहीं है । उनके नैतिक मानदण्ड मध्य वर्गीय चेतना के परिणाम हैं । आज हम उन्हें लेकर भी नहीं चल सकते । जहाँ तक मानवीय सामाजिक संबंधों का प्रश्न है, उसके लिए भी बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों में संकट उपस्थित हो गया है । भाई भाई के संबंध पहले जैसे नहीं रहे न ही फिर से उनका पुराना रूप लौटेगा ही । तुलसी ने सामाजिक संबंधों की लड़खड़ाती स्थिति की ओर संकेत किया था, [1] उससे अब स्थिति और बिगड़ गई है । अब पुनर्मूल्यांकन या तो शुद्ध शिल्प की दृष्टि से संभव है, या " मानस " के अतिरिक्त अन्य भक्ति रचनाओं के आधार पर माननीय भावों के सौन्दर्य को आँका जा सकता है । " मानस " सजीव और अन्य माननीय कृतियों पर अपेक्षा कृत अधिक छाया रहा । अत: सौन्दर्य वृत्ति का पूर्ण उद्घाटन नहीं हो पाया था । साहित्येतर अनुशासनों ने पुनर्मूल्यांकन की परिधियों का विस्तार किया है । आज साहित्य के अध्ययन में मानव-शास्त्र, समाजशास्त्र राजनीति शास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, सांस्कृतिक इतिहास आदि का उपयोग किया जा सकता है । इन अनुशासनों के प्रयोग से नवीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ।

हमारा प्रत्यय यह है कि पुरानी सभी कृतियाँ बेमानी नहीं हो जाती है । शायद कुछ कविताओं के अर्थ संदर्भ फीके पड़ भी जाते हैं, पर सभी के नहीं । बदली हुई अवधारणाओं के जमाने में भी अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने वाली रचनाओं को भी नई परिभाषाओं में देखा और समझा जाता है । शाश्वता, स्थायित्व, कालजयीपन जैसे खतरे में पड़ी हुई अवधारणाओं को बचाने की यही एक तरकीब है । सही कविता वहजो अप्रांसगिक न हो । अगर रचना सही नहीं है तो उसे बचाकर रखने का कोई तरीका नहीं है ।

---

1. सुत मानहि मातु पिता तब लौ । अबलानन दीख नहीं जब लौं ।
सुसरारि पियारि लगी जब तें । रिपु रूप कुटुम्ब भए तब तें । ( मानस, उ )

इस कालगत कसौटी के साथ एकऔर बात आती है जीवन मूल्यों की । सही कविता वह है जो जीवन मूल्यों को स्थापित करने और उन्हें बचाए रखने की कोशिश करती है । इन जीवन मूल्यों के ब्यौरे देशकाल के अनुसार, व्यक्ति रूचि एवं अन्य कारणों से अलग हो सकते है, किन्तु इनकी मूल प्रकृति सदा बनी रहती है । सभी कालजयी कृतियों में यह समाया रहता है ।

सही कविता एक ओर तो अपने जीवंत सांस्कृतिक रूप को रचनांतरित करती चलती है, दूसरी ओर अपने समकालीन परिवेश को भी इस रचनांतरण में उचित स्थान देती है । सांस्कृतिक विरासत और वर्तमान के बीच एक संबंध भी वह रचती है । अपने इसी दुहरे दायित्व का निर्वाह करके कविता जीवन संदर्भीय प्रमाणिकता अर्जित करती है । यही मानव मन के दृढ़तर संचरण की भूमिका है । इसी भूमिका में विरासत और वर्तमान संश्लिष्ट होते हैं ।

## उपसंहार

भक्ति साहित्य भारत के इतिहास का गौरव है । देशी और विदेशी विद्वानों ने इस साहित्य के मर्मोद्घाटन का बहुविद् प्रयत्न किया है किन्तु साहित्य के विश्व रंग मंच पर इसे प्रतिष्ठित करने के लिए जितना उद्योग किया जाय वह असम्पूर्ण ही माना जा सकता है । इसके अध्ययन की प्रेरणाएँ अब अन्तर्राष्ट्रीय बन रही हैं और यह प्रतीत हो रहा है कि भारतीय भक्त कवि का व्यक्तित्व जिस कोटि का जितना निस्पृह, निर्वैयक्तिक और उच्च वर्ग के प्रति जितना असावधान था उतना और कभी प्रायः नहीं हो पाया था । इसीलिए इस कवि का सर्जन लोक जीवन का पर्याय बन गया है । जीवन को एक ऐसी संश्लिष्ट दृष्टि से भक्ति साहित्य ने देखा है कि मानव जीवन का विभागीकरण एक वैज्ञानिक औपचारिकता सा लगता है । धर्म दर्शन, व्यक्ति और समाज सभी की कथा एक स्वर में समा गई है । इस साहित्य के जो मंदिर बने हैं उन मंदिरों में भक्ति साहित्य के संकलन देवमूर्ति के स्थान पर प्रतिष्ठित हैं और इस साहित्य का कीर्तन जीवन की विभिन्न स्थितियों और परंपराओं में जन-जन का उपजीव्य बन गया है अर्थात् साहित्य साधक और साध्य एक अविच्छिन्न श्रृंखला में ढल गया है । साधक भक्त और कवि एक ही हैं । एक ओर उसकी कल्पना आकाश की ऊँचाइयों से प्रतियोगिता करती है और दूसरी ओर सामाजिक विडम्बनाओं और विद्रूपताओं के प्रति प्रहारक भी बनती हैं । लगता है यह साहित्य समझौतावादी है किन्तु सतर्क होकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समझौते का धरातल विवेक है । जीवन की प्रतिरोधी शक्तियों के साथ भक्त कवि और उसकी गति कोई समझौता नहीं करती । तुलसी जैसा समन्वयवादी भी प्रहारक रूप में इनके प्रति असहिष्णु हो उठता है । समझौता इतना विवेक पूर्ण है कि समाज की कोई क्षति उससे नहीं होती और क्रान्ति चेतना इतनी प्रबुद्ध है कि अंधे रूप से ध्वंसात्मक भी नहीं बनती । ध्वंस अपने आपमें भक्त कवि का लक्ष्य नहीं है, उसका लक्ष्य समाज की पुर्नस्थापना है ।

भक्ति साहित्य ने मध्यकाल में सारे भरतखण्ड में राष्ट्रीय प्रकृति के साहित्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी । इसका अपने-अपने ढंग से विभिन्न क्षेत्र के भक्ति सर्जकों ने पल्लवन किया था इसकी पीठिका में भारत की सामाजिक संस्कृति और दर्शन की गतिशील परंपरा है ।

आधुनिक शब्द को दो संदर्भों में देखा जाता रहा है : एक निश्चित काल खण्ड से सम्बद्ध करके और एक निश्चित सामाजिक चेतना और मानसिकता से सम्बद्ध करके । आधुनिक और आधुनिकता देश काल की सीमा से अतीत हैं । यहाँ. आधुनिक कालखण्ड का अर्थ नहीं देता, बल्कि एक सार्वभौम और शाश्वत वृत्ति का बोध कराता है । इस पारिभाषिक मर्यादा के अनुसार आधुनिक वह है, जो परम्परित मृत मूल्यों विचारों, रूढ़ियों और लोक शास्त्र की अन्य निरर्थक जकड़ बंदियों को सीनातान कर अस्वीकार कर सके, जो समसामयिक यथार्थ के प्रति पूर्णत: संसक्त चेतना के सहारे वर्तमान जीवन की अन बूझ पहेली को एक तर्क संगत, वस्तु परक, भावुकता विहीन तथा बौद्धिक समाधान देने के लिए संघर्ष कर सके, जो कथनी की अपेक्षा करनी पर अधिक बल देता हो, परम्परागत आस्था/विश्वासों को आत्मानुभव की तुला पर तौल कर ही स्वीकार करता हो और यह सब करने के मार्ग में स्वभावत: आने वाली हर जोखिम को हँसते हँसते झेलने के लिए हर क्षण कमर कसे रहता हो ।

यदि " आधुनिक " अर्थ को कालखण्ड की सीमाओं में बाँध दिया जाता है तो मध्य काल के साथ इसका कोई भी मेल नहीं खाता । मध्यकाल और आधुनिक काल परस्पर विरोधी हैं । किन्तु यदि सार्वभौम मानव की ऐतिहासिक गति और उसकी जिजीविषा के साथ रखकर इसे देखा जाए तो लगता है कि आधुनिक के जो अभिलक्षण स्वीकार किए जाते हैं और जो उसके निर्धारित प्रतिमान हैं वे किसी युग के समाज में परिलक्षित किए जा सकते हैं । इस दृष्टि से आधुनिकता मनुष्य की वह बेचैनी है जो ठहराव गत्यवरोध सामाजिक विषमता, मानव मूल्यों के तिरस्कार और गतिहीनता की परिस्थिति में पैदा होती है और मानव की चेतना इनकी पुर्नप्रतिष्ठा के लिए समाज की पुनर्रचना में प्रवृत्त होता है ।

समाज और सामाजिक चेतना को अनेक प्रकार से परिभाषित किया जाता है इस दृष्टि से भक्त कवि और उसके साहित्य के भी कई स्तर हैं । एक ओर संत कवि है जो दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और समाज में वह तिरस्कृत किया जाता है । उसकी सामाजिक चेतना अधिक उदग्र है और समाज के द्वन्द्वात्मक यथार्थ के प्रति अधिक चेतन भी । जितना ही वह समाज के सत्य के प्रति तटस्थ रूप से विचार ग्रहण करता है उतनी ही उसकी रहस्यानुभूतियाँ सूक्ष्म और निराकार होती जाती हैं क्योंकि वह देख चुका है कि समाज में

जो धर्म सामंतवाद का सहायक बन गया है वह सामान्य जन का हित नहीं कर सकता इसलिए उसकी क्रान्ति में कुछ प्रखरता है । यही वह संगम है जहाँ गतिरोध के विरुद्ध प्रगति की शक्तियाँ उठ खड़ी होती हैं और उनकी विजय एक साहित्यिक सांस्कृतिक तीर्थ राज की सृष्टि करती है । वैसे भक्ति साहित्य की धाराएँ और उपधाराएँ एकाधिक है किन्तु उन सभी का मूल स्वर समान है ।

भक्ति साहित्य का विभाजन साध्य के आधार पर किया गया । एक कवि वर्ग अपनी अनुभूतियाँ सगुण साध्य को समर्पित करता है और कवियों का अन्य समुदाय निर्गुण ब्रह्म को साध्य मानकर चलता है । ऐतिहासिक दृष्टि से सगुण ब्रह्म का बीज वैदिक साहित्य में मिलता है जिसमें अन्ततः विष्णु की प्रतिष्ठा हो गई थी । निर्गुण साध्य की समाजता औपनिषदिक और योगमार्गीय साध्य के साथ हो जाती है । किन्तु निर्गुणिया संत ने इस साध्य का अनेक प्रकार से अनुकूलन और संशोधन किया है । भक्त के साध्य का तात्विक एवं सैद्धांतिक स्वरूप मानवतावादी ही है यही कारण है कि भक्त की पद्धति और साध्य की परिकल्पना आज भी हमारे राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक जीवन के साथ चल रही है । आधुनिक युग के नेताओं ने आधुनिक राष्ट्रीय दर्शन में इन्हें सम्मिलित किया और ज्ञान के पुनः प्रकाश में उसकी नई व्याख्या भी हुई ।

कवि का व्यक्तित्व अनुशासित एवं उच्चतर मानव मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध होता है । वह जन जन का प्रतिनिधित्व करता हुआ सौद्देश्य साहित्य सृजन में प्रवृत्त होता है । भक्त कवियों का साहित्य जिस सीमा तक लोक जीवन और लोक मानस को प्रभावित किया उतना संभवतः कोई और साहित्य नहीं कर पाया । सामाजिक चेतना इतिहास बोध और व्यक्ति केन्द्रित चेतना जैसे स्थिर किए गए आधुनिक प्रतिमान भक्त कवि के व्यक्तित्व में लक्षित किए गए है । कवि स्वतन्त्रता ही भक्त कवि की विशेषता रही है । भक्त कवि को जितना स्थान भारतीय परंपरा में दिया गया है उतना संभवतः संसार में कहीं नही प्रदान किया गया । यही स्थिति साहित्य की है ऋषि या कवि की साहित्य रचना समाज की कालजयी थाती के रूप में मान्य रहती है ।

संत साहित्य भक्ति आंदोलन की एक साहित्यिक परिणति है । इस आंदोलन ने मध्य कालीन जाड्य और गतिरोध को चुनौती देकर पुनर्जागरण की स्थिति पैदा कर दी थी । इस दिगंत व्यापी व्यापक आंदोलन से प्रेरित होकर ही अनेक ऐसे तत्व साहित्य में समन्वित हो गए जो आधुनिकता के निकष पर खरे उतरते हैं ।

तत्कालीन आधुनिक प्रेरणाओं के फल स्वरूप ही विभिन्न सांस्कृतिक सूत्रों का समन्वित संग्रथन लौकिक संभावनाओं से युक्त अलौकिक बिन्दु पर हुआ । विष्णु की नराकार कल्पना को उदात्त मानवीय भावों और मूल्यों से समन्वित कर दिया गया । फलतः अलौकिक को लौकिक प्रामाणिकता मिली और लोक मानस को अलौकिक तत्व से जुड़ने के लिए विस्तृत भूमिका भी मिली । अवतार का कारण भूत तत्व लोक मंगल और लोक रक्षण है । यह उद्देश्य इतनी आशा और सांत्वना लिए हुए था कि अवतार कल्पना ने समस्त भारत के जीवन साहित्य को अभिभूत कर दिया । अवतार कल्पना ने एक संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपरा को अपने में समेट कर आधुनिक अर्थों की व्यंजना की ।

भक्ति साहित्य कालजयी साहित्य है । भक्ति साहित्य के परवर्ती युगों में भक्ति कालीन काव्य मूल्य किसी न किसी रूप में बने रहे । पुरानी सभी काव्य कृतियाँ अमान्य और अर्थहीन नहीं हो जाती । कुछ काव्य कृतियों के अर्थ संदर्भ फीके अवश्य पड़ जाते हैं किन्तु सभी के नहीं । बदली हुई अवधारणाओं के समय में भी अपनी अर्थवत्ता बनाए रखने वाली रचनाओं को भी नई परिभाषाओं और प्रतिमानों में देखा और समझा जा सकता है । जनता के प्रतिनिधि कवियों ने एक प्रकार से ऐसे साहित्यिक प्रजातन्त्र की स्थापना की जिसका उद्देश्य जनहित रहा है ।

निष्पक्ष दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भक्ति साहित्य में आधुनिकता से जुड़ी सामाजिक चेतना कई स्तरों पर प्रतिफलित होती है । जब सामाजिक चेतना के विविध आयामों पर दृष्टि जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति साहित्य में आधुनिकता के सभी सूत्र किसी न किसी रूप में पुष्ट और स्पष्ट हुए हैं । मध्यकालीन सामंतवाद का एक स्वर से विरोध इस बात का प्रमाण है । सामंत के शोषण के फल स्वरूप जो गरीबी पैदा होती है उसके प्रति संत चुप नहीं है । भक्ति साहित्य का साध्य निरंकुश और अप्रतिहत राजशक्तियों का ध्वंस करता है और यह उसकी प्रमुख लीला

है दूसरी ओर अपनी दिव्य स्थिति को अन्तर्भूत किए हुए वह सामाजिक यथार्थ से जुड़ता है वह शुद्ध मानव रूप में सामूहिक चेतना में प्रवेश करता है केवल अवचेतन रूप से उसकी आध्यात्मिक आकृतियाँ स्फूर्त हो उठती हैं जो मानव के उत्कर्ष को ही सिद्ध करती हैं । इसे भक्ति साहित्य में एक आधुनिकता के प्रबल प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर सकते हैं ।

धर्म के नाम पर जो ढोंग व आडम्बर चलते हैं उनकी आलोचना किसी न किसी रूप में भक्ति साहित्य में मिल जाती है । क्योंकि मानव मूल्यों को आवृत्त करने वाले तत्व हैं जाति पाँति की रूढ़ियाँ / भक्ति के क्षेत्र में वे अमान्य हैं । वहाँ मानव की चारित्रिक शुचिता और उसकी आध्यात्मिक एकता ही गूँजती हुई मिलती है ।

अंत में यह कहा जा सकता है कि भक्ति साहित्य के आचार्य और कवि ने समाज के आधुनिकीकरण का अभियान भक्ति आंदोलन के रूप में चलाया । इस आंदोलन की अनुकृतियाँ हमें रामकृष्ण परमहंस विवेकानंद अरविंद गांधी, विनोबा जैसे संतों की सामाजिक चर्या में प्रतिबिंबित दिखलाई पड़ती है । आधुनिक साहित्य बहुत दूरी तक अपनी आधुनिक दृष्टि को भक्ति साहित्य की भूमिका में रखता रहा । यह इस बात का प्रमाण है कि भक्ति साहित्य आधुनिक दृष्टि से सार्थक और समर्थ है ।

# ग्रंथानुक्रमणिका

## ग्रंथानुक्रमणिका


| पुस्तक सूची | लेखक |
|---|---|
| 1• आधुनिक हिन्दी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव | डा•सुरेश चन्द्र पाण्डेय, अनुभव प्रकाशन, श्रीनगर 1983, प्रथम संस्करण |
| 2• आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय | धनंजय वर्मा, विद्या प्रकाशन मंदिर नई दिल्ली-2, 1984 प्रथम संस्करण |
| 3• आधुनिकता के पहलू | विपिन कुमार अग्रवाल , लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1, 1972 प्रथम संस्करण |
| 4• आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में | गंगा प्रसाद विमल दि•मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लि• 1978, प्रथम संस्करण |
| 5• आधुनिकता एक पहचान | डा•चन्द्रभान रावत एवं डा•रामकुमार खण्डेलवाल, देव नागर प्रकाशन, जयपुर, 1984, प्रथम संस्करण |
| 6• आधुनिकता और राष्ट्रीयता | राजकमल बोरा, नमिता प्रकाशन 6, आनंद नगर टाउन, हाल औरंगाबाद (महाराष्ट्र) प्रथम संस्करण 1973 |
| 7• आधुनिक बोध | रामधारी सिंह दिनकर, प्रकाशन पंजाबी पुस्तक भंडार उरीबा कला - दिल्ली - 110 006• प्रथम संस्करण 1973 |
| 8• आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण | रमेश कुंतल मेघ अमर प्रकाशन, प्रा•लिमिटेड दिल्ली, प्रथम संस्करण 1966• |

9. आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में — गंगा प्रसाद विमल, मैकमिलन कंपनी इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली-बंबई कलकत्ता, मद्रास समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियाँ

10. आधुनिकता और सर्जनशीलता — रघुवंश, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास सहयोगी कंपनियाँ : प्रथम संस्करण 1980

11. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य — इन्द्रनाथ मदान, प्रकाशन : हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

12. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ — नरेन्द्र मोहन, आदर्श साहित्य प्रकाशन वेस्ट सीलम पुर दिल्ली

13. आधुनिक युग के वातायन से — अशोक कुमार गुप्त, प्रकाशन : पुस्तक प्रचार 7/3/2ए/ए.प्रेमगली गाँधी नगर दिल्ली 110 031 प्रथम संस्करण

14. आधुनिक कबीर — डा.राजदेव सिंह, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद - 1.

15. उदात्त भावना : एक विश्लेषण — प्रेम सागर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी (जयपुर) 1973 प्रथम संस्करण

16. उत्तरी भारत की संत परंपरा — पं.परशुराम चतुर्वेदी भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् 2008 प्रथम संस्करण

17. कबीर — डा.हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1976, वर्ष तीसरा संस्करण

18. कबीर पंथ पर पंथेतर प्रभाव — डा.वेद प्रकाश गिलडा "शैवाल" अनुबुक्स, मेरठ, शिवाजी रोड, वर्ष 1985 प्रथम संस्करण

| | | |
|---|---|---|
| 19. | कबीर और जायसी एक मूल्यांकन, कबीर और जायसी पर निबंध | सम्पादक : डा. रामगोपाल शर्मा "दिनेश" एवं प्रताप चन्द जैसवाल समीक्षा लोक कार्यालय. आगरा 1974 |
| 20. | कबीर ग्रंथावली | सं. डा. पारस नाथ तिवारी हिन्दी परिषद प्रयाग विश्व-विद्यालय, प्रयाग 1961, प्रथम संस्करण |
| 21. | कबीर ग्रंथावली | सं. डा. माता प्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण लोक भारती प्रकाशन 1966 |
| 22. | कबीर की विचार धारा | गोविन्द त्रिगुणायत साहित्य निकेतन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर, 1981 |
| 23. | गांधी विचार धारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव | संस्करण पंचम 1981, अरविन्द जोशी |
| 24. | तुलसी दास का राजनीतिक चिंतन | डा. शीलावती गुप्ता, साहित्य प्रकाशन मालीवाडा, दिल्ली, 110006, |
| 25. | तुलसी साहित्य बदलते प्रतिमान | डा. चन्द्रभान रावत, प्रकाशक मथुरा 1971 वर्ष |
| 26. | तुलसी एक मूल्यांकन | मोतीलाल द्वारी, साहित्य वाणी, 28 पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद 211006. |
| 27. | तुलसी दास के काव्य में नैतिक मूल्य | डा. चरनदास शर्मा, प्रकाशक दिल्ली 1971. |
| 28. | दादू दयाल जीवन दर्शन और काव्य | डा. सत्य नारायण उपाध्याय, प्रकाशक कलकत्ता, 1969. |

29• दादू दयाल की बानी (द्विवेदी भाग) — परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 1941, दूसरा संस्करण

30• दिनकर के काव्य में परंपरा और आधुनिकता — डा•जयसिंह नीरद, अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, 1984 प्रथम संस्करण

31• धर्म तुलनात्मक दृष्टि में — डॉ•राधाकृष्णन, वर्ष 1973 पाँचवा संस्करण

32• नाथ साहित्य — डा•हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश वर्ष 1950

33• परंपरा बंधन नहीं — विद्या निवास मिश्र, राजपाल एण्ड सन्स काश्मीरी गेट दिल्ल, वर्ष 1976•प्र•सं•

34• पौराणिक काव्य : आधुनिक संदर्भ — डा•गो•रा• कुलकर्णी, विद्या विहार, आचार्यनगर, कानपुर ।

35• भक्ति चिंतन की भूमिका — प्रेम शंकर, साहित्य भवन, प्रा;लिमिटेड• इलाहाबाद-3, 1977, प्रथम संस्करण

36• भक्ति आंदोलन और साहित्य — डा•एम•जार्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978, प्रथम संस्करण

37• भक्ति और दर्शन — डा•वेद प्रकाश शास्त्री, गीता प्रकाशन, हैदराबाद, वर्ष 1974, द्वितीय संस्करण

38• भक्ति साहित्य इतिहास एवं परंपरा — सम्पादक : प्रताप चन्द्र जैसवाल, समीक्षालोक माला प्रकाशन, आगरा-3•

39• भक्ति आंदोलन और साहित्य — एम•जार्ज, प्रगति प्रकाशन, आगरा-3, 1978, संस्करण प्रथम

| | |
|---|---|
| 40• भक्ति काव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना | प्रेम शंकर, दि•मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लि, 1979, प्रथम संस्करण |
| 41• भक्ति काव्य और लोक जीवन | शिव कुमार मिश्र, पीपुल्स लिटरेसी दिल्ली 110006• वर्ष 1983, प्र•संस्करण |
| 42• भक्ति सिद्धांत | आशा गुप्त, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, वर्ष 1984, संस्करण प्रथम |
| 43• भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास | डा•सत्यकेतु विद्यालंकार, संस्करण द्वितीय खण्ड 2• |
| 44• भारतीय चिंतन परंपरा | के•दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, वर्ष 1982, तीसरा संस्करण |
| 45• मध्य युगीन प्रेमाख्यान | श्याम मनोहर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, वर्ष 1982 द्वितीय संस्करण |
| 46• मध्यकालीन संत साहित्य | डा•रामखिलावन पाण्डेय, हिन्दी प्रचार पुस्तकालय, वाराणसी वर्ष 1956• |
| 47• मध्य कालीन धर्म साधना | डा•हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक इलाहाबाद, वर्ष 1970• |
| 48• मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद | डा•कपिलदेव पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, वर्ष वि•स• 2020 ( 1963 ) प्रथम संस्करण |
| 49• मध्यकालीन कवियों का काव्य सिद्धांत | डा•सुरेश चन्द्र गुप्त, आर्य बुक डिपो, दिल्ली-5, वर्ष 1971, प्रथम संस्करण |
| 50• मध्यकालीन हिन्दी संत विचार और साधना | डा•केशनी प्रसाद चौरसिया, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, वर्ष 1965 प्रथम संस्करण |

51• मध्य युगीन हिन्दी — लेखक : आशा गुप्त, अन्वेषक : डा• गियर्सन प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, लखनऊ दिल्ली वर्ष 1984•

52• मध्यकालीन बोध के आधुनिक संदर्भ — डा•बलराज शर्मा, सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली 110007, वर्ष 1984• प्र•संस्•

53• मध्य युगीन हिन्दी महाकाव्यों में नायक — कृष्णदत्त पालीवाल, साहित्य प्रकाशन नई सड़क, मालीवाड़ा, दिल्ली

54• मध्य युगीन निर्गुण चेतना — डा•धर्मपाल मैनी, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, वर्ष 1972•

55• मानववाद और साहित्य — नवल किशोर प्रकाशक, अरविंद कुमार राधाकृष्ण, प्रकाशन, दिल्ली-7, वर्ष 1972•

56• मीरा की प्रेम साधना — डा•भुवनेश्वर नाथ मिश्र " माधव " राजकमल प्रकाशन दिल्ली-6, चतुर्थ संस्करण

57• मुगलकालीन सगुण भक्ति काव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण — डा•रत्न चन्द्र शर्मा, प्रकाशक, जयपुर पुस्तक सदन चौड़ा रास्ता वर्ष 1979 प्रथम संस्करण

58• लोकायत — देवीदास चट्टोपाध्याय मैक मिलन इण्डया लिमिटेड वर्ष 1982 प्रथम संस्करण

59• शंकर अद्वैत वेदांत का निर्गुण काव्य पर प्रभाव — डा•शान्ति स्वरूप त्रिपाठी, प्रकाशक रणजीतप्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स नई दिल्ली वर्ष 1968

60• संत साहित्य का दार्शनिक अध्याय — रेणुका सिंह, काशी विश्वविद्यालय की पी एच•डी•उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध

61• संत साहित्य और साधना — भुवनेश्वर नाथ मिश्र " माधव " नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1969•

62• संस्कृति का दार्शनिक विवेचन — लेखक डा•देवराज, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ•प्र•शासन लखनऊ, वर्ष 1972, द्वितीय संस्करण हिन्दी समिति ग्रंथ माला ।

63• समकालीन लेखन और वैचारिकी — लखक डा•चन्द्रभान रावत, डा•रामकुमार खण्डेलवाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1982, प्रथम संस्करण

64• साहित्य चिंतन के नए आयाम — लेखक डा•हरिश्चन्द्र वर्मा, संजय प्रकाशन दिल्ली, वर्ष 1983, प्रथम संस्करण

65• सिद्ध साहित्य — डा•धर्मवीर भारती, किताब महल इलाहाबाद, वर्ष 1968,

66• सूर काव्य : नया परिदृश्य — ए•आई•एस, प्रकाशन 1977•

67• सूफी मत और हिन्दी साहित्य — डा•विमल कुमार जैन, दिल्ली वर्ष 1955

68• समकालीन साहित्य समीक्षा — डा•चन्द्रभान राव एवं डा•रामकुमार खण्डेलवाल, हिन्दी साहित्य भण्डार लखनऊ वर्ष 1979, प्रथम संस्करण

69. हिन्दी साहित्य का मध्यकाल — डा॰नित्यानंद शर्मा + डा॰विष्णु दत्त " राकेश " , भारत प्रकाशन मंदिर अलीगढ़ ।

70. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिंबित चिंतन प्रवाह — डा॰सुधाकर गोकाककर + डा॰गो॰रा॰ कुलकर्णी फड़के बुक सेलर्स, कोल्हापुर-2, वर्ष 1976, प्रथम संस्करण

71. हिन्दी सन्त काव्य संग्रह — संपादक गणेश प्रसाद द्विवेदी हिन्दुस्तानी एकाडमी, उ॰प्र॰इलाहाबाद वर्ष 1974, प्र॰द्वि;तृ, 1939,52,74, संशोधक परिवर्धक-पण्डित परशुराम चतुर्वेदी

72. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिंतन प्रवाह — एम॰ब्ही,फड़के एण्ड कंपनी महाद्वार पथ कोल्हापुर 416002, वर्ष 1973 प्र॰संस्करण

73. हिन्दी काव्य में भक्ति का स्वरूप — डा॰नित्यानंद शर्मा, आशा प्रकाशन गृह, करौल बाग दिल्ली 110005, वर्ष 1975 प्रथम संस्करण

74. हिन्दी साहित्य का मध्यकाल — डा॰नरेन्द्र कुमार शर्मा, ग्रंथायन सर्वोदय-नगर सासनी रोट, अलीगढ़ 202001॰

75. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास — डा॰राजबली पाण्डे, प्रथम संस्करण, प्र॰भाग

76. तुलसी दास नए साक्षात्कार — जयप्रकाश, ऋषि प्रकाशन, कानपुर, वर्ष 1977, प्रथम संस्करण

77. मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति काव्य का विवेचन — डा॰गिरधर प्रसाद शर्मा, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, वर्ष 1985, प्रथम संस्करण

## पत्र - पत्रिकाएँ


| | | |
|---|---|---|
| 1. | हिन्दी अनुशील | डा. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी अनुशीलन, विशेषांक, 1960, 13 अंक 3 वर्ष 11 अंक, 1 ; 4 वर्ष अंक |
| 2. | दे. ज्ञानोदय<br>रूस में चौथी पीढ़ी के कगार पर | नेमिशरण मित्तल वर्ष 1968, मार्च |
| 3. | आलोचना, विशेषांक 34, वाँ अंक जुलाई 65. | आधुनिकता का प्रश्न साहित्य के संदर्भ में |
| 4. | ज्ञानोदय, फरवरी 68, सं. नेमीचन्द्र जैन | भारतीय परंपरा और आधुनिकता हरिशंकर |
| 5. | आलोचना, विशेषांक - 34 वाँ अंक जुलाई 65 | आधुनिकता का प्रश्न साहित्य के संदर्भ में |
| 6. | ज्ञानोदय, फरवरी, 68<br>भारतीय परंपरा और आधुनिकता हरिशंकर | भारतीय परंपरा और आधुनिकता - हरिशंकर |
| 7. | हिन्दुस्तानी त्रैमासिक शोध पत्रिका | प्रधान संपादक, डा. रामकुमार वर्मा, सहायक सं. डा. रामजी पाण्डेय, भाग4. अंक 3. जुलाई सितंबर सन् 1979; हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद । |
| 8. | हिन्दी अनुशीलन | डा. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी अनुशीलन विशेषांक 1960, 13 अंक 3 वर्ष 11 अंक 1 : 4 वर्ष अंक |

## ENGLISH BOOKS


1. Eliot and D awson, History of India
   and told by its own Historians:
   London, 1887, Volume 8

2. Valankar journal Unit of Bombay,
   Nov. 1936, Angels cudusing Fire
   Bakh. Chapter 4.

3. Role and status of Women in India.
   By Firma Klm Pvt. Ltd.
   Calcutta Edn. 1978.

4. Obscure Religious cults as Back ground
   of Bengali Literature.
   By: Shashi Bhushan Das Gupta
   Calcutta University Press Yr. 1946.

5. Indian Philosophy.
   By: Radha Krishnan
   Yr. 1951 : Edn. Indian Volume I & II.

6. The Osnscale : A comparative Socio Psychological
   measures of individual Modernity Socio Metry : 29
   By: Smith David and Alex Inkles. 1966.

7. The Devils Gateway"
   Encyclopedia of Sciences Vol. 15.

8. The History and Culture of the Indian People.
   IInd Bombay 1953.
   By: D.C. Sarkar, R.C. Majundar.

9. Theism in Medieval India
   By: J.E. Karpenter.
   London, 1926.

10. Bulletin of the Institute of Post Graduate Studies
    - 1966.

11. Studies in Indian History
(Calcutta Library) 1930
By: Surendranath Sen.

12. Sacred Books of Budhism Part II
Rizz David.

13. Vedic Puranic Vincilum, Puranam,
(Vol. XXIV, No.1 year 1982
By: S.K. Lal.

14. Modernization and Social change in India.
By: Dhirendra K. Vajpey
Published by: Manahar Publications, New Delhi 1979.

15. Smith David and Alex Inkles, 1966,
The omscaler: A comparative socio - psychological
measures of individual modernity socio, Metry, 29,353-77

16. Encyclopedia of Social Sciences, Vol.15, Page 15. 442.

17. Role and status of Women in India
By: Firma Klm Pvt.Ltd. Calcutta Edn. 1978.

18. Tradition, Conflict, and Modernization
Edited by:
Richard Maxwell Brown University of Oregon,
Eugene, Oregon.
DONE, FEHRENBACHER.
STANFORD - University
CALIFORNIA.
ACADEMIC PRESS NEW YORK SAN FRANSCISCO LONDON